ज्ञान और कर्म।

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकरका ४४ वाँ ग्रन्थ ।

ज्ञान और कर्म ।

कलकत्ता-हाईकोर्टके जज
स्वर्गीय सर गुरुदास बनर्जी नाईट, एम० ए०,
पी० एच०डी०, डी०एल०, के० सी०आई०ई० के
सुप्रसिद्ध बंगलाग्रन्थका अनुवाद ।

अनुवादक—
पण्डित रूपनारायण पाण्डेय ।

प्रकाशक—
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई ।

माघ, १९७७ वि० ।
फरवरी, १९२१ ।

प्रथमावृत्ति ।]   [मूल्य तीन रुपया ।
जिल्दसहितका ३॥) रु० ।

प्रकाशक—
नाथूराम प्रेमी,
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग—बम्बई ।

मुद्रक,
एम्. एन्. कुलकर्णी,
कर्नाटक प्रेस,
४३४ ठाकुरद्वार, बम्बई ।

प्रस्तावना ।

ग्रन्थ-परिचय ।

आज हम अपने पाठकोंके समक्ष एक अपूर्व और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उपस्थित कर रहे हैं । हमारी समझमें हिन्दीमें अभीतक इस ढँगका और इतनी उच्चश्रेणीका और कोई भी ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ है । हमारे जिन पाठकोंका यह खयाल है कि अनुवादित ग्रन्थोंसे हिन्दीका गौरव बढ़ता नहीं है, वे भी इस ग्रन्थको पढ़कर यह कहे बिना न रहेंगे कि हिन्दी-भाषा-भाषियोंके लिए गंभीर ज्ञानलाभका यह एक बहुत उत्तम साधन तैयार हो गया है ।

इस समय भारतमें पूर्वीय और पाश्चात्य विचारोंका अभूतपूर्व संघर्ष हो रहा है । देशके शिक्षितोंका एक दल जहाँ पूर्वीय विचारोंका अनन्य भक्त है वहाँ दूसरा दल केवल पाश्चात्य विचारोंके प्रवाहमें आँख बन्द करके बहा जा रहा है । पहला दल दूसरेको और दूसरा पहलेको विचारशून्य कहकर अपने आपको सत्पथगामी समझता है; परन्तु आश्चर्य यह है कि न पहला दूसरेके विचारोंको अच्छी तरह समझता है और न दूसरा पहलेके विचारोंको । समझनेके साधन भी बहुत ही कम हैं । देशमें अभीतक ऐसे विद्वान् हुए भी अँगुलियोंपर गिनने लायक ही हैं जिन्होंने दोनों प्रकारके विचारोंका पारगामी ज्ञान प्राप्त किया है

और उनमें भी ऐसे तो दो चार ही हैं जिन्होंने इस प्रकारका ज्ञान प्राप्त करके उसे जनताके सामने उपस्थित करनेका प्रयत्न किया है। इस ग्रन्थके लेखक स्वर्गीय न्यायधीश सर गुरुदास वन्द्योपाध्याय ऐसे ही विद्वानोंमेंसे एक थे। उनके इस ग्रन्थकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसमें पाठकोंको पूर्वीय और पश्चिमीय विचारोंके दीर्घकालीन अध्ययनके परिपक्व फलका आस्वाद मिलेगा।

मनुष्यके अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी भी बातें हैं, उसके आत्मिक, मानसिक और शारीरिक सुखोंको बढ़ानेवाले जितने भी साधन हैं और परिवार, जाति, सम्प्रदाय, देश, राज्य, आदिके प्रति उसके जितने भी कर्तव्य हैं, इस ग्रन्थमें उन सभी पर प्रकाश डाला गया है। गहरेसे गहरे दार्शनिक और तात्विक विचारोंसे लेकर साधारणसे साधारण सगाई-विवाह, खान-पान और वेष-भूषा सम्बन्धी बातोंकी भी इसमें चर्चा की गई है। सच तो यह है कि ऐसा कोई भी विषय नहीं है जिस पर इसमें कहीं न कहीं, मुख्य या गौणरूपमें, विचार न किया गया हो। अतएव इस ग्रन्थके सम्बन्धमें निःसंकोच होकर यह बात कही जा सकती है कि—" यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।"

ग्रन्थकी रचनाप्रणाली बड़ी ही प्रौढ़ और शृंखलाबद्ध है। ग्रन्थकर्त्ताने इस विषयमें प्राचीन भारतीय ग्रन्थकर्त्ताओंकी उस दार्शनिक शैलीका अनुसरण किया है जिसमें सब विषय यथास्थान और यथाक्रम आते जाते हैं और किसी सिद्धान्तसे सम्बन्ध रखनेवाला कोई विषय छूटने नहीं पाता।

ग्रन्थकर्त्ता यद्यपि अनेक अंशोंमें भारतीय विचारोंके भक्त हैं; फिर भी उन्होंने कहीं भी अपनी न्यायशीलता और तटस्थताको स्खलित नहीं होने दिया है। न उन्होंने पाश्चात्य विचारोंकी कहीं अवहेलना की है और न पूर्वीय विचारोंके प्रति अनुचित पक्षपात किया है। जहाँ उन्होंने बहुतसे पाश्चात्य विचारोंको विवेकपूर्वक ग्रहणीय समझा है, वहाँ बहुतसे अविचारितरम्य पूर्वीय विचारोंको त्याज्य बतलानेमें भी भय नहीं खाया है।

यह बहुत संभव है कि विविध रुचियों और विचारोंके पाठक इस ग्रन्थके सभी विचारोंसे सहमत न हों—संसारमें आज तक इस प्रकारका कोई ग्रन्थ बना भी नहीं है जिसके सभी सिद्धान्त लोगोंने पसन्द किये हों—परन्तु यह

बात निःसंकोच होकर कही जा सकती है कि लेखकने जो कुछ भी लिखा है अपनी सदसद्विवेक बुद्धिको निरन्तर जागृत रखकर और किसी प्रकारके पक्षपातको आश्रय दिये बिना लिखा है। अपने प्रतिपक्षी विचारोंके प्रति भी लेखकके हृदयकी सहानुभूति सर्वत्र दिखलाई देती है—उन पर किसी प्रकारका क्षोभयुक्त आक्रमण कहीं भी नहीं किया गया है। इस विषयमें लेखकने अपनी वीतरागताको बहुत ही सावधानीसे सुरक्षित रक्खा है। हमारी समझमें लेखकके इस गुणके कारण यह ग्रन्थ प्राचीन और नवीन, पौर्वात्य और पाश्चात्य, सभी विचारोंके अनुयायी पाठकोंमें श्रद्धापूर्वक पढ़ा जायगा और उनके ज्ञानको बढ़ानेमें बहुत बड़ी सहायता पहुँचावेगा।

बंगलाभाषाके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थोंमें इसकी गणना है। वि० सं० १९६६ में यह पहले पहल प्रकाशित हुआ था। सुना है, उसके बाद इसकी और भी कई आवृत्तियाँ निकल चुकी हैं। यद्यपि इस प्रकारके ग्रन्थोंके पढ़नेवाले पाठक सभी भाषाओंमें कम मिलते हैं; फिर भी हमें आशा है कि हिन्दीमें इस ग्रन्थका कम आदर न होगा और राष्ट्रीय भाषा बननेका दावा करनेवाली हिन्दी इसके एक ही संस्करणसे सन्तुष्ट न हो जायगी।

लगभग दो वर्ष पहले झालरापाटनके सुप्रसिद्ध हिन्दी कवि और लेखक पं० गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' ने हमें इस ग्रन्थके अनुवाद करानेकी प्रेरणा की थी और उसीका यह फल है कि आज हम इसे हिन्दीमें प्रकाशित कर रहे हैं। इसके लिए हम शर्माजीके प्रति कृतज्ञता प्रकाशित किये बिना नहीं रह सकते।

ग्रन्थकर्ताका परिचय।

इस ग्रन्थके लेखक स्वर्गीय सर गुरुदास वन्द्योपाध्याय बंगालके उन नररत्नोंमेंसे एक थे जिनके कारण केवल बंगालका ही नहीं, सारे भारतका मस्तक ऊँचा हुआ है। बंगालके प्रायः सभी शिक्षित और अशिक्षित उन्हें श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते थे। इस विषयमें बंगालके महान् पुरुषोंमें वे बहुत ही सौभाग्यशाली थे। यद्यपि उनका ज्ञान भी महान् था—उनकी जोड़के विद्वान् बहुत ही कम हुए हैं—तथापि उनकी महत्ता और पूजनीयता विशेषतः उनकी सच्चरित्रताके कारण थी। वे अपना समस्त आचरण अपनी अन्तरात्माके अनु-

कूल रखते थे । 'मनःपूतं समाचरेत्' सूत्र उनके जीवनका 'मोटो' था। देशमें ऐसे शिक्षित बहुत ही विरल हैं जिनका जीवन उनके समान सच्चारित्र्यके साँचेमें ढाला गया हो। वकालत जैसी जीविकाको करते हुए भी उन्होंने धन या मानके लिए कभी अपनी आत्माको नहीं बेचा। उनका जीवन निष्कलंक और पवित्र था। वे अतिशय निरहंकार, दयालु, सरल, द्वेषहीन और बालसरलतासे युक्त विद्वान् थे। उनका बर्ताव भी बहुत ही कोमल था। यही कारण है जो उनका कोई शत्रु नहीं था।

अँगरेजीकी सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त करके भी उन्होंने कभी हिन्दू आचार नहीं छोड़े। वे बहुत ही सादगीसे रहते थे और उनके भीतरी और बाहरी जीवनमें सदा आर्यजीवनकी झलक दिखलाई देती थी। 'गीता' उनका बहुत ही श्रद्धेय ग्रन्थ था। कहते हैं कि 'गीता' को वे सदैव अपने पाकेटमें रखते थे। उनका जन्म कलकत्तेके समीप नारिकेल-डांगा नामक स्थानमें, सन् १८४४ की २६ जनवरीको, एक साधारण ब्राह्मण कुलमें हुआ था। उनके पिता बहुत ही निर्धन पण्डित थे। माता-पिताके पास ब्राह्मणकी सच्ची सम्पत्ति पवित्रता और सदाचारके सिवाय और कुछ न था। पिता उन्हें अपनी गोदमें बिठा कर गीताके श्लोक सुनाया करते थे और इस तरह उनके आगामी जीवनका एक साँचा तैयार करते थे। परंतु गुरुदास बाबूको पिताकी यह शिक्षा बहुत समय तक नहीं मिली। उनका स्वर्गवास हो गया। उनके मरने पर इस दरिद्र परिवारका सारा भार इनकी विधवा माता पर पड़ा। वे बहुत ही कोमला और सच्चरित्रा थीं। अपने पुत्रको चरित्रवान् बनानेकी ओर उनका निरन्तर ध्यान रहता था। उनका प्रयत्न आशासे अधिक सफल भी हुआ। संसारमें बहुत कम मातायें ऐसी भाग्यवती होंगी जिनको गुरुदास जैसा आज्ञाकारी पुत्र प्राप्त हुआ हो। गुरुदास बाबू अपनी माताकी आज्ञाको वेदवाक्योंके समान पवित्र और माननीय समझते थे। उन्होंने जीवनभर माताकी आज्ञाओंको बिना कुछ 'ननु' 'न च' किये माना। इस विषयमें उनकी अनेक कथायें प्रसिद्ध हैं। वे अपनी माताको कितना मानते थे, इसका निदर्शन एक इसी बातसे मिल जायगा कि माताकी मृत्यु होने पर वे महीनों तक उनके शोकमें व्याकुल रहे। एक बार उन्होंने कलकत्तेकी एक सभामें कहा था कि—"कौन ऐसा लड़का है जो कि बिना विरोध किये पुस्तकोंके कथनानुसार चलता है?......मैंने अपनी

माताकी समस्त आज्ञाओंका, जरा भी इतस्ततः किये बिना, निरन्तर पालन किया है। ''

गुरुदास बाबूकी शिक्षाका प्रारंभ एक प्राचीन ढंगकी संस्कृत पाठशालामें हुआ था। जिस समय स्व० गोखलेके अनिवार्य शिक्षासम्बन्धी बिलकी चर्चा हो रही थी उस समय उन्होंने अपने एक व्याख्यानमें कहा था कि " मैं एक ब्राह्मण-कुलमें उत्पन्न हुआ हूँ। मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि अबसे लगभग ५० वर्ष पहले जब मैं एक ग्रामीण पाठशालामें पढ़ता था तब एक तेलीके लड़केके पास बैठा करता था। वह मुझसे बहुत अधिक योग्य था, इस कारण मैं उससे अपने पाठमें सहायता लिया करता था। पर मुझे इस बातका जरा भी पशोपेश न होता था कि मैं ब्राह्मण हो कर एक तेलीसे क्यों पाठ ले रहा हूँ। यदि यह बात अबसे ५० वर्ष पहले सहन की जा सकती थी कि ब्राह्मण और शूद्र एक साथ पढ़ें, तो फिर इस समय इसमें क्या आपत्ति हो सकती है ? यद्यपि मि० गोखलेका यह बिल इस समय हमें बिलकुल नया और मौलिक प्रतीत होता है; परन्तु वास्तवमें यह एक पुराने तरीकेकी पुनरावृत्ति मात्र है जो कि ५० वर्ष पहलेके स्वाश्रयी भारतमें विद्यमान था। "

स्कूल और कालेजकी शिक्षा समाप्त करके गुरुदास बाबूने सन् १८६५ में गणितमें एम० ए० पास किया। विश्वविद्यालयकी सभी परीक्षाओंमें उनका नम्बर सर्वोच्च रहा। एम० ए० पास करनेके बाद वे कलकत्तेके प्रेसीडेंसी कालेजमें गणितके व्याख्याता नियुक्त हुए। अगले वर्ष उन्होंने कानूनकी बी० एल० परीक्षा दी और उसमें भी वे सर्वोत्कृष्ट रहे। इसके थोड़े ही दिन बाद वे बहरमपुर कालेजमें कानूनके व्याख्याता बनाये गये और उसी जिलेमें वकालत भी करते रहे। सन् १८७२ में वे कलकत्ता हाईकोर्टमें लौट आये और १८७६ में उन्होंने कानूनका ' आनर्स एग्जामिनेशन ' पास किया। इसके बाद उन्हें ' डाक्टर आफ ला'की पदवी मिली। सन् १८७८ में वे ' टैगोर-ला-लेक्चरर ' नियत हुए। इसके लिए उन्होंने 'स्त्री-धन' और 'विवाहविषयक हिन्दू ला' ये दो विषय चुने। इस समय भी उनके इन विषयोंके लेक्चर बहुत ही प्रामाणिक गिने जाते हैं। कानूनी बातोंमें ऐसी दक्षताके कारण उनकी ख्याति बहुत हुई; परन्तु उन्होंने कानूनी पेशेके आगे कभी अपने घुटने नहीं टेके। इस बातका उन्हें सदैव खयाल रहा कि संसारमें रुपया पैसा और मान प्रतिष्ठासे भी बढ़कर कोई

चीज है । अन्तमें जस्टिस कनिंगहमके अवसर ग्रहण करने पर गुरुदासबाबू कलकत्ता हाईकोर्टके जज हो गये । इस पद पर रहकर उन्होंने बड़ी सचाई और न्यायप्रियतासे काम किया । उनके नीचेके अधिकारी उन्हें एक आदर्श न्यायाधीश समझते थे । अपने कर्तव्यपालनके लिए अपने घनिष्ठसे घनिष्ठ मित्रों और स्नेहियोंके विरुद्ध बोलने और लिखनेमें वे जरा भी नहीं हिचकते थे ।

पेन्शन ले लेने पर उन्हें 'नाइट हुड' का पद मिला । जिस समय गुरुदास बाबूने पेन्शन ली, उस समय उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था और तब यह नियम भी नहीं था कि ६० वर्षकी अवस्थामें हाईकोर्टके जजोंको पेन्शन ले ही लेनी चाहिए । फिर भी उन्होंने जजी छोड़ दी । एक तो उनका खयाल था कि मुझे अपने बादके योग्य वकीलोंके जजी-लाभके मार्गमें कण्टक बनकर न रहना चाहिए, दूसरे अवकाश मिलने पर वे अपने देशके युवकोंमें शिक्षाका विस्तार और उसकी उन्नतिके लिए अधिक परिश्रम करना चाहते थे और तीसरे उन्हें यह आशङ्का भी थी कि शायद मैं बुढ़ापेके कारण इस न्यायकार्यको पूर्वके समान कर्तव्यपरायणताके साथ नहीं कर सकूँगा ।

सर गुरुदासका जीवन केवल ज्ञान और सदाचरणके कारण ही महान् नहीं था; सार्वजनिक सेवाओंके उच्च आदर्शके कारण भी वे महान् थे । जजीसे अवकाश ग्रहण करनेके बाद कलकत्तेमें ऐसी कोई भी महत्त्वपूर्ण सभा नहीं हुई, जिसमें उनकी उपस्थितिको विशेष सम्मान और महत्त्व नहीं दिया गया हो । सभा-समतियोंके निमंत्रणमें वे छोटे बड़ेका विचार नहीं करते थे । छोटे छोटे लड़कोंकी सभाओंमें भी वे प्रसन्नतासे जाते थे ।

गुरुदास बाबू जीवनभर शिक्षासम्बन्धी कार्योंमें ही व्यस्त रहे । उनके अध्ययनका यह प्रधान विषय था । इस देशमें उनके समान शिक्षाविज्ञानका पारंगत पण्डित और कोई न था । उन्होंने अँगरेजीमें 'थाट्स ऑन एज्युकेशन' (शिक्षा पर विचार) नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी है । उसकी प्रायः सभी मुख्य मुख्य बातें इस ग्रन्थके भीतर आगई हैं । सन् १८७९ में वे कलकत्ता यूनीवर्सिटीके फैलो नियत हुए और दो बार वाइस चान्सलर । कलकत्ता यूनीवार्सिटीका बहुत कुछ सुधार उन्हींकी दृढता और कार्यपरताके कारण हुआ है ।

लार्ड कर्जनके समयमें जो शिक्षा-कमीशन बैठा था, गुरुदास बाबू उसके एक प्रधान सभ्य थे । इस कमीशनमें उन्होंने सिरतोड़ परिश्रम किया था और

नाना स्थानोंमें गवाहियाँ लेनेके लिए भ्रमण किया था। इस कमीशनके सभापतिसे गुरुदास बाबूकी राय नहीं मिली थी और इस कारण उन्होंने एक बड़ा ही जोरदार विरोधपत्र उसकी रिपोर्टके साथ प्रकाशित कराया था। इस विरोधपत्रमें उन्होंने उच्चशिक्षाके क्षेत्रको संकीर्णतर न होने देनेकी चेष्टा बहुत कुछ की थी। यद्यपि लार्ड कर्जनने उसे पसन्द न किया; फिर भी उससे देशका बहुत कुछ उपकार हुआ।

गुरुदास बाबूके जीवनका अधिक महत्त्वपूर्ण भाग राष्ट्रीय शिक्षाके विचारोंमें ही व्यतीत हुआ। सन् १९०६ में कलकत्तेमें जो 'नेशनल कौंसिल आफ एज्युकेशन' स्थापित हुई थी, उसके वे प्राण थे। इसके प्रारंभिक अधिवेशनके समय उन्होंने जो व्याख्यान दिया था उसमें शिक्षाके नवीन आन्दोलनकी आवश्यकताको बतलाते हुए शिक्षाक्रमपर बहुत ही सारगर्भ विवेचन किया था। उनका विचार था कि वैदेशिक भाषाज्ञानकी आवश्यकता तो है; परन्तु वह शिक्षाके आरंभिक भागमें नहीं—अन्तिम भागमें है।

यद्यपि गुरुदास बाबू कभी कांग्रेस-मञ्च पर नहीं आये, तथापि उनका हृदय सदा ही राष्ट्रीय आन्दोलनके साथ रहा। कुछ समय तक वे बंगालकी व्यवस्थापक सभाके भी मेम्बर थे। स्वर्गीय बंकिम बाबूके बाद वे 'कलकत्ता यूनिवार्सिटी इन्स्टिटयूट'के साहित्यक विभागके भी प्रेसीडेण्ट रहे थे।

गुरुदास बाबूको अपनी मातृभाषासे बहुत प्रेम था। अँगरेजीमें वे किसी बंगालीसे कभी वार्तालाप न करते थे। उनके मातृभाषाप्रेमका ही यह फल है जो इस अद्वितीय ग्रन्थकी रचना उन्होंने बंगलामें की है। वे बंगलाभाषामें पद्यरचना भी करते थे। उनके बनाये हुए कई अच्छे अच्छे गान हैं। कानूनसम्बन्धी पुस्तकोंके सिवाय उन्होंने गणित, शिक्षा, धर्म आदि पर भी अनेक पुस्तकें लिखी हैं।

अपने धर्मके एकनिष्ठ उपासक होने पर भी वे किसी सम्प्रदायके विद्वेष्टा नहीं थे। शुभ कार्योंमें वे सभी सम्प्रदायके लोगोंके साथ योग देते थे। किसी भी सम्प्रदायके धर्मकार्योंके प्रति उनकी अश्रद्धा नहीं थी। बहुत कम लोगोंमें उनके समान मतसहिष्णुता देखी जाती है।

लगभग दो वर्ष हुए, सं० १९७५ के पौषमें, ७४ वर्षकी अवस्थामें उनका स्वर्गवास हुआ। उनका स्वास्थ्य सदैव अच्छा रहा। वृद्धावस्थामें भी उनकी शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ निस्तेज नहीं हुई थीं। यह उनके सादे और संयमी जीवनका ही फल था।

गुरुदास बाबू अपने बाद अपने कई योग्य पुत्रोंको छोड़ गये हैं जो उच्च शिक्षासे आभूषित हैं और बड़े बड़े ओहदों पर काम कर रहे हैं।

इसी धुरन्धर विद्वान् और सच्चरित्र पुरुषके इस अपूर्व ग्रन्थको आज हम अपने पाठकोंकी भेट कर रहे हैं।

पौष सुदी १४
सं० १९७७ वि०।

निवेदक—
नाथूराम प्रेमी।

विषय-सूची ।

द्वितीयभाग—कर्म।

भूमिका ।

सब विषयोंका निगूढ़ तत्त्व जाननेकी इच्छा, और अपनी अवस्थाकी उन्नति करनेकी चेष्टा, मनुष्यका स्वाभाविक धर्म है । हम बाहर जो विचित्र जगत् देख रहे हैं और भीतर जिन सब अनिर्वचनीय भावोंका अनुभव करते हैं, उनके द्वारा वह तत्त्व जाननेकी इच्छा निरन्तर उत्तेजित होती है । और हमारे अभाव और अपूर्णतायें इतनी अधिक हैं कि उस उन्नतिकी चेष्टा-को हम क्षणभर भी छोड़कर नहीं रह सकते । अपने अपने मनसे पूछने और परस्परके कार्योंपर दृष्टि डालनेसे ही इस बातके अनेक प्रमाण पाये जाते हैं ।

तत्त्व जाननेकी इच्छा हमें ज्ञानके उपार्जनकी ओर प्रेरित करती है और उन्नतिकी चेष्टा हमें कर्म करनेमें लगाती है । ज्ञानका उपार्जन और कर्मका अनुष्ठान ही मनुष्य-जीवनका प्रधान कार्य है ।

ज्ञान और कर्म सम्बन्धहीन नहीं हैं, दोनों परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हैं । अधिकांश स्थलोंमें देखा जाता है कि ज्ञानकी प्राप्तिके लिए अनेक प्रकारके कर्मोंका प्रयोजन है, और कर्म करनेके लिए अनेक विषयोंके ज्ञानकी आवश्यकता है । " ज्ञानकी बढ़तीके साथ साथ कर्मोंका क्षय होता है," यह बात इस तरह सत्य है कि ज्ञानकी बढ़ती होनेपर अनेक कर्म बेकार जान पड़ते हैं, और अनेक कर्म सहज ही संपन्न हो जाते हैं ।

ज्ञानका लक्ष्य तत्त्व या सत्य है । कर्मका लक्ष्य न्याय या नीति है । जिस स्थलपर जिसकी उपलब्धि होना उचित है वह न होकर हमें अक्सर रस्सीमें साँपका भ्रम होता है । उस भ्रमको दूर करके सत्यकी उपलब्धि ही ज्ञान-

का लक्ष्य है। ऐसे ही जिस स्थल पर जो कर्म करना उचित है वह न करके हम अक्सर वर्तमान क्षणिक दुःखसे बचने और क्षणिक सुख पानेके लिए भावी स्थायी मंगलकर कार्य त्यागकर अमंगलकर कार्यमें प्रवृत्त होते हैं। इस अन्यायप्रवृत्तिका दमन करक सुनीतिका सहारा लेनेका अभ्यास ही कर्मका लक्ष्य है। इस जगह पर यह भी कह देना उचित है कि ज्ञान और कर्म दोनोंका अंतिम लक्ष्य परमार्थकी प्राप्ति है।

ज्ञान और कर्मके सम्बन्धमें यत्किञ्चित् आलोचना करना ही इस छोटीसी पुस्तकका उद्देश्य है। इस आलोचनाके विषय क्या क्या हैं, सो इस जगह पर बता देना कर्तव्य है। यदि ज्ञानकी संपूर्ण आलोचना करनी हो, तब तो विश्वके सब विषयोंकी और मनुष्यप्रणीत सब शास्त्रोंकी आलोचना करनेकी आवश्यकता होगी; परन्तु उस बड़े और दुरूह कार्यमें हाथ डालनेकी न मेरी इच्छा है, और न उतनी मुझमें शक्ति ही है। हाँ, ज्ञानके सम्बन्धमें थोड़ीसी आलोचना की जायगी और इसके लिये ज्ञाता, ज्ञेय, अन्तर्जगत्, बहिर्जगत्, ज्ञानकी सीमा, ज्ञानलाभका उपाय और ज्ञानलाभका उद्देश्य, इन कई एक विषयोंका कुछ कुछ वर्णन आवश्यक होगा। इसी लिए इस ग्रंथके प्रथम भागमें अलग अलग अध्यायोंमें (१) ज्ञाता, (२) ज्ञेय, (३) अन्त-र्जगत्, (४) बहिर्जगत्, (५) ज्ञानकी सीमा, (६) ज्ञानलाभका उपाय, (७) ज्ञानलाभका उद्देश्य, इन सात विषयोंकी संक्षिप्त आलो-चना की जायगी।

जन्मसे मृत्यु तक अवस्था-भेद और स्थल-भेदके अनुसार मनुष्यके नीति-सिद्ध कर्म असंख्य प्रकारके हैं। इस ग्रंथमें उन सबकी आलोचना असंभव और असाध्य है। मगर कर्मके संबंधमें आलोचना करते समय, कर्ताकी स्वतन्त्रता है कि नहीं—कार्य कारण सम्बन्ध कैसा है, कर्तव्यताके लक्षण, पारिवारिक नीतिसे सिद्ध कर्म, सामाजिक नीतिसे सिद्ध कर्म, राजनीतिसे सिद्ध कर्म, धर्मनीतिसे सिद्ध कर्म और कर्मका उद्देश्य, इन कई एक विषयों-का कुछ कुछ वर्णन आवश्यक है। इसी लिए इस ग्रंथके द्वितीय भागमें अलग अलग अध्यायोंमें (१) कर्ताकी स्वतन्त्रता है कि नहीं—कार्यकारण सम्बन्ध कैसा है, (२) कर्तव्यताके लक्षण, (३) पारिवारिक नीतिसे सिद्ध कर्म, (४) सामाजिक नीतिसे सिद्ध कर्म, (५) राजनीतिसे सिद्ध

कर्म, (६) धर्मनीतिसे सिद्ध कर्म, (७) कर्मका उद्देश्य, इन सात विषयोंकी थोड़ी सी आलोचना की जायगी।

अब आलोचना-प्रणालीके बारेमें दो-एक बातें कहना जरूरी है।

इस ग्रन्थके सब विषयोंकी आलोचना तीन ढंगसे हो सकती है—युक्तिके द्वारा, शास्त्रके द्वारा और युक्ति और शास्त्र दोनोंका सहारा लेकर। इनमेंसे युक्तिमूलक आलोचना ही इस जगह विशेष उपयोगी है। क्योंकि, कोई बात स्वीकार करनेके लिए लोग पहले युक्तिके द्वारा उसकी सचाईकी जाँच करनेकी चेष्टा करते हैं, और जबतक वह बात युक्ति-सिद्ध नहीं जान पड़ती तबतक उसके सम्बन्धमें संदेह बना ही रहता है। दूसरे, शास्त्रके ऊपर निर्भर करनेमें भी, जब शास्त्र अनेक और तरह तरहके हैं, और अनेक विषयोंमें भिन्न भिन्न शास्त्रोंके और जुदे जुदे मुनियोंके अनेक प्रकारके मत हैं, तब किस शास्त्रका और किस मुनिका मत माननीय है, यह ठीक करनेका एक मात्र उपाय युक्ति ही है। इसके सिवा शास्त्रमूलक आलोचनामें भी युक्तिकी सहायता लेने और विरुद्ध युक्तियोंके खण्डनकी जरूरत है। वेदान्त दर्शनके दूसरे अध्यायके दूसरे पादके प्रथम सूत्रका 'शंकर-भाष्य' ही इस बातका दृष्टान्त है। तीसरे, यद्यपि किस शास्त्रकारका सहारा लेना चाहिए, यह युक्तिके द्वारा ठीक करके, उसी शास्त्रके अनुसार आलोचना की जा सकती है, और उस आलोचनाको युक्तिमूलक और शास्त्रमूलक दोनों कह सकते हैं; मगर किस जगह यथार्थमें किस शास्त्रका सहारा लेना चाहिए, इस बारेमें इतना अधिक मतभेद है कि इस ग्रंथमें युक्तिमूलक आलोचनाका होना ही ठीक जान पड़ता है। लेकिन हाँ, खास खास स्थानोंपर युक्तिकी पोषकतामें शास्त्र या बुद्धिमानोंके मतके ऊपर भी निर्भर किया जायगा। उदाहरणके तौर पर जैसे, जिस जगह ' कौनसी बात परिमार्जित बुद्धिको कैसी प्रतीत हुई है ' यह आलोचनाका विषय है, वहाँ पर शास्त्र या बुद्धिमानोंका मत अवश्य निर्भर-योग्य है।

जो लोग किसी शास्त्रको ईश्वरकी, या ईश्वरसे आदेश पाये हुए किसी खास व्यक्तिकी उक्ति, और इसीलिए अभ्रान्त, मानते हैं, वे उस शास्त्रको युक्तिकी अपेक्षा अवश्य ही बड़ा बतलावेंगे, और कोई युक्ति अगर उस शास्त्रके साथ मेल नहीं खायगी तो उसे भ्रान्त कहेंगे। युक्तिमूलक आलोचनामें अवश्य ही

यह एक अनिवार्य असुविधा है । लेकिन जो लोग किसी भी शास्त्रको भ्रम-रहित नहीं समझते, उनके आगे शास्त्रमूलक आलोचना करनेमें भी उसी तरहकी असुविधा है । और जब हमें इस दूसरी श्रेणीके लोग ही इस समय संख्यामें अधिक देख पड़ते हैं तब युक्तिमूलक आलोचना ही अधिकांश लोगोंके लिए उपयोगी जान पड़ती है । खासकर युक्तिमूलक आलोचनाके दोष-गुणोंका विचार सभी लोग बिना किसी संकोचके कर सकते हैं, किन्तु शास्त्रमूलक आलोचनाके दोष-गुणोंका विचार उस तरह नहीं किया जा सकता; यह भी युक्तिमूलक आलोचनाके पक्षमें एक अनुकूल तर्क है ।

युक्तिमूलक आलोचनामें अनेक स्थानोंपर उपमा-उदाहरण आदिके द्वारा आलोचनीय विषयकी व्याख्या की जाती है । किन्तु उपमा उदाहरण आदिका संग्रह अक्सर बहिर्जगत्के ही विषयोंसे किया जाता है । इसी कारण अन्तर्जगत्के विषयोंमें उनका प्रयोग उचित है या नहीं, यह संदेह अवश्य हो सकता है । ऐसे स्थलोंपर उपमा-उदाहरण आदिका प्रयोग अत्यन्त सावधानीके साथ होना चाहिए ।

आलोचनाकी प्रणालीके संबंधमें एक बात और कहनी है । इस ग्रंथमें जो कुछ विचारा जायगा उसकी आलोचना यथाशक्ति और यथासंभव संक्षेपमें ही होगी । यद्यपि किसी किसी जगह कोई कोई बात कुछ विस्तारके साथ कहनेसे अधिक स्पष्ट समझी जा सकती है, किन्तु लोगोंके पास समय इतना थोड़ा है कि अधिक बातें पढ़ने या सुननेका अवकाश बहुतोंको नहीं मिलता। इसके सिवा अनेक स्थलोंपर वाणीका आडम्बर कोरी विडम्बना ही जान पड़ता है । बल्कि थोड़े शब्दोंमें जो बात प्रकट की जाती है उसे पढ़नेके लिए लोगोंकी प्रवृत्ति विशेष हो सकती है, और उसमें वाक्य-जालकी जटिलता और शब्दजनित भ्रमकी संभावना भी थोड़ी होती है ।

आलोचनाकी भाषाके संबंधमें भी दो-एक बातें कहकर यह भूमिका समाप्त की जायगी। भाषाका उद्देश्य है, वक्तव्य विषयको विशद रूपसे व्यक्त करना । अतएव ग्रंथ उस भाषामें लिखा जाना चाहिए, जिसके द्वारा आलोचनाका विषय जल्दी और सहज ही पाठकोंकी समझमें आजाय । ग्रंथकी भाषाके संबन्धमें यही साधारण और स्थूल नियम है । लेकिन अनेक स्थलोंमें सहजमें अर्थात् अनायास ही समझमें आजाना, और शीघ्र अर्थात् थोड़े समयमें

समझमें आना, ये दोनों भाषाके परस्परविरुद्ध गुण हैं। कारण, अनायास बोधगम्य बनानेके लिए आलोचनाका विषय विस्तारके साथ कहा जाता है और उसे पढ़नेमें देर लगती है। किन्तु शीघ्र बोधगम्य बनानेके लिए आलोचनाका विषय संक्षेपमें लिखना पड़ता है और वह सहजमें समझा नहीं जा सकता। इन दोनों गुणोंका सामंजस्य करने और अनेकार्थबोधक शब्दोंके अर्थके सम्बन्धमें संशय मिटानेके लिए दर्शन-विज्ञान आदि विषयोंके ग्रंथोंमें परिभाषाओंका प्रयोजन होता है। आलोच्य विषयका बोध करानेवाले कुछ शब्द, ग्रंथमें जिनका वारंवार प्रयोग करनेकी आवश्यकता होती है, उनका किस अर्थमें व्यवहार होगा, यह एक बार कह देनेपर, फिर आगे चलकर बिना किसी व्याख्याके जितनी बार जी चाहे उनका प्रयोग किया जा सकता है। ऐसा करनेसे इस प्रणालीके द्वारा ग्रंथ संक्षिप्त होनेके साथ ही सहजमें समझनेके योग्य होता है और अर्थके संबंधमें भी कुछ संशय नहीं रहता।

परिभाषाओंके प्रयोगके सम्बन्धमें कई बातें याद रखनेकी जरूरत है।

एक तो परिभाषाओंका प्रयोग जितना कम हो उतना ही अच्छा। क्योंकि यद्यपि पारिभाषिक शब्दोंके अर्थके सम्बन्धमें कोई संशय नहीं रहता और उसके प्रयोगसे ग्रंथ संक्षिप्त होता है, तो भी जब शब्दोंके पारिभाषिक अर्थ और साधारण अर्थमें कुछ इतर विशेष रहता है और वह इतर विशेष याद रखना परिश्रमसाध्य होता है, तब अधिक परिभाषापूर्ण ग्रंथ पढ़ना अवश्य ही कष्टदायक हो उठता है।

दूसरे, परिभाषायें ऐसी होनी चाहिए कि किसी शब्दका पारिभाषिक अर्थ उसके साधारण अर्थसे एकदम जुदा न हो। क्योंकि यद्यपि पारिभाषिक अर्थ एकबार बता देनेसे उसके संबंधमें संशय नहीं रह सकता, तो भी जब हर एक शब्द पढ़ने या उच्चारण करनेसे उसका साधारण अर्थ ही पहले मनमें आना संभव है तब वह अर्थ अगर उस शब्दके पारिभाषिक अर्थसे एकदम जुदा होता है तो पहले मनमें आनेवाले अर्थसे दूसरा अर्थ सहज ही खयालमें नहीं आता; बल्कि पहले खयालमें आनेवाले अर्थको एकदम हटाकर तब पारिभाषिक अर्थ मनमें स्थान पाता है। इसमें समय लगता है, परिश्रम पड़ता है और यथार्थ अर्थका बोध सुखसाध्य नहीं होता।

तीसरे, संस्कृत भाषाके साथ हिन्दीभाषाका जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है उसे देखते हुए संस्कृत भाषामें किसी शब्दका जिस अर्थमें व्यवहार होता है उससे विभिन्न अर्थमें हिन्दीमें उस शब्दका व्यवहार होना युक्तिसिद्ध नहीं है, और अगर ऐसा हुआ तो उससे बहुत कुछ असुविधा होती है । एक उदाहरणसे यह बात अधिक स्पष्ट हो जायगी । 'विज्ञान' शब्द संस्कृत भाषामें 'विशेष ज्ञान' का बोध कराता है; किन्तु हिन्दीमें इस शब्दका प्रयोग विशेष ज्ञान देनेवाले शास्त्रके अर्थमें किया जाता है । इसका फल यह हुआ है कि 'मनोविज्ञान' शब्द हिंदी भाषामें मनस्तत्त्वसम्बन्धी शास्त्रका बोध कराता है, और उसी नियमके अनुसार 'आत्मविज्ञान' कहनेसे आत्मतत्त्वसे सम्बंध रखनेवाले शास्त्रका बोध होता है । किन्तु संस्कृत भाषामें 'आत्मविज्ञान' शब्द अन्य अर्थका बोधक है। (वेदान्तदर्शनमें शंकरभाष्यका प्रारंभ देखो।) मगर हाँ, जहाँ कोई संस्कृत शब्द हिन्दीमें संस्कृत भाषाके अर्थसे जुदे अर्थमें व्यवहार होता आ रहा है, वहाँ वह शब्द छोड़ देना या उसका संस्कृतके अर्थमें व्यवहार करना सुविधाजनक नहीं ।
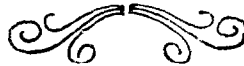
ज्ञान और कर्म ।

प्रथम भाग—ज्ञान ।

उपक्रमणिका ।

ज्ञात होनेकी अवस्था और ज्ञात होनेकी शक्ति, इन दोनों अर्थोंमें ज्ञान शब्दका व्यवहार होता है। जैसे, मैं जानता हूँ कि मैं चिन्तित हूँ, इस जगह इस जाननेकी अवस्थाको ज्ञान कहा जाता है, और जिस शक्तिके द्वारा हम वह जानते हैं वह शक्ति भी ज्ञान कही जाती है। ज्ञान शब्दके ये दोनों अर्थ जुदे होने पर भी परस्पर सम्बन्ध रखते हैं। हमारी जाननेकी अवस्था हमारी जाननेकी शक्तिकी क्रियाका फल मात्र है। जाननेकी शक्तिको बुद्धि भी कहते हैं।

ज्ञान क्या है, यह बतलानेमें ज्ञाता और ज्ञेय इन दोनोंका प्रसंग आता है। कारण, इन दोनोंका मिलन ही ज्ञान है।

इस बातका और ज्ञानसे संबंध रखनेवाली और और अनेक बातोंका प्रमाण केवल अन्तर्दृष्टिके द्वारा और अन्तरात्मासे जिज्ञासाके द्वारा पाया जाता है।

हम अन्तर्दृष्टिके द्वारा जानते हैं कि हमारे कानोंके छेदमें एक शब्द ध्वनित हो रहा है। इस ज्ञानका ज्ञाता मैं हूँ, ज्ञेय वही कर्ण-कुहरमें ध्वनित होनेवाला शब्द है, और मैं और उस ध्वनित शब्दका मिलन ही उस शब्दका ज्ञान है।

और मैं अगर संपूर्ण रूपसे अन्यमनस्क रहूँ, अर्थात् मुझसे उस शब्दका मिलन न हो, तो मुझे उस शब्दका ज्ञान नहीं होता ।

हम जहाँ तक जान सके हैं वहाँ तक यही जाना गया है कि सब ज्ञानोंका ज्ञाता चेतन जीव है । हम यह ठीक तौरसे नहीं जानते कि अचेतनको ज्ञान हो सकता है या नहीं । लेकिन वैज्ञानिक पण्डित श्रीयुत डाक्टर जगदीशचंद्र वसु महाशयने अपनी 'चेतन और अचेतनका उत्तर' (Response in the Living and Non-Living) नामकी पुस्तकमें जिन अद्भुत और आश्चर्यमय तत्त्वोंकी बात लिखी है, उनके द्वारा यह अनुमान होता है कि हम जिन्हें अचेतन कहते हैं वे एकदम अचेतन नहीं हैं ।

ज्ञेय जो है वह ज्ञाताके अन्तर्जगत् या बहिर्जगत्का विषय है । इस लिए ज्ञाता और ज्ञेयकी आलोचनाके बाद ही अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्के सम्बन्धमें कुछ कहना आवश्यक है । उसके बाद उस अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्का विषय किस उपायसे कहाँ तक जाना जा सकता है और उसके जाननेसे फल क्या है, अर्थात् ज्ञानकी सीमा कितनी दूर तक है, ज्ञान लाभका उपाय क्या है, और ज्ञान लाभका उद्देश्य क्या है, इन सब बातोंकी भी कुछ कुछ आलोचना इस ग्रंथके प्रथम भागमें होना अप्रासंगिक या असंगत नहीं होगा । इस लिए उक्त सातों विषय, भूमिकामें दिखलाई गई परंपराके क्रमसे, अलग अलग अध्यायमें वर्णन किये जायँगे ।

पहला अध्याय ।

ज्ञाता ।

जो जानता है अर्थात् जिसे ज्ञान होता है वही ज्ञाता है ।

साक्षात्-सम्बन्धमें मैं अपनेको ही ज्ञाता जानता हूँ, और परोक्षमें अपनी तरह अन्य जीवको भी अनुमानके द्वारा ज्ञाता जानता हूँ ।

मैं यह अन्तर्दृष्टिके द्वारा देखता हूँ कि मैं अपने ज्ञानका ज्ञाता हूँ । और जब देखता हूँ कि बहिर्जगत्का कोई विषय देख कर मैं जैसा काम करता हूँ ठीक वैसा ही काम मेरे ऐसे और जीव भी करते हैं, अर्थात् मैं जैसे किसी भयानक वस्तुको देखता हूँ तो उसे त्याग करता हूँ, या किसी प्रीतिदायक वस्तुको देखता हूँ तो उसकी ओर आकृष्ट होता हूँ, वैसे ही मेरे ऐसे अन्य जीव भी उन उन वस्तुओंको देख कर उसी तरहका आचरण करते हैं, तब संगतरूपसे मैं अनुमान कर सकता हूँ कि उन उन वस्तुओंको देख कर मुझमें जैसा ज्ञान उत्पन्न होता है, वैसा ही ज्ञान मेरे तुल्य अन्य जीवोंमें भी उत्पन्न होता है । और मैं जैसे अपने ज्ञानका ज्ञाता हूँ वैसे ही वे भी अपने ज्ञानके ज्ञाता हैं ।

अब दो प्रश्न उठते हैं । मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है ? और मेरी तरहके अन्यान्य जीव भी कौन हैं और उनका स्वरूप क्या है ?

इन दोनों प्रश्नोंका उत्तर पहले प्रश्नके ऊपर ही निर्भर है । क्योंकि मैं जैसा हूँ, अन्य सब ज्ञाता भी संभवतः वैसे ही हैं । इसलिए इसीका अनुसंधान करना यथेष्ट होगा कि प्रथम प्रश्नका उत्तर क्या है ।

“ मैं कौन हूँ ? मेरा स्वरूप क्या है ? ” यह प्रश्न अभी अनावश्यक जान पड़ सकता है, क्योंकि मैं मुझे साक्षात् सम्बन्धसे जानता हूँ, आत्मज्ञानके

लिए अन्य प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है। मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है, इस विषयका ज्ञान स्वतःसिद्ध है, किसी प्रमाणके द्वारा उसकी उपलब्धि नहीं होती।

यह सच है कि आत्मज्ञान स्वतःसिद्ध है। इसे सभी स्वीकार करते हैं। वेदान्तदर्शनके भाष्यमें भगवान् शंकराचार्यने कहा है कि "आत्मा ही प्रमाण आदि व्यवहारोंका आश्रय है; अतएव आत्मा प्रमाण आदि व्यवहारोंके पहले ही सिद्ध है *।" और पाश्चात्य पण्डित डेकार्टने भी कहा है कि "मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ †।" अर्थात् अपना प्रमाण मैं खुद हूँ। किन्तु ये सब बातें सत्य होने पर भी यह प्रश्न अनावश्यक नहीं है कि मैं कौन हूँ, और मेरा स्वरूप क्या है? कारण, यद्यपि आत्मज्ञान स्वतःसिद्ध है और उक्त प्रश्नका उत्तर किसी बाहरी प्रमाणकी अपेक्षा नहीं रखता—अन्तर्दृष्टिहीके द्वारा प्राप्य है—तो भी वह अन्तर्दृष्टि जब तक ज्ञानचर्चाका अभ्यास नहीं करती, तब तक मैं कौन हूँ और मेरा स्वरूप क्या है, इसके विशेष तत्त्वकी उपलब्धि नहीं होती, और इसी कारण आत्मस्वरूपके निर्णयमें लोगोंके बीच इतना मतभेद देख पड़ता है। कोई कहते हैं, मेरा सचेतन देह ही मैं और मेरा स्वरूप है। कोई कहते हैं, मेरा आत्मा ही मैं हूँ, और वह चैतन्यस्वरूप है। यह देह मेरा अर्थात् आत्माका बन्धन और पिंजड़ासा है। फिर जो लोग आत्माको ही मैं अर्थात् ज्ञाता कहते हैं, वे भी परस्पर एकमत नहीं हैं। उनमें भी एक संप्रदायके लोग कहते हैं कि सब आत्मा परस्पर जुदे जुदे हैं, और अन्य एक संप्रदायके लोग कहते हैं कि इस भेदज्ञान या अहं-ज्ञानकी जड़ अध्यास, अविद्या या भ्रम है; वास्तवमें आत्मा और ब्रह्म एक ही है। आत्मज्ञानके विषयमें इस तरहके मतभेद ही इस प्रश्नकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हैं कि मैं कौन हूँ, और मेरा स्वरूप क्या है?

अनेक लोग समझ सकते हैं कि आत्मज्ञानके सम्बन्धमें जब इतना मतभेद है तब मैं कौन हूँ और मेरा रूप क्या है, यह प्रश्न अज्ञेय है, और इसे जाननेके लिए समय नष्ट न करके सहजमें जाननेयोग्य जो विषय हैं उन्हें जाननेमें समय लगानेसे उपकार हो सकता है। लेकिन यह बात न तो संगत है और

---

* "आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिद्ध्यसि।" अ० २, पाद० ३, सूत्र ७ का भाष्य।

† "Cogito ergo Sum."

न स्वीकार ही की जा सकती है । मैं, अर्थात् ज्ञाता कौन है और उसका स्वरूप क्या है, यह न जानकर और जाननेकी चेष्टा न करके, ज्ञान और ज्ञेय पदार्थकी आलोचना कभी युक्तिसिद्ध नहीं हो सकती । ज्ञान जो है सो ज्ञाताकी ही एक दूसरी अवस्था है । कमसे कम ज्ञाताका स्वरूप कुछ भी जाना हुआ न होने पर, उससे प्राप्त ज्ञान और उसके द्वारा की गई ज्ञेय पदार्थकी आलोचना भ्रान्त या वृथा न होगी, यह बात कौन कह सकता है ? अपनी दर्शनेन्द्रियके दोषके कारण मैं अगर वस्तुके यथार्थ वर्ण या आकार देख न पाऊँ, तो मेरी आँख (दर्शनेन्द्रिय) के द्वारा प्राप्त ज्ञान भ्रान्त है, और वह संशोधनके विना ग्रहण करनेके योग्य नहीं है । इसी लिए यथासाध्य ज्ञाताके स्वरूपका निर्णय करना हमारा अवश्य कर्तव्य है । कमसे कम जब तक यह निश्चित न हो कि ज्ञाताके लिए यद्यपि अन्य विषय ज्ञेय हैं तथापि उसका आत्मस्वरूप अज्ञेय है, तब तक आत्मज्ञानके लाभकी चेष्टासे कभी नहीं निवृत्त रहा जा सकता, अर्थात् आत्मज्ञान लाभकी चेष्टा नहीं छोड़ी जा सकती । इस बातको कोई सहज ही अस्वीकार नहीं कर सकता कि ज्ञाता ही अपना प्रथम और प्रधान ज्ञेय है ।

बहिर्जगत्की विचित्रता हमारे चित्तको इतना अपनी ओर आकृष्ट करती है, और बहिर्जगत्के पदार्थोंके ऊपर हम लोगोंका दैहिक सुख इतना निर्भर है कि बाह्य जगत्को लेकर ही हमारा अधिकांश समय बीत जाता है । लेकिन उस विचित्रताका अस्थायी होना और उस सुखकी अनित्यता जब जब मनुष्यकी समझमें आई है तब तब वह आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिए व्याकुल हो उठा है । हमारे उपनिषद् आदि शास्त्रोंमें इस व्याकुलताके अनेक उदाहरण पाये जाते हैं । छांदोग्य उपनिषद्में श्वेतकेतुका* उपाख्यान और नारद-सनत्कुमार संवाद † और बृहदारण्यक उपनिषद्में मैत्रेयीका उपाख्यान ‡ इसके लिए देखना चाहिए । ग्रीस देशके बुद्धिमान् विद्वानोंने भी आत्माके स्वरूपका निर्णय करनेके लिए विशेष व्यग्रता दिखलाई है । इस सम्बन्धमें सुकरातके शिष्य प्लेटोका ‘ फिडो ’ नामका ग्रंथ देखना चाहिए ।

---

* छांदोग्य अध्याय ६ । † छांदोग्य अध्याय ७ ।

‡ बृहदारण्यक अध्याय २ ।

ज्ञाता अर्थात् मैं कौन हूँ, और ज्ञाताका अर्थात् मेरा स्वरूप क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर पहले अपनेहीसे पूछना चाहिए। अपने आत्मासे इसका जो उत्तर मिले उसकी यथार्थताकी परीक्षाके लिए बादको युक्तिके साथ और अपने सिवा अन्यके वाक्य और कार्यके साथ मिला लेना आवश्यक है।

इस परीक्षाकी प्रयोजनीयताके संबंधमें इस जगह पर आनुषंगिक रूपसे दो-एक बातें कहना कर्तव्य है। जब सभी ज्ञान आत्मामें अवभासित होते हैं और आत्मा ही जब सब ज्ञानोंका साक्षी है, तब अन्तर्दृष्टिके द्वारा आत्मामें हम जो देख पाते हैं उसकी फिर परीक्षा क्या है, यह आपत्ति सहज ही उठ सकती है। इसके साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि आत्मा जो गवाही देता है उसके ऊपर सन्देह करनेसे संदेहके ऊपर भी सन्देह होता है। किन्तु इन आपत्तियोंका खण्डन भी सहज है। अशिक्षित आँख जैसे बहिर्जगत्की वस्तुओंके आकार प्रकारको सब जगह ठीक नहीं देख पाती, वैसे ही अनभ्यस्त अन्तर्दृष्टि भी आत्मामें अवभासित ज्ञानकी यथार्थ उपलब्धिमें समर्थ नहीं होती। और, बहिर्जगत्का साक्षी जैसे मिथ्यावादी न होने पर भी भ्रमवश ठीक बात नहीं कर सकता, वैसे ही आत्मा भी, अन्तर्जगत्के विषयोंके सम्बन्धमें एक मात्र विश्वस्त साक्षी होने पर भी, असावधानतावश अयथार्थ साक्षी दे सकता है। इसी कारण आत्माके उत्तरकी यथार्थताकी परीक्षा करना आवश्यक है।

अब देखना चाहिए, 'मैं कौन हूँ ?' इस प्रश्नका उत्तर आत्मासे क्या मिलता है। पहले तो यह जान पड़ेगा कि आत्मा कहता है, यह सचेतन देह ही मैं हूँ। लेकिन जरा सोचकर देखनेसे ही इस बारेमें सन्देह उत्पन्न होगा कि यह उत्तर ठीक है या नहीं। कारण दम भर बाद आत्मा ही कहता है कि यह देह मेरी है, अतएव यह देह मैं नहीं हूँ— मैं इस देहका अधिकारी हूँ। अन्तर्दृष्टिके द्वारा हम यह भी देख पाते हैं कि आत्मा देहका शासन करनेकी चेष्टा करता है, बस इसीसे सिद्ध है कि यह देह आत्मा अर्थात् 'मैं' के सिवा अन्य पदार्थ है। यद्यपि आत्माका बाह्य जगत्के साथ सब सम्बन्ध देहके ऊपर निर्भर है, और बाह्य जगत्के विषयका सब ज्ञान देहकी सहायतासे ही पाया जाता है, विचारके कार्यसे भी देहकी अवस्था बदल जाती है और देहकी अवस्था बदलनेसे विचार-कार्यका व्यतिक्रम होता है, तो भी आत्माके अस्तित्वके लिए देहके साथ उसके संयोगका प्रयोजन नहीं है।

यह बात परीक्षा करके देखना आवश्यक है कि आत्माकी यह उक्ति ठीक है या नहीं। कारण, इसके विरुद्ध बहुत सी बातें कही जा सकती हैं। पहले तो अनेक लोग कह सकते हैं कि स्पन्दन आदि बाह्य क्रिया जैसे जीवित देहके लक्षण हैं, वैसे ही चिन्तन आदि आन्तरिक क्रिया भी जीवित देहके लक्षण हैं, और उसका प्रमाण यह है कि जिन विवेक आदि शक्तियोंको आत्माकी चैतन्यमय शक्ति कहा जाता है, उनका भी देहकी वृद्धिके साथ क्रमशः विकास और देहके क्षयके साथ क्रमशः न्हास होता है। और भिन्न भिन्न जातिके जीवोंकी ओर मन लगाकर ध्यान देनेसे भी यही प्रतीत होता है; क्योंकि हम देख पाते हैं कि जिस जातिके जीवकी देह अर्थात् मस्तिष्क और देखने सुनने आदिकी इन्द्रियाँ जितना विकासको प्राप्त हैं, उस जातिके जीवका चैतन्य भी उतना ही विकासको प्राप्त है। दूसरे, यह भी कहा जा सकता है कि देहको छोड़ देनेसे आत्माके अस्तित्वका कोई प्रमाण नहीं पाया जाता। अतएव आत्मा और आत्म-ज्ञान, ये दोनों जीवित देहके लक्षण मात्र हैं।

इस संशयको दूर करना बिल्कुल सहज नहीं है। इसे मिटानेके लिए जो युक्तियाँ और तर्क हैं वे संक्षेपसे नीचे लिखे जाते हैं—

स्पन्दन आदि जो क्रिया या गुण सजीव देहके होते हैं वे सजीव जड़के लक्षण हैं। वे चिन्तन आदि क्रिया या गुणोंकी तरह नहीं हैं; बिल्कुल दूसरे ही ढंगके हैं। स्पंदन आदि क्रियाओंमें जो स्पंदनको प्राप्त होता है, अर्थात् हिलता डुलता है, उसमें आत्मज्ञानके रहनेका कोई प्रमाण नहीं पाया जाता। किन्तु चिन्तन आदि विषयोंमें चिन्तितके आत्मज्ञानका होना सर्वथा निश्चित है। अतएव यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि जड़के संयोग या अवस्था परिवर्तनके द्वारा आत्मज्ञान आदि चैतन्यमय गुणोंका या क्रियाओंका उद्भव होता है। अद्वैतवादी होने पर साधारणतः जड़ शब्दका जिस अर्थमें प्रयोग होता है, उस अर्थमें जड़वादी होनेसे काम नहीं चलता, अर्थात् अगर एक ही मूलकारणसे संपूर्ण जगत्की उत्पत्ति माननी है तो वह एक मूलकारण जड़ नहीं माना जा सकता। अगर यह कहा जाय कि जड़में चैतन्य अव्यक्तभावसे निहित रहता है, तो फिर सृष्टिका मूलकारण केवल कोरा जड़ नहीं ठहरा, उसको चैतन्यमय जड़ मानना पड़ा। युक्तिके द्वारा अगर अद्वैतवादका प्रतिपादन करना हो तो 'चैतन्यमय ब्रह्म ही जगत् है' यह वेदान्तका

अद्वैतवाद ही ग्रहण करनेके योग्य है। अगर यह मानना है कि सारा जगत् एक ही आदि कारणसे उत्पन्न है तो यह भी अवश्य कहना होगा कि वह मूलकारण चैतन्यमय है। क्योंकि मूलकारणमें अगर चैतन्य नहीं रहेगा तो फिर जगत्में चैतन्य कहाँसे आवेगा? युक्ति यही बात कहती है। विज्ञान भी यह बात प्रमाणित करनेकी चेष्टा कर रहा है कि हम जिसे जड़ पदार्थ समझते हैं वह शक्तिकी केन्द्रसमष्टि है। इसके सिवा जड़के अस्तित्वका एक मात्र साक्षी चैतन्य, अर्थात् ज्ञाताका ज्ञान है। हमारे इस कथनका यह तात्पर्य नहीं है कि ज्ञाताके ज्ञानके बाहर जड़का अस्तित्व ही नहीं है। इस कथनका उद्देश्य यह है कि जड़ और चैतन्यका सम्बन्ध जहाँ तक समझा जाता है उससे कहा जा सकता है कि जड़से चैतन्यकी उत्पत्तिके सिद्धान्तकी अपेक्षा चैतन्यसे जड़की सृष्टिका अनुमान अधिकतर संगत है।

यह जो कहा गया कि देहकी बढ़ती और घटतीके साथ साथ चैतन्य भी बढ़ता-घटता है, तो यह बात भी कुछ दूरतक सत्य होनेके सिवा संपूर्ण सत्य नहीं है। देहके पूर्ण विकासके साथ बुद्धिका भी पूर्ण विकास सर्वत्र नहीं देखा जाता। उधर देहकी अपूर्णता या ह्रासके होते भी अनेक जगह किसी भी अंशमें बुद्धिका अभाव नहीं देख पड़ता, और किसी जगह अहं-ज्ञानका रत्तीभर भी अभाव नहीं घटित होता। हाँ, देहकी अपूर्णता या ह्रासके साथ साथ बाह्यजगत्से सम्बन्ध रखनेवाले ज्ञानका अभाव सर्वत्र देखा जाता है। लेकिन उसका कारण यह है कि देह ही उस ज्ञानकी प्राप्तिका उपाय है।

भिन्न भिन्न जातिके जीवोंके चैतन्यकी कमीवेशी जो उनके मस्तिष्क और इन्द्रियोंकी पूर्णताकी कमीवेशीके साथ साथ चलती है, उसका भी कारण यही है कि उनके चैतन्यका परिचय केवल उनके बाह्यजगत्के कार्योंसे पाया जाता है, और वे सब कार्य बहिर्जगत्के विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाली उनकी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंके द्वारा अवश्य ही सीमाबद्ध हैं।

यह जो कहा गया है कि देहको छोड़कर आत्माके अस्तित्वका प्रमाण नहीं है, सो बहुत कुछ सत्य है, लेकिन इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि निद्राकी हालतमें देहके निश्चेष्ट रहने पर भी आत्माका विलोप नहीं होता।

इस जगह पर और एक बात याद रखना आवश्यक है। देह और देहकी सारी शक्ति सीमाबद्ध और सान्त है, किन्तु आत्मा सीमाबद्ध होना नहीं

चाहता । आत्मा तो चिन्तन आदि क्रियाओंमें देहकी सीमाको लाँघकर 'अनन्त' के बीचमें फाँदना चाहता है । वह यद्यपि अनन्तको पकड़ नहीं सकता, लेकिन अनन्तको छोड़कर भी नहीं रह सकता । सभी लोग अन्तर्दृष्टिके द्वारा इस बातका अनुभव करते रहते हैं । परन्तु इन्द्रियद्वारा प्राप्त देहादि बहिर्जगत्से सम्बन्ध रखनेवाले ज्ञानको ज्ञाता कुछ एक न्यायके अलंघनीय नियमोंके अधीन कर लेता है, और वे नियम देह या बहिर्जगत्से किसी तरह प्राप्त नहीं होते । जैसे—एक काल और एक स्थानमें किसी पदार्थका भाव और अभाव दोनों बातें नहीं हो सकतीं; अर्थात् ऐसा नहीं हो सकता कि कोई पदार्थ एक समय एक ही जगहमें रहे भी और नहीं भी रहे । यह नियम अलंघ्य है, इसका कुछ भी व्यतिक्रम नहीं हो सकता । यह नियम बहिर्जगत्से नहीं पाया जाता । कोई कोई पाठक कह सकते हैं कि हम लोग बहिर्जगत्में एक समयमें एक वस्तुका भाव और अभाव कभी नहीं देख पाते, और इसीसे इस नियमकी उत्पत्ति हुई है । किन्तु यह बात ठीक नहीं है । ऐसा नहीं कहा जा सकता कि छः पैरका घोड़ा या चार पैरकी चिड़िया हमने कभी कहीं देखी नहीं, इसीसे इस तरहके जीवके होनेका अनुमान हम नहीं कर सकते । किन्तु किसी पदार्थके एक समय भाव और अभावका अनुमान कभी नहीं किया जा सकता । यह नियम देहकी इन्द्रियोंके द्वारा पाया गया नहीं है । ज्ञाता आप ही इस ज्ञानकी धारणा करता है । इन्हीं सब कारणोंसे यह उपलब्धि होती है कि ज्ञाता या आत्मा सीमाबद्ध देहसे नहीं उत्पन्न हुआ है—वह अनन्त चैतन्यसे उत्पन्न हुआ है ।

इसी लिए मैं अर्थात् आत्मा, देह नहीं, देहसे भिन्न पदार्थ है । यह बात कभी नहीं कही जा सकती कि यह उत्तर ठीक नहीं है, अथवा परीक्षाके द्वारा प्रमाणित नहीं हुआ । बल्कि युक्तिके द्वारा इसके विपरीत ही सिद्धान्त निश्चित होता है ।

आत्माका स्वरूप क्या है, आत्मा कहाँसे आया और कहाँ जायगा, अर्थात् देहका सङ्गठन होनेके पहले आत्मा कहाँ था, और देहके विनाशके बाद कहाँ रहेगा, इन सब प्रश्नोंका उत्तर, क्या भीतर और क्या बाहर, कहीं स्पष्ट रूपसे ज्ञानकी सीमाके भीतर नहीं पाया जाता । मगर तो भी इन सब प्रश्नोंका उत्तर प्राप्त करना ज्ञानचर्चाका एक चरम उद्देश्य है, और ज्ञाता भी

अन्तर्दृष्टिका अवसर पाते ही यही उत्तर पानेके लिए व्याकुल होता है। ज्ञाता अन्य पदार्थके स्वरूपको जहाँ तक जान सकता है, अपने स्वरूपको वहाँ तक नहीं जान सकता—यह विश्वकी एक विचित्र पहेली है। यह किसीको याद नहीं रहता कि किस तरह पहले आत्मज्ञानका उदय होता है, दूसरेसे पूछ कर भी नहीं जाना जाता। कारण, आत्मज्ञानका प्रथम उदय होनेके समय किसीके वाक्शक्ति नहीं स्फुरित होती। किन्तु उक्त सब प्रश्नोंके उत्तर साक्षात् सम्बन्धसे ज्ञानगम्य न होने पर भी ज्ञाता इस बारेमें निश्चित नहीं रह सकता। उत्तर पानेकी आकांक्षा निवृत्त नहीं होती, और परोक्षमें या प्रकारान्तरसे युक्तिके द्वारा जो उत्तर मिलता है वह ज्ञानकी सीमाके अन्तर्गत न होने पर भी विश्वासकी सीमाके बाहर नहीं ह।

आनुषंगिक रूपसे इस जगह ज्ञान और विश्वासके सम्बन्धमें दो एक बातें कहना जरूरी है। ऐसे अनेक विषय हैं जिनके पास ज्ञानकी पहुँच नहीं है, मगर विश्वास उन तक पूर्ण रूपसे पहुँचता है, अर्थात् ज्ञानके द्वारा हम जिसके स्वरूपका अनुमान नहीं कर सकते, किन्तु उसके ऊपर विश्वास किये बिना नहीं रहा जाता। जैसे—हम अनन्त कालको अपने ज्ञानके अधीन नहीं कर सकते, लेकिन यह भी नहीं समझ सकते कि कालका आदि या अन्त है, और 'काल अनन्त है' यह विश्वास किये बिना नहीं रह सकते।

विश्वासको एक प्रकारका अव्यक्त ज्ञान भी कहें तो कह सकते हैं। हम जो कुछ जानते हैं उसे अपनी बुद्धिके अधीन कर सकते हैं, और कमसे कम उसके कुछ लक्षण समझ सकते हैं। किन्तु जिसे जानते नहीं, केवल विश्वास करते हैं, उसे अनेक स्थलों पर समझ नहीं सकते, उसके लक्षणके सम्बन्धमें केवल 'नेति नेति' (ऐसा नहीं है—ऐसा नहीं है) इतना कह सकते हैं, मगर उसका अस्तित्व स्वीकार किये बिना नहीं रह सकते।

विश्वासका मूल सब जगह समान नहीं है। अनेक स्थलोंपर विश्वास अमूलक या कुसंस्कारमूलक और त्यागके योग्य है, और अनेक स्थलोंपर वह समूलक या सद्युक्तिमूलक और अपरिहार्य होता है।

'विश्वास' शब्द ज्ञाताको परोक्षसे प्राप्त, अर्थात् साक्षात् सम्बन्धमें अप्राप्त ज्ञानका भी बोध कराता है। यह कहनेकी जरूरत नहीं कि ऊपर उक्त शब्दका प्रयोग इस अर्थमें नहीं किया गया है।

यद्यपि ज्ञानके द्वारा आत्माके स्वरूपकी उपलब्धि नहीं होती, किन्तु यह विश्वास करनेका यथेष्ट कारण है कि आत्मा जगत्के चैतन्यमय आदि कारणका अर्थात् ब्रह्मका अंश या शक्ति है।

आत्मा ब्रह्मका अंश या शक्ति है, इस कथनका अर्थ ठीक करनेसे कारणका निर्देश आपसे हो जायगा। यहाँ पर यह संशय सहज ही उठ सकता है कि अखण्ड सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् ब्रह्मका अंश या शक्ति उससे अलग कैसे रहेगी? इस संशयको दूर करना जरूरी है। इस संशयके सम्बन्धमें, वेदान्त-भाष्यके प्रारंभमें, शंकराचार्यजीने कहा है कि अहं-ज्ञान और 'आत्मा ब्रह्मसे अलग है' इस बोधका मूल अध्यास या अविद्या है, और यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होने पर आत्मा और ब्रह्मके एकत्वकी उपलब्धि होगी। पूर्ण ज्ञान उत्पन्न होने पर ज्ञाता और ज्ञेय, आत्मा और अनात्मा, जीव और ब्रह्मकी एकता उपलब्ध हो सकती है जब तक वह पूर्ण ज्ञान नहीं उत्पन्न होता तबतक उस अध्यास या अपूर्ण ज्ञानका अतिक्रमण असाध्य है। शंकराचार्यजीने भी अध्यासको अनादि, अनन्त और नैसर्गिक बतलाया है। अध्यास या अपूर्ण ज्ञानके सम्बन्धमें आगे चलकर, 'ज्ञानकी सीमा' शीर्षक अध्यायमें, कुछ आलोचना की जायगी। इस समय यहाँ पर केवल इतना कह देना ही यथेष्ट होगा कि सर्वव्यापी अखण्ड ब्रह्म अपनी अनन्त शक्तिके प्रभावसे भिन्न भिन्न आत्माके रूपसे प्रकट हुए हैं, ऐसा अनुमान करना हमारे अपूर्ण ज्ञानके लिए असंगत नहीं है; और आत्माकी सृष्टि किस तरह हुई, यह सोचते समय उक्त अनुमान ही अपूर्ण ज्ञानकी अनन्य गति है।

आत्माकी उत्पत्ति और स्थिति, अर्थात् ब्रह्मकी पृथक् भावसे आत्माके रूपमें अभिव्यक्ति और स्थिति, किस समयसे है और कब तकके लिए है, इस बारेमें अनेक मत हैं।

कोई कहता है, देहकी उत्पत्तिके साथ साथ आत्माकी उत्पत्ति है, जब तक देहकी स्थिति है तब तक आत्माकी भी स्थिति है, और देहके विनाशके साथ ही आत्माका लय हो जाता है। भारतके चार्वाक और यूरोपके जड़वादी लोगोंका यही मत है। किन्तु यह पहले ही दिखाया जा चुका है कि 'आत्मा देहसे भिन्न पदार्थ है, और देहनाशके साथ ही आत्माका लोप या नाश हो जाता है' यह अनुमान ठीक नहीं है।

कोई कहता है कि वर्तमान देहकी उत्पत्तिके बहुत पहलेसे, अर्थात् अनादि कालसे, आत्माका अस्तित्व है और वह भिन्न भिन्न देहोंमें रहता आया है, ऐसे ही वर्तमान देह नष्ट होनेके बाद भी आत्मा भिन्न भिन्न देह धारण करके उनमें रहेगा। जिस आत्माके शुभाशुभ कर्मफल क्षय होंगे वही मुक्ति प्राप्त करेगा, अर्थात् ब्रह्ममें लीन होगा। जो लोग जन्मान्तर मानते हैं उनका यही मत है। इसके अनुकूल युक्ति यह है कि मंगलमय ईश्वरकी सृष्टिमें सभी जीव जो सुखी नहीं देख पड़ते—कोई सुखी और कोई दुखी देख पड़ता है—उसका कारण जीवके पूर्वजन्मके कर्मफलके सिवा और कुछ भी नहीं हो सकता। और, पहले जन्मका कर्मफल क्यों अशुभ हुआ, इसका उत्तर दिया नहीं जा सकता, इसी कारण जीवके पूर्वजन्म असंख्य और अनादिकालव्यापी मानने पड़ते हैं। लेकिन इस युक्तिके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि पूर्वजन्म अगर है तो दूसरे जन्ममें उसका कुछ भी स्मरण न रहना एक बड़े ही आश्चर्यकी बात है। जल्दी हो या देरमें हो, जीव क्रमशः सुपथगामी होकर परिणाममें अनन्तकालस्थायी सुख पावेगा, यह बात मानी जाय तो उस अनन्त कालके सुखके साथ तुलना करनेसे इहकालका थोड़े दिनोंका दुःख कुछ नहीं है। और, उस दुःखका कारण बतानेके लिए असंख्य होनेपर भी एकदम विस्मृत पूर्वजन्मका अनुमान करना अनावश्यक और असंगत है। तो भी इस जगह पर एक बात याद रखनी चाहिए। यद्यपि आत्मा देहसे अलग है और यद्यपि पूर्वजन्मवादके विरुद्ध अनेक युक्ति-तर्क हैं तथापि देहावच्छिन्न आत्मामें देहकी प्रकृतिके अनुसार अनेक दोष-गुण आजाते हैं, और हमारी देहकी प्रकृति हमारे पूर्वपुरुषोंकी देहकी प्रकृतिके ऊपर निर्भर है। अतएव आत्माका पूर्वजन्म न रहने पर भी, और आत्मा जन्मान्तरके कर्मबन्धनमें बँधा हुआ न होने पर भी, अतीतके साथ आत्माका विशेष सम्बन्ध है, और आत्माको प्रकारान्तरसे पूर्वपुरुषोंके कर्मफलका भागी होना पड़ता है।

कोई कहते हैं, आत्माकी उत्पत्ति वर्तमान देहके साथ है, और अवस्थिति अनन्तकालके लिए है। इस एक जन्मके कर्मफलसे उस अनन्तकालके शुभाशुभका निर्णय होता है। ईसाइयोंका यही मत है। किन्तु युक्तिके द्वारा यह प्रमाणित नहीं होता कि इस अल्पकालस्थायी इहजीवनका कर्मफल जीवके अनन्तकालके सुखदुःखका कारण किस तरह संगत हो सकता है।

किसीके मतसे आत्माकी उत्पत्ति, अर्थात् परमात्मासे अलग होकर आत्माकी उत्पत्ति, देहके साथ साथ होती है; स्थिति अनन्त कालतक रहती है; गति बीच बीचमें अवनतिकी ओर होनेपर भी अन्तको उन्नतिकी ओर होती है; और अन्तको वह ब्रह्ममें फिर मिल जाता है। अन्यान्य मतोंकी अपेक्षा यही मत अधिकतर युक्तिसंगत जान पड़ता है।

ज्ञाताके अर्थात् आत्माके स्वरूप और उत्पत्तिका निर्णय हमारी संकीर्ण बुद्धिके लिए अत्यन्त दुरूह है, और अज्ञेयवादी लोगोंके मतसे हमारे ज्ञानसे अतीत है। किन्तु ज्ञाताकी शक्ति या क्रियाका निर्णय उसकी अपेक्षा सहज है और अन्तर्दृष्टि उस निर्णयका प्रधान उपाय है। तो भी आवश्यकताके अनुसार अन्यान्य प्रमाणोंके द्वारा अन्तर्दृष्टिके फलकी परीक्षा कर लेना उचित है।

ज्ञाताकी शक्ति या क्रिया अनेक प्रकारकी है। उसका श्रेणी-विभाग करना हो तो तीन श्रेणियाँ की जा सकती हैं—**जानना, अनुभव करना, और चेष्टा करना, या कार्य करना**। किसी विषयका तत्त्व या सत्यता हम जानना चाहते हैं, वह सुखकर है या दुःखकर है—यह हम अनुभव करते हैं, और किसी विषयको जानकर या उससे होनेवाले सुख-दुःखका अनुभव करके क्या करेंगे—यह चेष्टा करते हैं।

अन्तर्जगतका तत्त्व जाननेका उपाय भीतरी इन्द्रिय या मन है। बहिर्जगतका तत्त्व जाननेका उपाय चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वक् ये पाँच बाहरी इन्द्रियाँ हैं। इनके सिवा **स्मृति, कल्पना,** और **अनुमान**के द्वारा अन्य अनेक प्रकारके तत्त्व जाने जा सकते हैं। इन सब विषयोंके सम्बन्धमें 'अन्तर्जगत्,' 'बहिर्जगत्' और 'ज्ञानलाभके उपाय' शीर्षक अध्यायोंमें कुछ आलोचना की जायगी।

सुख-दुःखका अनुभव करना भी एक प्रकारका जानना है—अर्थात् अपनी उस घड़ीकी अवस्था जानना है। मगर हाँ, अन्य प्रकारके जाननेके साथ भेद यही है कि इस जगह पर जाननेका विषय कोई तत्त्व या सत्य नहीं है, बल्कि ज्ञाताका अपना सुख-दुःख या अन्यरूप अवस्था है। इसी जाननेको यहाँ पर अनुभवके नामसे अभिहित किया है। किन्तु आगे चल कर अनुभव और ज्ञानविभागके विषयकी और 'अन्तर्जगत्' शीर्षक अध्यायमें इस विषयकी और भी कुछ आलोचना की जायगी।

चेष्टा या कार्य कर्मविभागका विषय है। 'कर्ताकी स्वतन्त्रता है या नहीं?' इस अध्यायमें इसकी आलोचना की जायगी। यह ज्ञाता या आत्माकी त्रिविध क्रियाओंमेंसे एक है, इसी लिए इस जगह पर इसका उल्लेख किया गया। यहाँ पर यह कह देना कर्तव्य है कि आत्माके स्वरूपके साथ चेष्टा या करनेकी शक्तिका सम्बन्ध अत्यन्त विचित्र है। आत्माके ज्ञान या अनुभूति-का मुख्य कारण ज्ञात या अनुभूत विषय होता है, किन्तु आत्माकी चेष्टा या कार्यका मुख्य कारण आत्मा स्वयं ही है। कमसे कम पहले यही प्रतीत होता है। मगर कुछ ध्यान देनेसे देख पड़ता है कि आत्माकी यह कर्तृत्वप्रतीति भ्रममूलक है। फलतः आत्माको किसी कार्यमें स्वतन्त्रता नहीं है। सभी कार्य तत्कालीन संनिहित बहिर्जगत्की अवस्था और उद्यत अंतःकरणकी प्रवृत्तिके द्वारा निरूपित होते हैं। वह बहिर्जगत्की अवस्था और अन्तःकरण-की प्रवृत्ति आत्माके अधीन नहीं है, कार्य कारणकी परंपराका क्रम उन्हें नियुक्त करता है। इस जगह पर गीताकी यह उक्ति याद आती है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

[गीता, अ० ३, श्लो० २७]

(अर्थात्—सब कर्म प्रकृतिके गुणों द्वारा किये जाते हैं। मगर अहंकारसे मूढ़ हो रहा आत्मा समझता है कि उनका कर्ता मैं हूँ।

आत्मा कर्मक्षेत्रमें उदासीन है या कर्मोंमें लिप्त है, और अगर कर्मोंमें लिप्त है तो आत्माकी स्वतन्त्रता है या नहीं, इन सब बातोंके बारेमें बहुत मतभेद है। उसका उल्लेख बादको होगा। यहाँ पर इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि देहयुक्त अपूर्ण अवस्थामें आत्मा स्वतन्त्र नहीं, प्रकृति-परतन्त्र है। किन्तु आत्मा जगत्के आदि कारण उसी ब्रह्मके चैतन्य-स्वरूपका अंश है, इसी लिए अपूर्ण अवस्थामें भी अपनेमें अस्फुट रूपसे उस आदि कारणकी स्वतन्त्रताका अनुभव करता है। जान पड़ता है, यही आत्माके स्वतन्त्रतावाद और परत-न्त्रतावादकी स्थूल मीमांसा है। आत्माका स्वतन्त्रताविषयक अस्फुट ज्ञान और कार्यकारणविषयक अलंघ्य नियमके साथ उस ज्ञानका विरोध देख पड़ता है। इस विचित्र रहस्यका मर्म समझनेके लिए ऊपर जो कहा गया है, उसके सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता।

ज्ञाता अर्थात् आत्मा देहयुक्त अवस्थामें, अपूर्ण ज्ञानमें अध्यास या भ्रमके कारण, अहंकारविशिष्ट और स्वतन्त्रताहीन रहता है। देहबन्धनसे मुक्त और पूर्ण ज्ञानको प्राप्त होनेपर आत्मा अहंबुद्धिको छोड़कर ब्रह्मके साथ एकता, स्वाधीनता और परमानन्दको प्राप्त होगा। यही अनुमान संगत जान पड़ता है। इस बातके प्रमाणस्वरूप यह कहा जा सकता है कि हमारा 'मैं हूं' यह भाव—अर्थात् आत्मा और अनात्माका भेदज्ञान—और साथ ही साथ आत्माकी संकीर्णता जितना ही कम होती जाती है, और यथार्थ ज्ञानवृद्धिके साथ साथ आत्मा जितना ही अपने क्षुद्रभावको छोड़कर दूसरेको अपनाना और स्वार्थत्याग करना सीखता है, उतनी ही आत्माकी स्वाधीनता और आनन्द बढ़ता है, और जगत्के सच्चे मंगलकी वृद्धि होती है। देहधारीके लिए देह-रक्षाके अनुरोधसे संपूर्ण स्वार्थत्याग संभव नहीं है, किन्तु परोपकारके लिए स्वार्थकी मात्राको घटाना सभीके लिए साध्य है। और, जो कोई जितना स्वार्थत्याग कर सकता है वह उतना ही अपना और जगत्का मंगल करनेमें समर्थ होता है।

दूसरा अध्याय।

ज्ञेय ।

ज्ञाता अर्थात् आत्मा जो जान सकता है, अथवा जानना चाहता है वही ज्ञेय है ।

कोई कोई कहते हैं कि आत्मा जिसे जान सकता है केवल उसीको ज्ञेय कहना उचित है, और आत्मा जिसे जानना चाहता है लेकिन उसे जाननेकी शक्ति उसमें नहीं है, उसे अज्ञेय कहना चाहिए। यह बात पहले सुनते ही संगत मालूम हो सकती है, लेकिन जरा सोचकर देखनेसे, पहले जो कहा गया है वही युक्तिसिद्ध जान पड़ेगा। क्योंकि जो जाननेकी आकांक्षा होती है वह जाननेकी शक्ति न होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह जाननेके योग्य नहीं है। इसके सिवा, जो जाननेकी आकांक्षा होती है, उसका स्वरूप न जान सकने पर भी, उसका अस्तित्व तो जाना गया है; अथवा यों कहो कि उसके रहने-न रहनेके फलाफलका विचार किया जा सकता है। अतएव उसे एकदम अज्ञेय नहीं कहा जा सकता ।

अद्वैतवादी लोगोंके मतमें ज्ञाताको पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाने पर ज्ञेय और ज्ञाताका पार्थक्य नहीं रह सकता। किन्तु जब तक वह पूर्ण ज्ञान नहीं पैदा होता तब तक ज्ञेय और ज्ञाताका पार्थक्य अवश्य रहेगा। इससे यह निष्कर्ष निकला कि ज्ञाताका प्रथम और प्रधान ज्ञेय वह स्वयं ही है।

ज्ञेय पदार्थके दो भाग किये जा सकते हैं—आत्मा या अनात्मा, या अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्। दोनोंकी ही अलग अलग आलोचना आगे चल कर

होगी। इस अध्यायमें दोनोंके संबंधमें एकत्र जो कहा जा सकता है वही यहाँ विवेचनका विषय है।

ज्ञेयत्व पदार्थका एक लक्षण है सही, लेकिन वह अवच्छेदक लक्षण नहीं है। सभी पदार्थ ब्रह्मके अर्थात् चैतन्यमय स्रष्टाके ज्ञेय हैं, किन्तु इस तरहके अनेक पदार्थोंका होना संभव है, जो अन्य किसी ज्ञाताके ज्ञेय नहीं हैं। और, अन्य कोई अगर न होता तो भी वे सब पदार्थ रह सकते। इस तरहके असंख्य पदार्थोंका रहना संभव है जिनके बारेमें हम कुछ नहीं जानते, और जिनके सम्बन्धमें एकदम ज्ञानका अभाव होनेके कारण कुछ जाननेकी आकांक्षा भी कभी नहीं होती। और, जिन पदार्थोंके बारेमें हम जानते हैं उनके बारेमें भी यह नहीं कहा जा सकता कि हम न होते तो उनका भी अस्तित्व न होता। हमारे न रहने पर भी जगत् रह सकता। हाँ, यह दूसरी बात है कि हम जिस जगत्को देखते हैं, अर्थात् जगत्को हम जैसा देखते हैं, वह हमारे न रहनेसे रहता या न रहता। इसीकी आलोचना आगे की जाती है।

ज्ञेयत्व पदार्थका अवच्छेदक लक्षण नहीं है, किन्तु वह एक अत्यन्त आश्चर्यमय लक्षण है। अपनेसे पृथक् पदार्थका अस्तित्व और गुण मैं जानता हूँ, यह सोचकर देखनेसे अति विचित्र व्यापार देख पड़ता है। यह बात सहज ही कही जा सकती है कि कोई पदार्थ मेरी ज्ञानेन्द्रियके साथ संयोगको प्राप्त होता है तो मुझमें उसके अस्तित्वका ज्ञान उत्पन्न होता है, और जो जो इन्द्रिय जिस जिस गुणका ज्ञान कराती है, उस उस इन्द्रियके साथ संयोग होनेसे पदार्थके उस उस गुणका ज्ञान प्राप्त होता है। किन्तु ये बातें कहना जितना सहज है उतना उनका मर्म हृदयंगम होना सहज नहीं है। तो किस पदार्थके साथ मेरी इन्द्रियका संयोग कैसा है, दूसरे मेरी इन्द्रियके साथ मेरा संयोग कैसा है, तीसरे इन दोनों संयोगोंका फल पदार्थविषयक ज्ञान मुझमें ही किस तरह प्रकट होता है, इन बातोंको अनिर्वचनीय कहकर स्वीकार करना पड़ता है।

ऊपर कहा गया है कि पूर्ण ज्ञानके लिए ज्ञाता और ज्ञेय एक हैं, और अपूर्ण ज्ञानके लिए ज्ञाता और ज्ञेय अलग अलग हैं। और, ज्ञाताके न रहने पर भी पदार्थ रह सकता है, तो भी मैं न होता तो मैं जो यह जगत् देख रहा हूँ सो वह जगत् ठीक ऐसा ही रूप धारण करता या नहीं, यह बात आलोचनाके

योग्य है। वह आलोचनाका विषय प्रकारान्तरसे इस प्रश्नका रूप धारण करता है कि ज्ञातासे ज्ञेय पदार्थकी उत्पत्ति है या ज्ञेयसे ज्ञाताकी उत्पत्ति है? अर्थात् मुझसे जगत् है, या जगत्से मैं हूँ?

पहले जान पड़ सकता है कि ऊपर कहा गया प्रश्न निष्कर्मा व्यवहारबुद्धि-विहीन नैयायिक पण्डितके "तेलका आधार पात्र है, या पात्रका आधार तेल है?" इस प्रश्नकी तरह हँसने योग्य है। किन्तु तनिक सोचकर देखनेसे समझ पड़ेगा कि उसमें तरल हास्य रसकी अपेक्षा अत्यन्त गहरा रहस्य निहित है।

वेदान्त दर्शनके अद्वैत वादमतमें कहा है:—

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।"

"ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीवात्मा और ब्रह्म एक ही हैं," और आत्माके भ्रम या अध्यासके कारण उसके निकट यह जगत् सत्य प्रतीत होता है। पाश्चात्य क्रमविकासवाद या अभिव्यक्तिवाद (Evolution) माननेवाले लोग कहते हैं कि यह अनादि अनन्त जगत् ही सत्य है, और आत्मा या 'मैं' उस जगत्से क्रमविकासके द्वारा प्रकट हुए हैं। एक मतमें आत्मा ही मूल है और जगत्को आत्मा अपने भ्रमके कारण अपने सामने प्रतीयमान करता है। दूसरे मतमें जगत् ही मूल है, और जगत्के क्रमविकास या अभिव्यक्तिके प्रवाहमें असंख्य जीव जलबुद्बुदकी तरह उठते और कुछ समय तक क्रीड़ा करके विलीन हो जाते हैं।

जगत्को चैतन्यमय ब्रह्मका विकास और जड़को चैतन्यशक्तिका रूपान्तर अगर माना जाय, तो नीहारिकाके परमाणुपुंजमें और जगत्के हरएक परमाणुमें प्रच्छन्नरूपसे चैतन्यशक्ति है, यह बात कहनेमें कोई बाधा नहीं रहती, और यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि जगत्की अभिव्यक्तिके द्वारा आत्माकी उत्पत्ति होती है। फलतः इस भावसे यह विषय ग्रहण करने पर अभिव्यक्ति केवल सृष्टिकी प्रक्रिया मात्र समझ पड़ती है। उसके सिवा जड़से क्रमशः चैतन्यकी उत्पत्ति होना समझमें नहीं आता। जो लोग यह कहते हैं कि क्रमविकासके द्वारा जड़से चैतन्यकी उत्पत्ति होती है और देहके नाशके साथ साथ आत्माका नाश होता है, उनके मतके विरुद्ध जो बड़ी बड़ी भारी आपत्तियाँ हैं उनका वर्णन पहलेके अध्यायमें किया जा चुका है। अब देखना

चाहिए यह मत कहाँतक युक्तिसंगत है कि ज्ञातासे ज्ञेयकी अर्थात् आत्मासे जगत्‌की सृष्टि होती है ।

ज्ञाताके लिए अपना ज्ञान ही ज्ञेय पदार्थके अर्थात् प्रतीयमान जगत्‌के अस्तित्वका प्रमाण और उसके स्वरूपका निर्णय करनेवाला है । जगत्‌में हमारे ज्ञानसे अतिरिक्त अर्थात् हमारे ज्ञानके बाहर अनेक पदार्थोंका होना संभव है, और जगत्‌का यथार्थ स्वरूप हम जगत्‌को जैसा देखते हैं उससे भिन्न हो सकता है । मगर हाँ, मेरा आत्मा बाहरी इन्द्रिय और भीतरी इन्द्रियके द्वारा जगत्‌को जैसा देखता है और सोचता है, अवश्य वह वैसा ही मुझे प्रतीत होता है । जगत्‌का वह प्रतीत रूप भ्रान्तिमूलक है या यथार्थ स्वरूप है, यही इस समय जिज्ञासाका विषय है ।

यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि मेरा जाना हुआ रूप ही ज्ञेय पदार्थका सच्चा और ठीक स्वरूप है; क्योंकि अनेक स्थलोंपर इसके विपरीत देखनेको मिलता है । जैसे—मुझे पाण्डु रोग हो जाय तो और लोग जिस वस्तुको श्वेतवर्ण देखेंगे उसे मैं पीतवर्ण देखूँगा, और मेरी आँखों और कानोंमें अगर तीक्ष्ण शक्ति नहीं होगी तो अन्य लोग जो कुछ देख-सुन पावेंगे वह मैं नहीं देख-सुन पाऊँगा । किन्तु यद्यपि विशेष विशेष स्थलोंमें ऐसा होता है, तो भी क्या साधारणतः यह कहा जा सकता है कि जगत्‌के विषयमें हम जो कुछ जानते हैं सो सभी भ्रान्तिपूर्ण है ? यद्यपि अद्वैतवादी वेदान्तीके मतमें जगत् मिथ्या और अध्यासमूलक है, लेकिन स्वयं शंकराचार्यजीने ही उस अध्यासको अनादि अनन्त और स्वाभाविक कहा है । जगत्‌को जो मिथ्या कहा है सो शायद इस अर्थमें कहा है कि जगत् अनित्य है, और हमारी वर्तमान देहयुक्त अवस्थाका सुख-दुःख, जो जगत्‌के ऊपर निर्भर है, वह भी अनित्य है और ब्रह्म ही नित्य है—ब्रह्मज्ञानका लाभ ही हमारे लिए चरम और नित्य सुखका उपाय है । किन्तु जगत्‌के सम्बन्धमें हम जो कुछ जानते हैं, उस सबको अगर भ्रान्तिमूलक कहें, तो यह भी कहना पड़ेगा कि चैतन्य ब्रह्मकी सृष्टिक्रिया विडम्बना मात्र है । किन्तु यह कथन कभी संगत नहीं हो सकता । अतएव यद्यपि हम अपूर्ण ज्ञानकी अवस्थामें जगत्‌के पूर्ण स्वरूपको नहीं जान सकते, तो भी जगत्‌के सम्बन्धमें हमारा ज्ञान उस अपूर्णता-दोष और व्यक्तिगत रोगादिसे उत्पन्न होनेवाले दोषके सिवा अन्य किसी प्रकारके दोष-

से दूषित या एकदम भ्रान्तिमूलक नहीं है, यही मत युक्तिसंगत है। लेकिन हाँ, हरएक स्थलमें जगतके सम्बन्धमें हम जो जान सकते हैं, वह यथार्थ है या नहीं, इसकी परीक्षा करना आवश्यक है। और, यह भी याद रखना कर्तव्य है कि उक्त अपूर्णता दोष अत्यन्त साधारण दोष नहीं है, और उससे सब तरहके भ्रम उत्पन्न हो सकते हैं। इसका एक साधारण दृष्टान्त दिया जाता है। हम आकाशमें चन्द्र, सूर्य, ग्रह, तारागण, छायापथ, नीहारिका आदि जो असंख्य ज्योतिर्मण्डल देखते हैं, उनकी अवस्थिति और स्थानका निर्देश करनेके लिए, अनेक ज्योतिर्विद्याके विद्वानोंने उनके सम्बन्धके नियम निश्चित करनेका प्रयास किया है। अनेक लोग यह भी सोच सकते हैं कि इसके सम्बन्धमें कोई नियम नहीं है, और सूर्य-चन्द्र आदि ज्योतिर्मय पदार्थ आकाशमें जिस तरह स्थित देख पड़ते हैं, उसमें कोई शृंखला नहीं दिखाई देती। किन्तु कुछ सोचनेसे ही समझमें आता है कि हम लोगोंकी दर्शनेन्द्रिय-की शक्ति सीमाबद्ध है। यद्यपि हम बहुत दूर पर स्थित तारोंको देख सकते हैं, लेकिन अनन्तके साथ तुलनामें वे अधिक दूर नहीं हैं, और जगत्का दृश्य जहाँ तक हम देख पाते हैं वह यद्यपि अत्यन्त विस्तृत है, किन्तु वह अनन्त जगत्का अत्यन्त क्षुद्र अंश मात्र है। और, अगर हमारी दर्शनशक्तिमें पूर्णता या अधिकतर व्याप्ति होती, और हम इस समय सारा जगत् अथवा जगत्का जितना अंश देख पाते हैं उसकी अपेक्षा अधिक अंश देख पाते, तो यह असंभव नहीं कि यह आकाश हमारी दृष्टिमें दूसरा ही रूप धारण किये हुए होता। जहाँ पर जान पड़ता है कि कुछ नहीं है, वहाँ पर असंख्य तारे देख पड़ते, और जहाँ जिस तरह विशृंखल भावसे तारागण आदि स्थित जान पड़ते हैं वहाँ उसकी अपेक्षा अधिकतर शृंखलाबद्ध रूपमें वे देख पड़ते। ज्ञाताकी दर्शनेन्द्रियकी एक तरहकी अपूर्णता अर्थात् अदूरदृष्टिके फलसे ज्ञेय पदार्थका ऐसा अपूर्ण विकास होता है। दृष्टिकी और एक प्रकारकी अपूर्णताके कारण, अर्थात् सूक्ष्म दृष्टि न होनेके कारण, और एक प्रकारका ज्ञेय पदार्थका अपूर्ण विकास घटित होता है। जड़ पदार्थका आभ्यन्तरिक संगठन कैसा है, वह परमाणुसमष्टि है या शक्तिकेन्द्र समष्टि है, परमाणुका संगठन कैसा है, इन सब प्रश्नोंका उत्तर पूर्णताको प्राप्त सूक्ष्म दृष्टिके लिए अनायास-लभ्य होता। लेकिन वैसी दृष्टिशक्तिका अभाव होनेके कारण ज्ञेय जड़ पदार्थके स्वरूपके सम्बन्धमें न-जानें कितनी भ्रान्तिमू-

लक कल्पनाएँ होती हैं, और वैज्ञानिक पण्डित लोग न-जाने कितनी अनिश्चित आलोचनायें किया करते हैं (१)।

ज्ञाताकी अपूर्णताके कारण ज्ञेयका अपूर्ण विकास होता है । अब यह देखना चाहिए कि ज्ञाताका अन्य कोई दोष या गुण ज्ञेय पदार्थको स्पर्श करता है या नहीं । यहाँ पर व्यक्तिविशेषके दोष-गुण (जैसे, किसीके आँख-कान आदिके विशेष दोष-गुण) की बात नहीं कही जा रही है । ज्ञाताके साधारण दोष-गुणकी बात ही विचारणीय है ।

पहले तो यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि ज्ञेय जो है सो ज्ञाताके ज्ञानके नियमके अधीन है । अर्थात् हमारा ज्ञान जिसनियमके अधीन है कोई ज्ञेय विषय उसके विपरीत भावको धारण कर सकता है, ऐसा हम नहीं सोच सकते । पाश्चात्य न्यायशास्त्रियोंके मतमें हमारे (२) ज्ञानके नियम तीन हैं:—

१—स्वरूपनियम—जो जो है वह वही है । जैसे मनुष्य मनुष्य ही है ।

२—वैपरीत्य नियम—कोई पदार्थ एक ही समयमें दो परस्पर विपरीत रूप नहीं धारण कर सकता । जैसे, कोई पदार्थ एक ही समयमें शुक्ल और अशुक्ल नहीं हो सकता ।

३—विकल्प प्रतिषेधनियम—कोई बात और उसके विपरीत बात, दोनों सत्य या दोनों मिथ्या नही हो सकतीं । एक सत्य और दूसरी मिथ्या अवश्य ही होगी । जैसे, 'क शुक्लवर्ण है' और 'क शुक्लवर्ण नहीं है,' इन दोनों बातोंमें एक सत्य और दूसरी मिथ्या अवश्य ही होगी ।

देश और काल ज्ञाताके ज्ञानके नियममात्र हैं, या ये ज्ञेयविषय हैं, इसमें अनेक मतभेद हैं । प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक कान्टके मतमें देश और काल ज्ञेय पदार्थ नहीं हैं, केवल ज्ञाताके नियम हैं, जो पदार्थमें आरोपित हैं (३) । हर्बर्ट स्पेन्सरके मतमें देश और काल ज्ञेय विषय हैं, ज्ञाताके ज्ञानके नियम नहीं हैं (४) ।

जिनके मतमें देश और काल ज्ञेय पदार्थ नहीं हैं, केवल ज्ञाताके ज्ञानके नियममात्र हैं, वे अपने मतका समर्थन करनेके लिए इस तरह तर्क करते हैं

---

(१) Karl pearson's Grammar of Science ch. VII देखो। (२) Bain's Logic part I. P. 16 देखो। (३) Kant's Critique of pure Reason, Max Maller's Translation Vol. II page. 20, 27. (४) H. Spencer's First Principles, pt. I ch. III.

कि देश और काल ज्ञाताके ज्ञानके बाहर नहीं रह सकते, क्योंकि अगर यह बात हो तो बहिर्जगत्‌के पदार्थके ज्ञानसे देश और कालका ज्ञान क्रमशः उत्पन्न होता। किन्तु ऐसा नहीं होता, पहलेहीसे बहिर्जगतके किसी भी विषयको हम देश और कालसे असंयुक्त नहीं सोच सकते। अतएव देश-कालका ज्ञान बाहरसे प्राप्त नहीं है, भीतर ही प्रकट है। यह तर्कसंगत है सही, लेकिन इसके द्वारा यह बात नहीं प्रमाणित होती कि देश-काल ज्ञेय पदार्थ नहीं हैं—केवल ज्ञाताके ज्ञानके नियम हैं, और हमारे ऐसे ज्ञाताके न होने पर देश-काल भी न होता। बल्कि देश-कालसे असंयुक्त विषय ५ हम सोच नहीं सकते, तो इससे यह बात प्रमाणित होती है कि देश-काल स्वतःसिद्ध ज्ञेय पदार्थ हैं, और अन्यान्य ज्ञेय पदार्थोंकी अपेक्षा इनका अस्तित्व अधिकतर निश्चित है। जिस देश-कालसे अनवच्छिन्न विषयका होना सोचा भी नहीं जा सकता, और जिनका अभाव खयालमें भी नहीं लाया जा सकता, वे ही देश-काल ज्ञाताके बाहर नहीं हैं और ज्ञाताके द्वारा ज्ञेय पदार्थमें आरोपित होते हैं—यह बात अगर कही जाय तो ज्ञाताके अर्थात् आत्माके साक्ष्य वाक्यकी सच्चाईमें सन्देह होता है, और सन्देह करने पर उस सन्देहके ऊपर भी सन्देह होता है।

कार्य-कारण सम्बन्धको लेकर भी उक्त प्रकारका मतभेद हो सकता है, किन्तु उस सम्बन्धको भी आत्माके साक्ष्य-वाक्योंमें ज्ञेय विषय कहना होगा—केवल ज्ञाताके ज्ञानका नियम नहीं। कारण और कार्यकी परंपरा ही लक्षित होती है, इसके सिवा वह प्रक्रिया हम नहीं जान सकते जिसके द्वारा जिस तरह कारण कार्यको उत्पन्न करता है। किन्तु कारण और कार्यके बीच केवल पारम्पर्य ही नहीं है, और तरहका भी सम्बन्ध है—ऐसा सोचे बिना नहीं रहा जा सकता।

पूर्णज्ञानमें दशोंदिशा एक हैं, तीनों काल एक हैं और कार्य कारण भी एक ही हैं, ऐसी उपलब्धि हो सकती है। किन्तु वह एकत्व अपूर्ण ज्ञानका ज्ञेय नहीं है। तो भी इसीलिए अपूर्ण ज्ञानके ज्ञेयको एकदम भ्रांतिमूलक नहीं कहा जा सकता।

देश, काल और कारण, ये तीनों ज्ञेय हमारे ज्ञानकी अपूर्णताका पूर्ण और अच्छा प्रमाण देते हैं। हम मनमें यह अनुमान नहीं कर सकते कि देश-काल और कारणपरंपराका अन्त है, साथ ही मनमें इनकी अनन्त पूर्णताकी धारणा

भी नहीं कर सकते। इसके बाहर और देश नहीं है, या इस कालके बाद और काल नहीं है, अथवा इस कारणका और कारण नहीं है—यह कभी नहीं कहा जा सकता, कहने पर भी आकांक्षाकी निवृत्ति नहीं होती। अथच इनकी अनन्तपूर्णताको भी अपने ज्ञानगम्य करनेमें हम असमर्थ हैं। इस जगह पर विश्वास ही हमारे लिए अवलंबन है, और जो अनन्तदेशव्यापी, अनन्तकालस्थायी और सब कारणोंका आदिकारण है और जड़चैतन्यमय समस्त जगत् जिसकी विराट्मूर्ति है, वह ब्रह्म ही हमारा चरम और परम ज्ञेय है—यह विश्वास ही हमारी ज्ञानपिपासाको बुझानेका एकमात्र उपाय है।

ज्ञेयके सम्बन्धमें और दो बातें हैं, जिनका सम्बन्ध अन्तर्जगत और बहिर्जगत दोनोंसे है। एक **त्रिगुणतत्त्व** और दूसरी ज्ञेय या पदार्थका **प्रकार-निर्णय**।

त्रिगुणतत्त्व अर्थात रजोगुण सतोगुण और तमोगुण, इन तीनों गुणोंकी आलोचना या उल्लेख पाश्चात्य दर्शनोंमें नहीं देख पड़ता। किन्तु साङ्ख्य दर्शनके मतमें प्रकृति त्रिगुणात्मिका है, और इन्हीं तीनों गुणोंकी विषमतासे जगत्की सृष्टि-क्रियाका सम्पादन होता है (१)। इसके सिवा वेदान्त दर्शनमें इसी बातका जहाँपर प्रतिवाद किया गया है वहाँपर इन तीनों गुणोंका उल्लेख है (२)। उन सब विषयोंकी आलोचना यहाँपर अनावश्यक है। तो भी युक्तिके अनुसार देखने पर जहाँतक समझ पड़ता है, उससे रजोगुण, सतोगुण, तमोगुण, इन तीनों गुणोंको क्रिया, ज्ञान और अज्ञानका बोध करनेवाले गुण मान लिया जा सकता है, अथवा सृष्टि, स्थिति और विनाश जगत्के इन त्रिविध कार्योंका कारण जो शक्ति है उसके गुण स्वीकार कर लिया जा सकता है। ये दोनों अर्थ एकदम असंबद्ध या बेमेल भी नहीं हैं। शास्त्रमें यही प्रसिद्ध है कि रजोगुणसे सृष्टि, सतोगुणसे स्थिति और तमोगुणसे विनाश, तीनों गुणोंसे जगत्के ये तीनों कार्य होते हैं। सृष्टि एक क्रिया है। जो सृष्ट हुआ वह पहले प्रकट नहीं था, पीछे प्रकट हुआ, इसीलिए उसकी स्थिति है—ज्ञानके प्रकाशमें उसका अवस्थान है। और विनाश फिर अप्रकट हो जाना, अर्थात् अज्ञानके अन्धकारमें मग्न हो जाना। प्रायः सभी ज्ञेय पदार्थोंकी अवस्थाके सृष्टि-स्थिति-विनाश ये तीन क्रम हैं। रजः, सत्त्व, तमः ये तीनों गुण उसी क्रमके ज्ञापक हैं।

(१) सांख्यदर्शन, १—६१ देखो। (२) शांकरभाष्य, १।४। ८-१० देखो।

इन तीनों गुणोंका कुछ आभास आर्यशास्त्रके बीच छान्दोग्य उपनिषद्‌में (१) और श्वेताश्वतर उपनिषद्‌में (२) पाया जाता है। उक्त दोनों उपनिषदोंमें लोहित शुक्ल कृष्ण कहकर (३) जिन तीन रूपोंका उल्लेख है वे ही सत्व, रजः, तमः ये तीनों गुण हैं। सोचकर देखनेसे जान पड़ता है कि अग्निके जलने या सूर्यके निकलनेकी प्रथम अवस्थाका वर्ण लोहित या लाल होता है, पीछे पूरी तौरसे आग जलने या सूर्य निकलनेपर शुक्ल वर्ण होता है। अन्तको आग बुझने या सूर्य अस्त होनेपर कृष्णवर्ण होता है।

ज्ञेय या पदार्थके प्रकार-निर्णयके लिए सभी देशोंके दार्शनिक पण्डितोंने प्रयास किया है। प्राचीन न्यायमें महर्षि गौतमने सोलह पदार्थोंका निर्देश किया है, किन्तु वह ज्ञेय पदार्थका प्रकारभेद नहीं है—वे न्यायदर्शनके सोलह विषय मात्र हैं।

महर्षि कणादने वैशेषिक दर्शनमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, और समवाय, पदार्थके ये छः प्रकारभेद कहे हैं। नव्यन्यायके मतमें पदार्थके उक्त छः प्रकारभेद अभावको मिलाकर सात कहे हैं (४)।

ग्रीस देशके दार्शनिक अरिस्टाटल (अरस्तू) के मतमें पदार्थ दस प्रकारके हैं, और उन प्रकारोंको उन्होंने 'काटिगरी' नामसे लिखा है (५)। उन दस प्रकारोंके बीच देश और कालको छोड़कर बाकी आठका समावेश न्यायके सात प्रकारोंमें हो जाता है।

जर्मन दार्शनिक कान्टके मतमें अरिस्टाटलका प्रकारभेद युक्तिसिद्ध नहीं है। उनके मतमें बहिर्जगत्‌के ज्ञेय पदार्थोंका मूल प्रकारभेद, ज्ञाताके अन्तर्जगत्‌में जो स्वतःसिद्ध मूल प्रकारभेदके नियम हैं, उन्हींका अनुगामी होना आवश्यक है। और तदनुसार वे प्रकार चार प्रकारके हैं। जैसे—१ परिमाण (एक, अनेक, समग्र), २ गुण (सत्ता, असत्ता, अपूर्ण सत्ता), ३ सम्बन्ध (समवाय, कार्य-कारण, सापेक्षता), ४ भाव (संभव, असंभव, अस्ति, नास्ति, निर्विकल्प, सविकल्प)। (६)

---

(१) ६ अ०, ४ खंड देखो। (२) ४ अ०, ५ ख०, देखो। (३) "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां।"

(४) द्रव्यं गुणास्तथाकर्म सामान्यं सविशेषकम्। समवायस्तथाभावः पदार्थाः सप्त कीर्तिताः॥ (५) Aristotle's Organon, Categories, Ch. IV देखो।

(६) Critique of Pure Reason, Max Muller's translation Vol. II. P. 71. देखो।

स्थूलभावसे देखा जाय तो द्रव्य, गुण, कर्म, सम्बन्ध और अभाव, ज्ञेय पदार्थके पाँच प्रकार निर्दिष्ट हो सकते हैं। अगर पहले इन पाँचमेंसे कोई एक दूसरेके भीतर न आवे, और दूसरे सब ज्ञेय पदार्थ या विषय ही इन पाँचमेंसे किसी-न-किसीके बीचमें अवश्य ही आजायँ, अर्थात् अगर ये पाँचों प्रकार परस्पर जुदे और सब विषयोंमें व्यापक हों, तो यह विभाग युक्तिसिद्ध मान लिया जा सकता है। अब देखना चाहिए यह बात होती है कि नहीं।

द्रव्यमें गुण रहता है, किन्तु द्रव्य गुण नहीं है—गुण भी द्रव्य नहीं है। घट बड़ा हो सकता है, लेकिन ' घट ' द्रव्य और ' बड़ा होना ' गुण, दोनों परस्पर भिन्न हैं। कर्म जो है सो द्रव्य या द्रव्यके गुण द्वारा संपन्न हो सकता है, लेकिन कर्म द्रव्य नहीं है, गुण भी नहीं है। बड़ा घट गिर गया, इस जगह ' गिर जाना ' कर्म घट और बड़ा होना, दोनोंसे पृथक् है। बड़े घड़ेके ऊपर छोटा घड़ा है, यहाँ पर ' ऊपर-तले ' यह सम्बन्ध दोनों घट और उनके गुण और कर्मसे भिन्न है। यहाँ घड़ा नहीं है, इस जगह घड़ेका अभाव घट और उसके गुण, कर्म या सम्बन्धसे भिन्न है। अतएव ऊपर कही गई पहली बात ठीक जान पड़ती है।

अब दूसरी बात ठीक है या नहीं, अर्थात् ज्ञेय पदार्थ या सब विषय उक्त पाँच प्रकारोंमेंसे किसी एकके भीतर अवश्य आ जाते हैं या नहीं, यह देखनेकी जरूरत है। यह परीक्षा उतनी सहज नहीं है, क्योंकि यहाँपर सभी ज्ञेय पदार्थों या विषयोंकी परीक्षा करनी है। यह तो अनायास ही देखा जाता है कि बहिर्जगत्के सब पदार्थ या विषय उक्त पाँच प्रकारोंके ही अन्तर्गत हैं। लेकिन यह प्रश्न यहाँ उठ सकता है कि देश और काल ये दोनों पदार्थ भी ऐसे ही हैं या नहीं? देश और काल केवल ज्ञाताके ज्ञानके नियम न होकर अगर ज्ञेय विषय हों, तो उनकी द्रव्यमें गिनती होगी। यदि देश और काल केवल ज्ञानके नियम अर्थात् अन्तर्जगत्के विषय हैं तो उनकी बात आगे कही जाती है। शक्तिको द्रव्य और गुण दोनों श्रेणियोंमें ग्रहण किया जा सकता है। अगर शक्तिको द्रव्यमें संनिहित सोचा जाय तो वह गुण है, और अगर उसे द्रव्यसे अलग देखा जाय तो शक्तिकी गिनती द्रव्यमें होनी चाहिए। अन्तर्जगत्के विषयोंमें, स्मृति, कल्पना या अनुमानके द्वारा उपलब्ध सब विषय, उनकी बहिर्जगत्की प्रतिकृति जिस जिस प्रकारके अन्तर्गत है उसी

उसी प्रकारके अन्तर्गत हैं। जैसे—याद किये गये मित्रकी मूर्ति द्रव्य है, कल्पित चाँदीके पहाड़का शुक्लवर्ण गुण है, इत्यादि। अन्तर्जगत्में जिनका अनुभव होता है वे सुख-दुःख आदि, जिनकी प्रतिकृति बहिर्जगत्में नहीं है, उनकी भी गिनती द्रव्यमें होनी चाहिए। कमसे कम 'द्रव्य' शब्द इसी अर्थमें लिया जाता है। चिन्तन-चेष्टा आदि अन्तर्जगतकी क्रियाओंका समावेश कर्मकी श्रेणीमें होगा। आत्मा और बुद्धिकी गिनती द्रव्यमें की जाती है। इनके सिवा कुछ पदार्थ अथवा विषय ऐसे हैं जिनके बारेमें यह संशय हो सकता है कि वे बहिर्जगत्के हैं या अन्तर्जगतके हैं, जैसे जाति। सब गऊ और घोड़े बहिर्जगत्में हैं। गोजाति या अश्वजाति बहिर्जगतमें हैं अथवा यह केवल ज्ञाताका अनुमान मात्र है, इस प्रश्नका उत्तर देते समय यद्यपि यह कहना पड़ेगा कि 'गो' 'अश्व' शब्द बहिर्जगतमें हैं, क्योंकि ये शब्द बहिर्जगत्में लिखे और पढ़े जाते हैं, किन्तु यह कहना सहज नहीं है कि गोजाति और अश्वजाति, विशेष विशेष गऊ और घोड़ेको छोड़कर, पृथक् भावसे, ज्ञाताके ज्ञानके सिवा, अलग बहिर्जगत्में हैं। हरएक गऊमें गोजातिके सब लक्षण और हरएक अश्वमें अश्वजातिके सब लक्षण विद्यमान हैं, किन्तु गोजाति या अश्वजाति विशेष गऊ या विशेष अश्वसे अलग बहिर्जगत्में नहीं देखी जाती। इस तरहसे विचार करनेपर गोत्व और अश्वत्व बहिर्जगतमें हरएक गऊ और हरएक अश्वका गुण है और गोजाति या अश्वजाति अन्तर्जगत्में द्रव्यरूपसे गणनीय है। ऐसे ही देश और काल अगर ज्ञानके नियम हैं तो उनकी भी गिनती द्रव्यमें होनी चाहिए।

अब यह बात कही जा सकती है कि बहिर्जगत् और अन्तर्जगतके सभी विषय उक्त पांच प्रकारोंके अन्तर्गत हैं।

तीसरा अध्याय ।

अन्तर्जगत् ।

ज्ञेयके सम्बन्धमें साधारणतः कई एक बातें पहलेके अध्यायमें कही जा चुकी हैं । ज्ञेय पदार्थके दो विभाग हैं, अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् । उन्हीं दोनों विभागोंकी अर्थात् अन्तर्जगत और बहिर्जगतकी कुछ आलोचना क्रमशः इस अध्याय और आगेके अध्यायमें की जायगी । इन दोनों विभागोंमेंसे अन्तर्जगत्के साथ हमारा बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है । इस लिए उसीका वर्णन पहले किया जायगा ।

अन्तर्जगत् हर एक ज्ञाताका भिन्न है । मेरा जो अन्तर्जगत् है वह अन्य ज्ञाताके लिए बहिर्जगत् है, और अन्यका अन्तर्जगत मेरे लिए बहिर्जगत् है । अन्तर्जगत्के सम्बन्धका ज्ञान अन्तर्दृष्टिके द्वारा प्राप्य है । सुभीतेके लिए यहाँ वह ज्ञान संज्ञाके नामसे अभिहित होगा ।

मेरे हृदयमें क्या हो रहा है, इस ओर मन लगाने या ध्यान देनेसे ही उसे मैं जान सकता हूं । जाग्रत अवस्थाकी हर घड़ीकी बात जानी जाती है। निद्रित अवस्थाकी भी बहुत सी बातें उसी अवस्थामें स्वप्नरूपसे जान सकते हैं और जगने पर भी याद रहती हैं । किन्तु अपनी गहरी सुषुप्तिके समय मुझे उस समयकी अपने अन्तर्जगतकी किसी बातकी संज्ञा नहीं रहती, और जागने पर भी कुछ याद नहीं रहता ।

भीतर या बाहरके किसी विषयमें एकदम पूर्णरूपसे मनोनिवेश होने पर उस समय और किसी विषयकी संज्ञा नहीं रहती । यह संज्ञाका एक साधारण नियम है ।

यह नियम हमारे लिए परमहितकारी है। इस नियमके होनेसे ही अन्तर्जगत्के, और अपने ज्ञानकी सीमाके अन्तर्गत बहिर्जगत्के, विषय द्वारा, प्रतिघातको प्राप्त होने पर भी हम विचलित नहीं होते, और वाञ्छित विषयमें मन लगा सकते हैं। इस नियमके होनेसे ही हम वर्तमान क्षणिक सुख-दुःखको तुच्छ करके स्थायी दुःखको मिटानेकी और स्थायी सुख पानेकी चेष्टा कर सकते हैं। इसी नियमके प्रभावसे ज्ञानी लोग श्रमसे होनेवाले क्लेशका अनुभव न करके दुरूह शास्त्रकी आलोचनामें समय बिता सकते हैं। इसी नियमके प्रभावसे कर्म करनेवाले लोग सुखके प्रलोभन पर दृष्टि भी न डालकर कठोर कर्तव्य पालनेमें समर्थ होते हैं। इसी नियमके प्रभावसे योग अर्थात् चित्तकी वृत्तियोंको रोकना साध्य है, और योगी लोग विषयवासना त्याग कर तत्त्वज्ञानलाभके लिए दृढ़व्रत हो सकते हैं। किन्तु एक विषयमें मनोनिवेशका नियम जैसे शुभकर है, वैसे ही इस नियममें अभ्यस्त होना परिश्रमसाध्य है। अतएव जितनी जल्दी एकाग्रताके साथ मनोनिवेशका अभ्यास आरंभ किया जाय उतना ही अच्छा है।

इस जगह पर यह भी कहना आवश्यक है कि यद्यपि एक विषयमें निविष्टचित्त रहनेसे अन्य किसी विषयकी संज्ञा नहीं होती, तो भी आत्मा विषयान्तरके जिन प्रतिघातोंको पाता है वे एकदम निष्फल नहीं जाते, और इसका प्रमाण पाया जाता है कि शरीरके या मनके अवस्था विशेषमें वह पहलेपहल अपरिज्ञात विषय संज्ञाकी सीमाके बाहर परिज्ञात हुआ था। जैसे, अन्यमनस्क रहनेके कारण यद्यपि किसी समय किसी विषयके दिखाई देने या सुन पड़ने पर भी उसे देखने या सुननेकी संज्ञा मुझे नहीं हुई, तथापि शरीरकी उत्कट पीड़ाकी अवस्थामें, या मनकी उत्कट चिन्ताकी अवस्थामें यह जान पड़ता है कि मैंने वह विषय देखा या सुना था। ऐसा विश्वस्त वृत्तान्त अनेक लोगोंने सुना है। इसके द्वारा यह प्रमाणित होता है कि ज्ञाताकी संज्ञाकी सीमाके बाहर भी ज्ञानकी परिधि फैली है।

अन्तर्जगत्के विषयोंमें पहले ही आत्मज्ञान और उसके साथ आत्मा अनात्माके भेदका ज्ञान उत्पन्न होता है। यद्यपि ठीक नहीं कहा जा सकता कि बच्चेके मनमें क्या होता है, तो भी जहाँतक हम समझ सकते हैं उससे

जान पड़ता है कि प्रथम संज्ञाके साथ ही साथ आत्मज्ञान उत्पन्न होता है, और आत्मज्ञानको संज्ञाका दूसरा नाम भी अगर कहें तो कह सकते हैं ।

पीछे क्रमशः अन्तःकरणकी जुदी जुदी शक्तियों या क्रियाओं और बाहरकी भिन्न भिन्न वस्तुओं और विषयोंके संबंधमें ज्ञान उत्पन्न होता है । बहिर्जगत् और अन्तर्जगत्के परस्पर घात-प्रतिघातसे ज्ञानका विस्तार बढ़ता जाता है । वह घात-प्रतिघात समझनेके लिए इस अन्तर्जगत्-शीर्षक अध्यायमें ही बहिर्जगत्की दो-एक बातोंकी अवतारणा करनेकी आवश्यकता है ।

इस जगह पहले ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जिन शक्तियों या क्रियाओंका नाम लिया गया है वे किसकी शक्ति या क्रिया हैं ?

जड़वादी लोग कहते हैं कि अन्तर्जगत्की क्रियाएँ देहकी अर्थात् सजीव देहकी क्रिया हैं । किन्तु चैतन्यवादी लोग एकमत नहीं हैं । उनमेंसे कोई कहते हैं कि वे मनकी या अहंकारकी क्रिया हैं, और कोई कहते हैं कि वे आत्माकी क्रिया हैं । जड़वादके विरुद्ध जो सब आपत्तियाँ हैं उनका उल्लेख 'ज्ञाता' शीर्षक अध्यायमें हो चुका है । प्रथमोक्त श्रेणीके चैतन्यवादियोंके मतमें आत्मा निर्विकार और निष्क्रिय है, और अन्तर्जगत्की जो कुछ क्रियाएँ हैं वे मनकी या अहंकारकी हैं । आत्मा देहबन्धनमुक्त और पूर्ण ज्ञानको प्राप्त होने पर किस भावको धारण करेगा, सो ठीक कहा नहीं जा सकता । किन्तु देहयुक्त और अपूर्णज्ञानविशिष्ट आत्माके साथ मन या अहंकारके अलगावका कोई प्रमाण, अन्तर्जगत्के एकमात्र साक्षी आत्मासे पूछने पर, प्राप्त नहीं होता । अतएव अन्तर्जगत्की क्रिया आदि आत्माकी क्रिया ही मानी जायँगी * ।

बहिर्जगत्के संसर्गमें अन्तर्जगत्की जो सब क्रियाएँ होती हैं उनके पहले ही **इन्द्रियस्फुरण** होता है । इन्द्रियाँ द्विविध हैं । चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक् ये पांच ज्ञानेंद्रिय हैं, और हाथ-पैर आदि पांच कर्मेन्द्रिय हैं । इन दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंके कार्य सब शरीरमें व्याप्त स्नायुजाल और मस्तकके अभ्यंतर भागमें स्थित मस्तिष्कके द्वारा संपन्न होते हैं । उस स्नायुजालकी और मस्तिष्ककी गठन और क्रियाका विवरण विस्तारके साथ लिखना इस ग्रन्थका उद्देश्य नहीं है । उसे जाननेकी जिन पाठकोंको इच्छा

* सांख्यदर्शन अ० २, सूत्र २९ और वैशेषिक दर्शनका ३ अध्याय देखो ।

हो, वे शरीरतत्त्वकी और शरीरतत्त्वमूलक मनोविज्ञानकी पुस्तकें † पढ़ सकते हैं। इस जगह पर केवल ज्ञानेंद्रियोंके संबंधमें संक्षेपसे दो-चार बातें कही जायँगी। देखना, सुनना, सूँघना, चखना और छूना ये क्रमसे चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वक् इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंकी क्रिया या स्फुरण हैं। इनका आरम्भ देहमें और समाप्ति आत्मामें होती है। ये देहकी क्रियाएँ किस तरह आत्माकी क्रिया (बाह्यवस्तुज्ञान) के रूपमें परिणत होती हैं, यह अभी अज्ञात है। परन्तु वस्तु-ज्ञानके पहले हरएक इन्द्रियकी शारीरिक क्रिया कैसी होती है, इसका आविष्कार शरीरतत्त्वके ज्ञाता पण्डितोंके द्वारा बहुत कुछ हो चुका है। इसका पूरा ब्यौरा बहुत बड़ा है। यहाँ उसकी केवल कुछ मोटी मोटी बातें संक्षेपमें कही जायँगी।

चक्षुकी क्रिया कैसी है।—किसी वस्तुपर प्रकाश पड़ा, वह प्रकाश बिना बाधाके अगर आँखों तक पहुँचा तो आँखके भीतर जो सूक्ष्म नसोंका जाल है उसपर देखी हुई वस्तुकी प्रतिकृति अंकित होती है। साधारणतः आँखकी बनावट ऐसी अच्छी होती है कि वह प्रतिकृति देखी हुई चीजके आकारकी ठीक तसबीर होती है। बुढ़ापेमें या किसी चक्षुरोगके कारण आँखदोष पैदा-होनेपर वह प्रतिकृति ठीक नहीं होती। देखी हुई वस्तुके आकारका ज्ञान विशुद्ध होना या न होना प्रतिकृतिके अविकल होनेकी कमीवेशीके ऊपर निर्भर है। वह प्रतिकृति सूक्ष्म स्नायुजालके ऊपर अंकित होती है और उसमें स्पन्दन पैदा करती है। वह स्पन्दन मस्तिष्कमें पहुँचाया जाता है, उसके बाद दर्शन-ज्ञान उत्पन्न होता है।

कानका काम स्थूलरूपसे इस तरह होता है कि शब्दके द्वारा शब्दवाही वायुका जो स्पन्दन होता है, वह कानके छेदमें पहुँचकर वहाँके पटहचर्म पर आघात करता है। उस आघातसे उसमें स्पन्दन होता है। वह स्पन्दन कानके भीतरी भागमें स्थित सूक्ष्म केसर-पुंजको स्पन्दित करता है। वह स्पन्दन स्नायुद्वारा मस्तिष्कमें पहुँचता है, और उससे शब्दका ज्ञान पैदा होता है।

नाक, जबान और त्वचाके सूक्ष्म सूक्ष्म स्नायुओंके साथ बाह्यवस्तुके गंध-रेणु, स्वादरस और आकार, उत्ताप मिलित होकर उनमें स्पन्दन पैदा करते

† Forster's physiology और Ladd's physiological psychology देखो।

हैं। वह स्नायुओंका स्पन्दन मस्तिष्कमें पहुँचकर सूँघने, चखने और छूनेके ज्ञानको उत्पन्न करता है। आँख, कान आदि इन्द्रियोंके स्फुरण द्वारा बहिर्जग त्का प्रत्यक्ष ज्ञान पैदा होता है और साथ ही साथ इस बातकी संज्ञा प्राप्त होती है कि ज्ञातामें वह ज्ञान उत्पन्न हो रहा है।

इनके सिवा अन्तर्जगत्की और भी कुछ विचित्र क्रियायें हैं। जो एक बार प्रत्यक्ष हो चुका है वह बादको प्रत्यक्ष न हो तो भी वह फिर ज्ञानकी परिधिके भीतर लाया जा सकता है। जैसे, एक समय विश्वनाथका मंदिर मैंने देखा है, या वेदमंत्र पढ़ा है। अन्यसमय उसे न देखकर या न सुनकर भी मैं उस मंदिरके रूपका वर्णन कर सकता हूँ या उस मंत्रका शब्दविन्यास सुना सकता हूँ। इस क्रियाका नाम है **स्मरण** करना, और जिस शक्तिके द्वारा यह संपन्न होता है, उसे **स्मृति** कहते हैं।

जो प्रत्यक्ष हो चुका है, उसे जिसरूपसे प्रत्यक्ष किया है ठीक उसी रूपसे स्मरण न करके, कल्पित परिवर्तित रूपसे भी मैं ज्ञानकी परिधिके भीतर लासकता हूँ। जैसे, घोड़ा या हाथी देखा है, और घोड़ेकी तरहके पैर आदि अंगवाले और हाथीकी तरह मस्तकवाले पशुका रूप भी मैं अपने मनके सामने उपस्थित कर सकता हुं। इसी क्रियाको **कल्पना** करना, और उसे सम्पन्न करनेकी शक्तिको **कल्पना** कहते हैं।

जो प्रत्यक्ष या कल्पित हुआ है, उसका जातिविभाग और उस जातिका नाम रखकर उससे मैं नवीन तत्त्वको ज्ञानकी परिधिके भीतर ला सकता हूँ। जैसे किसी जगह तरह तरहके जन्तुओंको देखकर, उनमेंसे कुछको गोजाति, कुछको अश्वजाति, कुछको मेषजाति ठीक करके, उनके गऊ, घोड़ा, मेष आदि नाम रख सकते हैं। किसी जगहपर धुआँ देखकर हम यह निश्चय कर सकते हैं कि वहाँपर आग है। दो सरल रेखाओंमेंसे हरएक रेखा दूसरी रेखाके साथ समान्तर है, यह कल्पनाकरके हम इस सिद्धान्तपर पहुँच सकते हैं कि वे परस्पर समान्तर हैं। इन सब क्रियाओंका नाम **अनुमान** है। जिस शक्तिके द्वारा ये क्रियायें संपन्न होती हैं उसे **बुद्धि** कहते हैं।

ऊपर कही गई क्रियाओंके सिवा अन्तर्जगत्की और एक श्रेणीकी क्रिया है, जैसे—सुख, दुःख, प्रीति, हिंसा, भक्ति, घृणा, अनुराग, विद्वेष आदिका अनुभव करना।

इनके सिवा अन्तर्जगत्‌की और एक तरहकी क्रिया है। जैसे, इच्छा और प्रयत्न अर्थात् कर्म करनेकी चेष्टा।

इन सब क्रियाओं या शक्तियोंकी अच्छी तरह पूर्ण रूपसे आलोचना करनेके लिए बहुतसा स्थान और समय चाहिए। यह विषय भी इस क्षुद्र ग्रन्थका उद्देश्य नहीं है। तो भी हरएक क्रियाके सम्बन्धमें संक्षेपमें कुछ कहा जायगा।

यहाँपर एक विषयका उल्लेख करना आवश्यक है। स्मरणकल्पना आदि कार्य मनकी या आत्माकी भिन्न भिन्न शक्तियोंके द्वारा संपन्न होते हैं, यह बात कहनेमें अनेक लोग आपत्ति करते हैं। वे कहते हैं कि मन या आत्मा एक पदार्थ है; उसके भिन्नभिन्न शक्तियोंके रहनेका कोई प्रमाण नहीं है। जैसे देहके भिन्नभिन्न भागोंमें भिन्नभिन्न इन्द्रिय आदि अंगपत्यंग हैं, वैसे ही मन या आत्माके भिन्नभिन्न भागोंमें भिन्नभिन्न शक्तियाँ हैं, ऐसा समझना अवश्य ही भ्रान्तिमूलक है। कारण, मनके या आत्माके भिन्नभिन्न नाम होनेका अनुमान नहीं किया जा सकता। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि स्मरण, कल्पना आदि भिन्नभिन्न कार्य उसके हैं, और उन कार्योंके करनेकी शक्ति भी निःसन्देह मन या आत्माके है। अतएव मनकी या आत्माकी स्मरण–कल्पना आदि भिन्न-भिन्न कार्य करनेकी शक्ति अगर भिन्नभिन्न नामोंसे पुकारी जाय और भिन्न-भिन्न भावसे विवेचित हो, तो उसमें कोई संगत बाधा नहीं देखी जाती। किन्तु यह बात याद रखना उचित है कि आत्माके कोई कार्य करनेकी शक्ति है, यह कह देनेसे ही उस कार्यके तत्त्वकी संपूर्ण खोज या कारणका निर्देश नहीं होता।

स्मृतिके संबन्धमें प्रधानरूपसे इन कई बातोंकी विवेचना करनी है। १–स्मृतिके विषय क्या क्या हैं, २–स्मृतिका कार्य किसतरह संपन्न होता है, ३—स्मृतिका कार्य किन किन नियमोंके अधीन है? ४—स्मृतिका ह्रास या वृद्धि क्यों और कैसे होती है?

१–स्मृतिके विषय। जो देखा या सुना है वह स्मरण किया जाता है। देखे हुए विषयका स्मरण होनेसे वह मन ही मन चित्रित किया जाता है, और स्मरण करनेवाला अगर चित्रविद्यामें निपुण होता है तो वह उस विषयको अंकित करके औरको दिखा सकता है। वैसे ही सुने हुए विषयका स्मरण होनेसे उसकी ध्वनिकी आवृत्ति की जाती है, और स्मरण करनेवाला अगर

ध्वनिकी आवृति करनेके काममें निपुण होता है तो वह सुने हुए विषयकी आवृति करके अन्यको सुना सकता है। पहले कभी अनुभव किये गये घ्राण (किसी गंधको सूँघने), आस्वादन (किसी रसका स्वाद लेने) या स्पर्श (किसी वस्तुको छूने) का स्मरण वैसे ही नहीं किया जाता। इनका स्मरण बस यहीं तक किया जाता है कि वह सूँघना या छूना अमुक पदार्थके सूँघने या छूनेकी तरह था । केवल यही कहा जा सकता है। उसी तरहके सूँघने, चखने या छूनेका फिर अनुभव होने पर यह भी कहा जा सकता है कि वह पहलेके सूँघने, चखने या छूनेके समान है।

२-स्मृतिका कार्य कैसे होता है?—स्मृतिका कार्य अति विचित्र है, वह कैसे संपन्न होता है—यह कहना सहज नहीं । पूर्ण ज्ञानके लिए भूत, भविष्य, वर्तमान, ये तीनों काल एक हैं, और सभी ज्ञानोंके विषय एक समयमें उसी ज्ञानकी अनन्त परिधिके भीतर विद्यमान होते हैं। किन्तु अपूर्ण ज्ञानके लिए ज्ञात विषयका केवल थोड़ा अंश ही एक समयमें ज्ञानकी सीमाके भीतर प्रकट रहता है, और उस ज्ञानका अधिकांश उस सीमाके बाहर अप्रकट रूपसे अवस्थित रहता है, और वह स्मृतिके द्वारा कभी चेष्टा करनेसे और कभी बिना चेष्टाके ही उस ज्ञानकी सीमाके भीतर आता है। यहाँतक अन्तर्दृष्टिके द्वारा अनायास ही जाना जाता है । किन्तु याद किये जानेके पहले वे सब ज्ञात विषय कहाँ, किस तरह, रहते हैं, और किस तरह स्मृतिगोचर होते हैं, यह कहना सहज नहीं है।

कोई कहते हैं, किसी विषयका प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होनेके समय इन्द्रिय-स्फुरण मस्तिष्कमें पहुँचता है और उससे वहाँ स्पन्दन और कुंचन होता है। जब वह स्पन्दन थम जाता है तब ज्ञात विषय ज्ञानकी सीमाके बाहर पड़ जाता है, किन्तु मस्तिष्कका कुंचन वैसा ही रह जाता है । बादको ज्ञाताकी इच्छाके अनुसार या अन्य कारणसे अपने निकटवर्ती या संसृष्ट किसी भागकी गतिविशेषके द्वारा वह कुंचित भाग फिर स्पंदित होता है और तब वह ज्ञात विषय फिर स्मरण हो आता है। यह बात सच हो सकती है। हम लोग विस्मृत विषयको स्मरण करनेके लिए उसके आनुषंगिक विषयोंकी ओर ध्यान दिया करते हैं। हमारी यह प्रक्रिया उक्त सिद्धान्तकी सचाईको बहुत कुछ प्रमाणित करती है। किन्तु बात सच होने पर भी, उसके द्वारा स्मृतिक्रियाका

पूरा मर्म नहीं विदित होता। विस्मृत विषय याद आने पर यह बात कौन हमें बता देता है कि वह विषय नया नहीं, पूर्वपरिचित है ? यह ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है ? जड़वादी लोग इस प्रश्नका कोई युक्तिसिद्ध उत्तर नहीं दे सकते, और चैतन्यवादी लोग केवल इतना ही कह सकते हैं कि पूर्वापर-के इस सादृश्य या एकताका परिचय पाना आत्माका स्वभावसिद्ध कार्य है।

प्रत्यक्ष ज्ञान पानेके लिए देहकी, अर्थात् इन्द्रिय आदिकी, सहायता जैसे आवश्यक है, वैसे ही पूर्वप्रत्यक्षप्राप्त ज्ञानको स्मृति पथमें लानेके लिए देह-की, अर्थात् मस्तिष्ककी या किसी अन्य भागकी, सहायता आवश्यक है या नहीं, इस विषयका अनुशीलन अतीव आवश्यक है, लेकिन वह है भी अत्यन्त कठिन। इन्द्रियोंके कार्योंकी परीक्षा करना जितना सहज है, उसकी अपेक्षा मस्तिष्कके कार्योंकी परीक्षा करना अधिक दुरूह है।

३—स्मृतिके कार्य किन किन नियमोंके अधीन हैं ?—यद्यपि स्मृतिके काम कैसे होते हैं, यह ठीक कहना अत्यन्त कठिन है, किन्तु वे कार्य किन किन नियमोंके अधीन होते हैं, इसका अनुशीलन उसकी अपेक्षा सहज है। किसी विषयको स्मरण रखने और किसी भूले हुए विषयको याद करनेके लिए हम आप क्या करते हैं, और अन्य लोग क्या करते हैं, इस पर ध्यान देकर हम इस बारेमें जिस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं, वह संक्षेपमें यह है कि—

पहले तो, हम जितना ही अधिक समय तक या अधिक बार मन लगाकर किसी विषयकी आलोचना करते हैं, उतना ही वह विषय अधिक दिनोंतक हमें स्मरण रहता है, और भूल जानेपर उतनी ही जल्दी सहजमें स्मरण हो आता है।

स्मरण करनेका विषय कोई वाक्य हुआ तो उसे अनेक वार रटनेका फल यह होता है कि बादको कुछ अंश पढ़ने पर अवशिष्ट अंशकी आवृत्ति अना-यास आपहीसे हो जाती है।

दूसरे, स्मरण रखनेके विषयके साथ साथ उसके सब आनुषंगिक विषयोंके प्रति, और वे मूलविषयके साथ जिस जिस सम्बन्धमें बँधे हैं उनके प्रति, विशेष ध्यान देनेसे, आनुषंगिक विषयोंमेंसे कोई भी एक याद आजानेसे साथ ही साथ मूल विषय भी स्मरण हो आता है।

तीसरे, कोई विस्मृत्त विषय स्मरण करना हो तो उसके जो जो आनुषंगिक विषय याद हों, उनकी आलोचना करते करते मूल विषय स्मरण हो आता है। जैसे, किसी पूर्वपरिचित व्यक्तिका नाम भूल जाने पर, उस नामके साथ जिस जिस नामका सादृश्य समझ पड़े उस उस नामका खयाल करते करते भूला हुआ नाम स्मरण हो आता है।

४–स्मृतिका ह्रास और वृद्धि कैसी होती है ?—जैसे किसी विषय पर अधिक समय तक या अनेक वार मन लगानेसे वह बहुत दिन तक याद रहता है और भूल जाने पर भी सहजमें ही स्मरण हो आता है, वैसे ही किसी विषयके ऊपर बहुत दिन तक ध्यान न देनेसे उसकी स्मृति घटती है, और बीच बीचमें उस ओर मनोनिवेशसे उसकी स्मृति बढ़ती है।

इसके सिवा स्मृतिके घटने-बढ़नेके और भी कारण हैं। अनेक स्थलों पर शरीरकी अवस्थाके ऊपर स्मृतिका घटना-बढ़ना निर्भर होता है। उत्कट पीड़ाकी अवस्थामें किसी किसी विषयकी पूर्वस्मृति एकदम लुप्त हो जाती है, और कभी कभी बहुत दिनोंकी भूली हुई बात अत्यन्त स्पष्ट रूपसे स्मरण हो आती है। साधारणतः बुढ़ापेमें स्मृतिशक्ति घटती देखी जाती है।

जड़वादी लोग अपने मतका समर्थन करनेके लिए पीछे कहे हुए कारण पर विशेष निर्भर करते हैं। बात भी सोचनेके लायक जरूर है। आत्मा अगर देहसे अलग है तो देहकी घटतीके साथ ही आत्माकी स्मृतिशक्तिका ह्रास क्यों होता है ? इसके उत्तरमें इतना ही कहा जा सकता है कि आत्मा देहसे अलग अवश्य है, लेकिन जब तक देहयुक्त है तबतक वह देहकी अवस्थाओंमें जड़ित है, अतएव अपने काममें देहसे सहायता या बाधा पाता है।

स्मृतिकी सहायताके लिए तरह तरहके कौशल निकाले गये हैं। जैसे, संक्षेपमें सूत्रोंकी रचना और उनके द्वारा शास्त्र सीखना। ये विषय बहुत विस्तृत हैं, और इसी कारण यहाँ इनकी आलोचनाके लिए स्थान नहीं है।

प्रत्यक्षके द्वारा बहिर्जगत्का ज्ञान प्राप्त होता है। स्मृति जो है वह पूर्वलब्ध ज्ञान फिर ला देती है। कल्पना जो है वह पूर्वलब्ध ज्ञानको इच्छानुसार रूपान्तरित करके ज्ञाताके सामने उपस्थित करती है। वह रूपान्तर अनेक प्रकारका होता है, अनेक प्रयोजनों और उद्देशोंसे उसकी कल्पना होती है। कभी आनन्दके उद्भव और नीतिशिक्षाके लिए कल्पना जो है वह पूर्व परि-

ज्ञात विषयको तोड़ कर गढ़ कर सुन्दरको अधिकतर सुंदर, भयानकको अधिकतर भयानक, करुणको अधिकतर करुण बनाकर दिखाती है, जैसा कि काव्यके ग्रन्थोंमें देखा जाता है। कभी कल्पना जो है वह ज्ञानलाभकी सुविधाके लिए आलोच्य विषयके जटिल भागको तोड़ फोड़ कर सरल करती हुई क्षुद्रको बृहत और बृहतको क्षुद्र बनाती हुई, या अपरिचितको तत्समभावापन्न परिचितकी पोशाकमें सजाकर सामने उपस्थित करती है, जैसा कि विज्ञान-दर्शन आदिके ग्रन्थोंमें पाया जाता है। और कभी, गहरी गवेषणामें जहाँ बुद्धि किसी ध्रुव अवलम्बनको नहीं पाती, वहाँ कल्पना अस्थायी अवलम्बन आरोपित करके तत्त्वकी खोजके कामको सुकर बना देती है, जैसे विज्ञानशास्त्रमें व्योम (ईथर) की कल्पना है। कल्पना केवल कविकी ही आनन्दमयी सहचरी नहीं है। कल्पना दार्शनिक और वैज्ञानिकको भी राह दिखानेवाली साथिन है।

कल्पनाके सम्बन्धमें दो बातें विशेष विवेचनाके योग्य हैं। १—कल्पनाके विषय, और २—कल्पनाके नियम।

१—कल्पनाके विषय। पूर्वपरिज्ञात विषयोंको लेकर ही कल्पनाका कार्य होता है। जाने हुए विषयको तोड़-फोड़कर उसीके संयोग-वियोगद्वारा हम कल्पित विषयकी सृष्टि करते हैं। कोई कोई कहते हैं कि कल्पनाके कार्य दो तरहके हैं। कभी जाने हुए विषयको तोड़-फोड़कर गढ़ना, जैसे कविकी कल्पनाका कार्य। और कभी नये विषयकी सृष्टि करना, जैसे नवीन तत्त्वका आविष्कार या नई तरहके यन्त्र आदिका निर्माण। किन्तु कुछ सोच-कर देखनेहीसे समझमें आ जाता है कि नवीनकी नवीनता निरवच्छिन्न या सम्पूर्ण नवीनता नहीं है—वह पुरातनके संयोग-वियोगसे ही रची गई है।

२—कल्पनाके नियम। वर्तमान और निकटवर्तीके साथ कल्पनाका सम्बन्ध बहुत थोड़ा है; भूत, भविष्य और दूरस्थितके साथ ही उसका अधिक सम्बन्ध है। यही कल्पनाका स्थूल नियम है। जो लोग वर्तमान और निकटस्थ व्यापारमें व्यस्त रहते हैं उनके मनमें कल्पना अधिक स्थान नहीं पाती, काव्य आदि कल्पनासे उत्पन्न पदार्थ भी उन्हें अधिक प्रीतिप्रद नहीं होते। वैसे ही जिनके चित्तमें कल्पना प्रबल है, वे केवल वर्तमान और निकटस्थ विषयको ही लेकर तन्मय नहीं रह सकते—उनका मन भूत, भविष्य और दूरस्थ विषयोंकी ओर दौड़ता रहता है। कल्पना जब अत्यन्त

अधिक शान्त हो जाती है तब मन संकीर्ण हो जाता है। मनुष्य अत्यन्त स्वार्थपर और अदूरदर्शी हो जाता है। और कल्पना अगर अधिक प्रश्रय पाती है तो मनुष्य यथार्थ जगत्को भूलकर कल्पित जगत्में रहना चाहता है, और उसका सत्यके प्रति सच्चा अनुराग कम हो जाता है। इस लिए किसी भी तरफकी अधिकता शुभ नहीं है।

हम प्रत्यक्षके द्वारा बहिर्जगत्के विषयोंको जान सकते हैं। स्मृति जो है वह सब पूर्वपरिज्ञात विषयोंको ज्ञानकी परिधिके भीतर ले आती है। कल्पना उसे अनेक रूपोंमें परिवर्तित करके नये नये विषयोंकी सृष्टि करती है। और बुद्धि भी पूर्वपरिज्ञात विषयसे नाना प्रकारके नवीन तत्त्व निकालती है।

लेकिन कल्पनाके कार्य और बुद्धिके कार्यमें भेद यही है कि कल्पनाप्रसूत सब विषय यथार्थ नहीं भी हो सकते हैं, किन्तु बुद्धिके द्वारा निरूपित सब विषयों या तत्त्वोंके यथार्थ होनेकी आवश्यकता है। प्रधानतः बुद्धिके कार्य दो तरहके हैं—१, ज्ञात विषयको श्रेणीबद्ध करना और २, ज्ञात विषयसे अज्ञात विषयका निरूपण।

हमारे जाने हुए विषयोंकी संख्या इतनी अधिक है और वे इतने प्रकारके अर्थात् विविध हैं कि कुछ दिनके बाद उन्हें श्रेणीबद्ध न कर सकनेसे ज्ञान-लाभ और पूर्वलब्ध ज्ञानके फलकी प्राप्ति उत्तरोत्तर असाध्य हो उठती है। जैसे, किसी द्रव्य-भाण्डारमें बहुतसी तरह तरहकी चीजें भरी हों तो उन्हें सुश्रृंखलित रूपमें रक्खे बिना उसमें नई चीज रखनेका स्थान क्रमशः कम हो जाता है, और प्रयोजनके अनुसार कोई चीज उसमेंसे खोज निकालना कठिन हो जाता है, वैसे वही हाल हमारे ज्ञान-भाण्डारका होता है।

बुद्धि हमारे जाने हुए सब विषयोंको श्रेणीबद्ध करके सजा रखती है, और यह श्रेणीबद्ध करना बुद्धिके प्रथम विकाससे ही क्रमशः आरंभ होता है। बच्चा एक वस्तु देखकर बादको अगर वैसी ही वस्तु देखता है तो उसे प्रथमोक्त वस्तुके नामसे पुकारता है। वह द्रव्य, गुण, कर्म, इन त्रिविध पदार्थोंका श्रेणीविभाग करता है, और बादको सम्बन्धका श्रेणीविभाग करना सीखता है। कारण, प्रथमोक्त त्रिविध पदार्थ सहजमें ज्ञेय हैं, और सम्बन्ध उसकी अपेक्षा दुर्ज्ञेय पदार्थ है। हम पहले मनुष्य, पशु, वृक्ष, फल आदि द्रव्योंका—सफेद, लाल, काले, पीले आदि वर्णों अर्थात् गुणोंका—जाना, खाना, पीना,

सोना आदि कर्मोंका—श्रेणीविभाग करते हैं। बादको ‘ सूर्यका उदय प्रकाशका कारण है, ’ ‘ अग्नि उत्तापका कारण है, ’ इत्यादि कार्य-कारण सम्बन्धका, और ‘ दिनके बाद रात होती है, ’ ‘ आजके बाद कल होता है, ’ इत्यादि पूर्वापर सम्बन्धका, ‘ वृक्ष वृक्ष समान हैं, ’ ‘ वृक्ष और पशु असमान हैं, ’ इत्यादि साम्य-वैषम्य संबंधका श्रेणीविभाग करना सीखते हैं। और, पदार्थकी श्रेणी या जातिविभागके साथ साथ हरएक श्रेणी या जातिको उसके जातीय नामसे पुकारते हैं।

वस्तुओंकी जाति या श्रेणीका विभाग उनकी परस्परकी समता या विषमताके ऊपर निर्भर है। सब गऊ अनेक विषयमें समान हैं, इस लिए वे सब गोजाति हैं, और जो जो गुण या लक्षण गऊमात्रमें समान हैं उनकी समष्टिको गोत्व कहा जाता है। उसी तरह अश्वजाति, मेषजाति इत्यादिका निरूपण होता है। और, गऊ, घोड़ा, मेष आदि परस्पर कई विषयमें समान हैं, इसी लिए उन सभीको पशुजाति कहते हैं, और जो जो लक्षण उन सबमें हैं उनकी समष्टिको पशुत्व कहते हैं। वैसे ही पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि सब जीव कई विषयोंमें परस्पर समान हैं, इस लिए वे जन्तु जाति हैं, इत्यादि। इसी प्रकार जितना ही एक जातिसे उसकी अपेक्षा अधिक बड़ी जातिमें जाया जाता है, उतना ही एक ओर जैसे जातिके अन्तर्गत वस्तुकी संख्या बढ़ती रहती है, वैसे ही दूसरी ओर जातिके सामान्य गुणोंकी संख्या घटती जाती है।

पहले ही (ज्ञेय पदार्थके प्रकारभेदकी आलोचनामें) कहा जा चुका है कि बहिर्जगत्में पृथक् पृथक् वस्तुएँ हैं, और हरएकका खास गुण है, उनमें समता और विषमता भी है। इसके सिवा वस्तुसे पृथक् जाति बहिर्जगत्में नहीं है, वह केवल अन्तर्जगत्का विषय है। जातीय गुण वस्तुमें प्रत्यक्ष किये जाते हैं, किंतु कोई जाति या जातित्व उस जातिकी विशेष वस्तुसे अलग इन्द्रियद्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता; वह केवल बुद्धिके द्वारा अंकित या अनुमित हो सकता है।

कोई कोई लोग यह भी कहते हैं कि बुद्धि भी मूर्तिके द्वारा जातिको नहीं अंकित कर सकती, केवल नामके द्वारा जाति-निर्देश कर सकती है। जैसे, हम जब गोजातिको ध्यानमें लाते हैं तब जो मूर्ति मनमें आती है वह गोजा-

तिकी नहीं, किन्तु किसी खास गऊकी होती है। लेकिन हाँ, उस समय हम उसकी विशेषता, अर्थात् उसके खास रंग या, उसकी खास लंबाई-चौड़ाई पर लक्ष्य न रखकर गोनामकी जातिके लक्षणोंकी समष्टिपर लक्ष्य रखते हैं। पीछे कही गई बात ठीक जरूर है, लेकिन यह बात कहनेहीमें प्रकारान्तरसे यह कहा गया कि जातिके लक्षणोंकी समष्टिको एकत्र करके, अन्य लक्षणोंपर दृष्टि न रखकर, बुद्धि सोच सकती है। इसी कारण जाति अर्थात् जातीय-लक्षणसमष्टि केवल नाम नहीं है, वह बोधगम्य अन्तर्जगत्का विषय है। और, यद्यपि उस साधारण गुणसमष्टिको मूर्तिके द्वारा स्पष्ट अंकित करनेमें, उस मूर्तिमें सब विशेष गुण आप आ जाते हैं, लेकिन किसी विशेष गुणपर लक्ष्य न रखकर उस साधारण गुणसमष्टिको अस्पष्ट चित्रकी तरह सोचा जा सकता है, और सोचा जाता है। अन्तर्दृष्टिके द्वारा भी यही बात प्रमाणित होती है।

जाति वस्तु क्या केवल नाममात्र है?—यह प्रश्न लेकर दार्शनिक विद्वानोंमें बहुत कुछ वादानुवाद हुआ है *। जाति केवल नाम नहीं है, यह दिखाया जा चुका है। उधर पक्षान्तरमें यह भी कहा गया है कि जाति बहि-र्जगत्की वस्तु नहीं है। जाति अन्तर्जगत्का विषय और बोधगम्य वस्तु है, और किसी बहिर्जगत्की वस्तुकी जातीय गुणसमष्टि, उस जातिकी हरएक वस्तुमें, अन्यान्य गुणोंके साथ, बहिर्जगत्में, विद्यमान रहती है।

यद्यपि जाति केवल मात्र नाम नहीं है, तो भी जाति विषयकी आलोचनामें नाम एक अत्यन्त प्रयोजनीय वस्तु है। साधारणतः नाम या शब्द या भाषा, क्या जातिके और क्या वस्तुके, सभी विषयोंके चिन्तन (सोचने) में विशेष सहायता करते हैं। कोई कोई लोग इतनी दूरतक जाते हैं कि उनके मतमें भाषा चिन्तनका अनन्य उपाय है; भाषाके बिना चिन्तन हो ही नहीं सक-ता +। लेकिन यह बात ठीक नहीं। यद्यपि भाषा चिन्तनकार्यमें अच्छी तरह सहायता करती है, और भाषा न होती तो चिन्तनकार्य अधिक दूर तक अग्रसर नहीं हो सकता, तथापि यह बात नहीं कही जा सकती कि बिना

---

* Lewes's History of Philosophy, Vol. II, 24—32 और Ueberweg's History of Philosophy, Vol. I, 360—94, देखो। + Max Muller's Science of Thought, Chapters VI और X देखो

भाषाके सोचनेका काम चल ही नहीं सकता । अन्तर्दृष्टिके द्वारा हम जान सकते हैं कि जब हम किसी विषयको सोचते हैं, तब कभी तो वस्तुके स्पष्ट या अस्पष्ट रूपको और कभी उसके नाम या और किसी चिह्नको मनमें रखकर सोचते हैं। लेकिन हाँ, अगर सोचनेका विषय या वस्तु सूक्ष्म अथवा दुर्ज्ञेय हुई, और उसका नाम जाना हुआ, तो रूपकी अपेक्षा नामहीकी अधिक सहायता ली जाती है। इसके सिवा जो लोग गूँगे, बहरे हैं, जिन्होंने लिखित भाषा नहीं सीखी अथवा ओष्ठसञ्चालन देखकर शब्दका निरूपण करना भी नहीं सीखा, वे सोच नहीं सकते—यह बात भी नहीं कही जा सकती। बल्कि उनके कार्य देखकर समझ पड़ता है कि वे सोचनेके काममें अक्षम नहीं हैं।

जैसे अंक लिखनेसे गणनाका काम सहज होता है, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता है, कि अंक खींचे बिना गणना हो ही नहीं सकती वैसे ही भाषाके द्वारा सोचनेका काम अवश्य हो जाता है। मगर यह बात कभी नहीं कही जा सकती कि भाषा न होती तो सोचनेका काम भी न चलता *।

यद्यपि भाषा चिन्तनका अनन्य अर्थात् एकमात्र उपाय नहीं है, किन्तु चिन्तनके साथ भाषाका सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ट है। जहाँतक समझमें आता है, उससे जान पड़ता है कि चिन्तनसे ही भाषाकी सृष्टि हुई है। चिन्ताका परिणाम निश्चल है, किन्तु प्रारंभ चंचल है। गहरी चिन्ता गंभीर सागरकी तरह स्थिर है, किन्तु हलकी चिन्ता किनारेके पासके सागरके समान अस्थिर हुआ करती है। मनुष्यके मनमें जब पहले चिन्ताका उदय होता है, तब साथ ही साथ मुख तरह तरहका बनता है, और देहके अन्यान्य भागोंमें चंचलता उपस्थित होती है, और उसके द्वारा शब्दकी उत्पत्ति होती है। फिर वह चिन्ताका विषय दूसरेको जतानेके लिए व्यग्रता पैदा होती है और उसके द्वारा वह अंगभंगी और उससे उत्पन्न शब्द परिवर्द्धित होता है। संभव है कि इसी तरह पहले अस्फुट भाषाकी और पीछे परिस्फुट भाषाकी सृष्टि हुई हो।

भाषा-सृष्टिके संबंधमें ऊपर जो कहा गया वह केवल आनुमानिक आभास मात्र है। भाषातत्त्वके जानकार और दर्शन-विज्ञान-शास्त्रके ज्ञाता पण्डितोंने

* Darwin's Descent of Man, 2nd ed., p. 88 देखो।

इसी तरहका आभास दिया है। किसी किसीने दो-एक भाषाओंकी आदिम अवस्थाके उदाहरण दिखा कर उक्त मतका समर्थन करनेकी चेष्टा की है *। भाषाकी सृष्टि किस तरह हुई, यह जाननेकी इच्छा सभीके होती है, और यह जाननेके लिए बुद्धिमान् विद्वानोंने बहुत कुछ प्रयास किया है, तरह तरहके अनुमान और कल्पनाएँ की हैं। उन सब अनुमानोंमें उल्लिखित अनुमान बहुत कुछ संगतसा जान पड़ता है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि भाषासृष्टिका निगूढ़ तत्त्व अच्छी तरह जान लिया गया है। यह विषय अत्यन्त दुरूह है। इसके तत्त्वका अनुसन्धान करना हो तो दो-एक आदिम असभ्य जातियोंकी भाषा (जिसकी शब्दसंख्या थोड़ी और गठन सरल होगी) के साथ दो-एक सभ्य जातियोंकी परिमार्जित भाषा, जैसे संस्कृत भाषा मिला कर देखनेकी और उन उन भाषाओंके सम्बन्धमें ऊपर कहा गया अनुमान कहाँ तक संगत होता है—इस बातकी परीक्षा करनेकी आवश्यकता है। उस मिलाने या जाँचनेके काममें, जो शब्द दूसरी भाषासे लिये गये हैं, या दस आदमियोंकी इच्छाके अनुसार परामर्श करके कल्पित हुए हैं, उन्हें छोड़ देना आवश्यक है। इन दोनों श्रेणियोंके शब्द भाषाकी मूल सृष्टिका कोई निदर्शन नहीं दे सकते। कोई भी भाषा पूर्ण रूपसे दूसरी भाषासे नहीं ली गई है। मगर ऐसा होने पर भी प्रश्न उठेगा कि उस दूसरी भाषाकी सृष्टि कैसे हुई? दस आदमी इच्छाके अनुसार परामर्श करके भी पहले पहल किसी भाषाकी सृष्टि नहीं कर सकते। कारण, यहाँ पर भी प्रश्न होता है कि भाषाकी सृष्टिके पहले दस आदमियोंका वह परामर्श किस भाषामें हुआ? वास्तवमें यद्यपि दूसरी भाषासे शब्द लेकर, या परामर्श करके पारिभाषिक आदि नये शब्द गढ़ कर, इन दोनों प्रकारकी प्रक्रियाओंसे भाषाकी पुष्टि हो सकती है और हुआ करती है, लेकिन इन प्रक्रियाओंके द्वारा मूल-भाषाकी सृष्टि होना कभी संभव नहीं। अतएव उक्त दोनों प्रकारके शब्द छोड़ कर, मनुष्यकी आदिम असभ्य अवस्थामें जो शब्द अत्यन्त प्रयोजनीय हो सकते हैं उन्हींको लेकर अनुसन्धान करना होगा कि किस लिए वे जिस जिस अर्थमें व्यवहृत होते हैं उस उस अर्थके बोधक हुए। ऊपर जो कहा

* Darwin's Descent of Man, 2nd. Ed., p. 86; Deussen's Metaphysics, p. 90; Max Muller's Science of Thought, Ch. X देखो।

गया है उससे यह उपलब्ध होता है कि द्रव्यबोधक शब्दोंकी अपेक्षा पहले क्रियाबोधक शब्दोंकी सृष्टि होना ही संभव है। क्योंकि क्रियाके साथ ही साथ देहभंगि, मुखभंगि और ध्वनि उत्पन्न होनेकी अधिक संभावना है। सभी शब्द धातुओंसे उत्पन्न हैं, यह प्राचीन संस्कृतके वैयाकरण पाणिनिका मत कुछ कुछ इसी बातका समर्थन करता है।

अगर कोई कहे कि बच्चेके पहले बोल फूटनेके समय वह अक्सर वस्तुओंके नाम पहले और क्रियाओंके नाम पीछे सीखता है, तो इस बातके उत्तरमें कहा जा सकता है कि भाषाकी प्रथम सृष्टि बच्चोंके द्वारा नहीं हुई—जवान और प्रौढ़ व्यक्तियोंहीके द्वारा हुई थी, और वर्त्तमान समयमें भी बच्चे भाषाको सीखते हैं, भाषाकी सृष्टि नहीं करते। किन्तु इस विषयके मूलकी परीक्षा करनेके समय यही देखना आवश्यक है कि जो धातु जिस अर्थका बोध कराती है वह क्यों उसी अर्थका बोध करानेवाली हुई? जैसे 'अद्' धातुका अर्थ खाना (जिससे अदन शब्द, अँगरेजी Eat शब्द, लैटिन Edere शब्द, ग्रीक *Edelv* शब्द आदि आये हैं), या 'स्वप्' धातुका अर्थ सोना (जिससे स्वप्न शब्द, अँगरेजी Sleep शब्द, लैटिन Sopire शब्द, ग्रीक *Uitvos* शब्द आदि आये हैं) है, तो ये धातुएँ क्यों इन्हीं अर्थोंका बोध करानेवाली हुईं, अर्थात् भक्षणकार्य क्यों अद् धातुके द्वारा और शयनकार्य क्यों स्वप् धातुके द्वारा प्रकट किया गया, इसके अनुसन्धानकी आवश्यकता है। कहा जा सकता है कि खाने अर्थात् चबानेके समय 'अद्' ऐसी ध्वनि मुखसे और सोते समय स्वप् अथवा कुछ कुछ इसीके अनुरूप ध्वनि नासिकासे निकलती है। किन्तु इस तरहकी व्याख्या ठीक है या नहीं, और अनेक धातुएँ ऐसी हैं जिनके सम्बन्धमें इस तरहकी व्याख्या की जा सकती है या नहीं, यह विषय विशेष सन्देहका स्थल है। अब यहाँपर इस विषयकी अधिक आलोचना नहीं की जायगी। केवल इतना ही कहा जायगा कि भाषासृष्टिके मूलतत्त्वका अनुसन्धान करनेके लिए, भाषातत्त्व अर्थात् भिन्न भिन्न भाषाओंमें किस शब्दकी मूलधातु क्या है, और देहतत्त्व अर्थात् किस कार्यके साथ साथ देहकी और खास कर वाक्-यन्त्रकी किस तरहकी गति और उसके द्वारा कैसी अंगभंगी और ध्वनिस्फुरण स्वभावसिद्ध है, इन सब विषयोंकी विशेष अभिज्ञताका प्रयोजन है। यह भी नहीं कहा जा सकता

कि वैसी अभिज्ञतासे संपन्न कोई मनीषी विद्वान् इस रहस्यको संपूर्ण रूपसे खोल सकेगा या नहीं ।

यद्यपि भाषाकी सृष्टिका तत्त्व अत्यन्त दुर्ज्ञेय है, तथापि भाषाके कार्यको हम सहज ही देख पाते हैं कि वह अत्यन्त विचित्र और विस्मयजनक है। पहले ही कहा जा चुका है कि भाषा चिन्तनकार्यका एक प्रबल सहायक है। पदार्थके नाम और रूपको लेकर ही चिन्ताका कार्य चलता है, और उनमें रूपकी अपेक्षा नाम ही अधिक स्थलोंमें अवलंबनीय होता है। शब्दकी शक्तिका बखान अनेक शास्त्रोंमें किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद्के प्रथम अध्यायमें पहले ही ओंकारको एक प्रकार सृष्टिका सार कहा है। ग्रीसमें प्लेटोने शब्द या वर्णको अशेषरहस्यपूर्ण बतलाया है *। ईसाइयोंके धर्मशास्त्रमें भी शब्दको सृष्टिका आदि माना है †। शब्दोंसे ही मन्त्रकी रचाना हुई है, और मन्त्रबल असाधारण बल है। यहाँ पर मन्त्रकी दैवशक्ति माननेकी जरूरत नहीं है। शब्दके द्वारा जो वाक्य रचित होते हैं, उन सबको मन्त्र कहा जा सकता है, और उन्हींके द्वारा यह संसार शासित हो रहा है। शब्द या भाषाके द्वारा ही गुरु शिष्यको शिक्षा देते हैं। भाषाहीके द्वारा एक समय या एक देशमें प्राप्त ज्ञान दूसरे समय या दूसरे देशमें प्रचारित होता है। भाषाके ही द्वारा राजा अपनी प्रजाको आज्ञानुसार चलाते हैं। शब्दहीके द्वारा सेनापति अपनी सेनाको ठीक जगह पर काममें नियुक्त करते हैं। भाषाहीकी सहायतासे देशदेशान्तरमें फैला हुआ बनिज-बैपार चलता है। भाषाहीके द्वारा हम लोगोंके चित्तमें सब अच्छी-बुरीं प्रवृत्तियाँ उत्तेजित होकर हमें शुभाशुभ कर्मामें प्रवृत्त करती हैं। भाषामें रचे गये शास्त्रोंकी आलोचनासे ही परमार्थ-तत्त्वकी खोज करते हुए साधु महात्मा पुरुष शान्तिलाभ करते हैं।

श्रेणीविभागका कार्य तीन नियमोंके अनुसार होना आवश्यक है।

१—श्रेणीविभाग अनेक भित्तिमूलक हो सकता है। लेकिन एक श्रेणीकी एक ही भित्ति होनी चाहिए।

मान लो, मनुष्यजातिका श्रेणीविभाग करना है, तो वह धर्मके अनुसार भी किया जा सकता है, और वैसा करने पर हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध आदि श्रेणियोंमें मनुष्यसमाज विभक्त होगा। मनुष्यजातिका श्रेणीविभाग देशानुसार भी किया जा सकता है, और करने पर भारतवासी, जापानी, अँग-

रेज, जर्मन, फ्रेंच आदि श्रेणियाँ होंगी। रंगके अनुसार भी श्रेणीविभाग हो सकता है, और तब कृष्णवर्ण, शुक्लवर्ण, गौरवर्ण, आदि श्रेणियाँ होंगी। किन्तु एक साथ ऐसा करना संगत न होगा कि मनुष्योंमें कुछ हिंदू हैं, कुछ बौद्ध हैं, कुछ भारतवासी हैं, कुछ चीननिवासी हैं, कुछ गोरे है और कुछ काले हैं। कारण, एक ही मनुष्य हिन्दू, भारतवासी और गोरे रंगका, या हिन्दू, भारतवासी और काले रंगका, या बौद्ध, भारतवासी और काले रंगका, अथवा बौद्ध चीनवासी और गोरे रंगका हो सकता है।

२—जिनका विभाग करना है उन विषयोंका विभागकी किसी-न-किसी श्रेणीमें आना अवश्यक है। ऐसा होनेसे काम नहीं चल सकता कि जिनका विभाग करना है उन विषयोंमेंसे कुछ विषय किसी भी श्रेणीके बीच न आवें।

३—विभागकी श्रेणियाँ परस्पर पृथक् होनी चाहिए। ऐसा होनेसे काम नहीं चल सकता कि विभाज्य विषयोंमेंसे कोई विषय एकसे अधिक श्रेणियोंमें आ जाय।

बुद्धि जो है सो ज्ञात विषयोंको श्रेणीबद्ध करके, अर्थात् तदनुसार जाति-विभाग और जातीय नामकरण करके, उन सब ज्ञात विषयोंसे नवीन नवीन विषयोंका निरूपण करती है। यह नये विषयोंके निरूपणका काम दो तरहका है। एक विशेष विशेष तत्त्वोंसे साधारण तत्त्वका निर्णय, और दूसरा साधारण तत्त्वोंसे विशेष तत्त्वका निर्णय। जैसे (१) शिला पहले जितनी बार जलमें डाली गई उतनी बार डूब गई, इसी लिए बादको शिला जितनी बार जलमें डाली जायगी उतनी ही बार डूब जायगी। (२) लोहा जितनी बार जलमें डाला गया उतनी ही बार डूब गया, इसी लिए बादको लोहा जितनी बार जलमें डाला जायगा उतनी बार डूब जायगा। (३) शिला, लोहा आदि पदार्थ जलकी अपेक्षा भारी हैं, इससे जलमें डूब जाते हैं। इसी तरह जो वस्तु जलसे भारी होगी, अर्थात् जिस वस्तुका कोई आयतन (लंबाई–चौड़ाई) अपने समान आयतनके जलकी अपेक्षा वजनमें अधिक होगा, वह जलमें डूब जायगी। ये तीनों बुद्धिके प्रथमोक्त प्रकारके कार्यके अर्थात् विशेष तत्त्वसे साधारणतत्त्वके निरूपणके दृष्टान्त हैं। (४) जलकी अपेक्षा भारी सभी वस्तुएँ डूब जाती हैं। पीतल जलकी अपेक्षा भारी है, इस लिए पीतल जलमें डूबेगा। यह बुद्धिके दूसरे प्रकारके कार्यका, अर्थात् " जलकी अपेक्षा भारी

सभी वस्तुएँ जलमें डूब जाती है " इस साधारण तत्त्वसे " पीतल जलमें डूब जायगा " इस विशेष तत्त्वके निरूपणका दृष्टान्त है । (५) दो सीधी रेखाएँ भूमिको घेर नहीं सकतीं । सामने दो सीधी रेखाएँ हैं; ये किसी भूमिको घेर नहीं सकतीं ।—यह भी एक वैसा ही दृष्टान्त है ।

बुद्धिके इस दो तरहके अनुमानकार्यको, अर्थात् विशेष तत्त्वसे साधारण तत्त्वके अनुमान और साधारण तत्त्वसे विशेष तत्त्वके अनुमानको, संक्षेपसे सामान्य-अनुमान और विशेष-अनुमानके नामसे अभिहित कर सकते हैं । इन दोनों प्रकारके अनुमानोंके संबंधमें कई एक बातें कहनेकी हैं । उनका वर्णन आगे किया जाता है ।

१—ऊपर कहे गये प्रथम तीनों दृष्टान्तोंमें विशेष तत्त्वसे जो साधारण तत्त्वका निरूपण किया गया, उसकी भित्ति क्या है, यह अनुसन्धान करने पर देख पड़ेगा कि हर एक जगह यह साधारण तत्त्व मान लिया गया है कि प्रकृतिका कार्य समभावसे चलता है, अर्थात् वह एकसे स्थानमें एक-सा ही होता है । यह बात स्वीकार कर लेने पर ही कहा जा सकता है कि पहले जब शिला जलमें डूब चुकी है तब बादको भी उसी तरह जलमें शिला डूब जायगी । इस भावसे देखा जाय तो उल्लिखित चौथे दृष्टान्त और पहले कहे गये तीनों दृष्टान्तोंमें कुछ भेद नहीं दिखाई पड़ता । दोनों जगह साधारण तत्त्वसे अथवा साधारण तत्त्वकी सहायतासे विशेष तत्त्वका अनुमान हुआ है ।

२—विशेष तत्त्वोंके बीच कोई बन्धन या कार्यसाधक सम्बन्ध रहे बिना, उनसे किसी साधारण तत्त्वका अनुमान सिद्ध नहीं हो सकता । जैसे शिला जलमें डूबती है और शिला कृष्णवर्ण है, लोहा जलमें डूबता है और वह भी कृष्णवर्ण है, मिट्टीका पिण्ड जलमें डूबता है और वह भी कृष्णवर्ण है, इन विशेष तत्त्वोंसे यदि इस साधारण तत्त्वका अनुमान किया जाय कि कृष्णवर्णवाली सभी चीजें जलमें डूब जायँगी, तो यह अनुमान स्पष्ट असिद्ध है । क्योंकि रंगका काला होना डूबने-उतरानेका किसी तरह कार्यसाधक लक्षण नहीं है । और एक दृष्टान्त देंगे । १ और २ मिलनेसे ३ होते हैं । १ के सिवा ३ का और भाजक नहीं है । २ और ३ मिलकर ५ होते हैं । ५ का भी १ के सिवा और भाजक नहीं है । ३ और ४ मिलकर ७ होते हैं । ७ का भी १ के सिवा और भाजक नहीं है । इन तीन विशेष तत्त्वोंसे अगर हम ऐसे

साधारण तत्त्वका अनुमान करें कि कोई दो पर-पर संख्याओंके योगसे जो संख्या होती है उसका १ के सिवा और भाजक नहीं होता, तो यह अनुमान स्पष्ट ही भ्रान्त है। कारण, उक्त तीनों विशेष दृष्टान्तोंके बाद जो दृष्टान्त आता है वह ४ और ५ का योग है। उसका योगफल ९ की संख्या है, और उसका १ के अलावा ३ भी एक भाजक है । लेकिन जो उक्त तीन विशेष दृष्टान्तोंसे यह साधारण तत्त्व अनुमान किया जाय कि कोई दो पर-पर संख्याओंको जोड़नेसे योगफल अयुग्म होगा, तो यह अनुमान सिद्ध है। कारण इस स्थल-पर विशेष तत्त्वोंके बीच यह बन्धन है कि दो पर-पर संख्याओंमें एक युग्म और दूसरी अयुग्म अवश्य ही होगी, और युग्म-अयुग्मका जोड़ अवश्य अयुग्म ही होगा। अतएव अगर विशेष तत्त्व असम्बद्ध होते हैं, अर्थात् उनमें कोई बन्धन नहीं होता, तो उनसे किसी साधारण तत्त्वका अनुमान सिद्ध नहीं होता।

३—ऊपर कहे गये अनुमित साधारण तत्त्वमें व्यतिक्रम भी देखा जाता है। जैसे लोहे या पीतलको ठोस पिण्डके आकारमें न लेकर, उसकी कोई भीतरसे पोली चीज गढ़कर पानीमें छोड़ी जाय तो वह ऊपर तैरने लगेगी। इस व्यतिक्रमकी पर्यालोचना करनेसे और एक साधारण तत्त्व निरूपित होता है। जैसे, कोई वस्तु अगर ऐसे आकारमें गढ़ी जाय कि अपने बोझकी अपेक्षा अधिक वजनके जलको हटा सके, तो वह वस्तु जलमें उतराने लगेगी।

विशेष तत्त्वसे साधारण तत्त्वके अनुमानके सम्बन्धमें अनेक सूक्ष्म नियम हैं, उनकी आलोचना यहाँ स्थानाभावसे नहीं की गई।

प्रत्यक्षकी अपेक्षा अनुमानके द्वारा बहुतसा और अधिक ज्ञान पाया जाता है। बहिर्जगत्से सम्बन्ध रखनेवाले अधिकांश और अन्तर्जगत्से संबंध रखनेवाले प्रायः सभी ज्ञान अनुमानसे प्राप्त हैं।

साधारण या विशेष तत्त्वसे अनुमान किये गये तत्त्वको छोड़कर और भी कुछ तत्त्व हैं, जिनका निरूपण आत्मा अपनेहीसे करता है, और उसे स्वतःसिद्ध तत्त्व कहते हैं। जैसे किन्हीं दो वस्तुओंमेंसे हरएक वस्तु किसी तीसरी वस्तुके समान हो, तो वे दोनों वस्तुएँ समान मानी जायँगी। स्वतःसिद्ध तत्त्व और गणितशास्त्रके तत्त्व, जैसे, २ और ३ का जोड़ ५ होता है, इन सब तत्त्वोंके सम्बन्धमें हमारे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह निर्विकल्प ज्ञान है, अर्थात् उसमें कोई संशय नहीं रहता, और उसके विपरीत कल्पना नहीं की जा

सकती। अन्य प्रकारके तत्त्वोंके विपरीत कल्पना की जा सकती है। २ और ३ का जोड़ ५ के सिवा और कुछ होनेकी कल्पना हम नहीं कर सकते। किन्तु लोहा ऐसा हो सकता था जो जलमें उतराता, यह कल्पना हम कर सकते हैं। कोई कोई कहते हैं कि इन दोनों प्रकारके तत्त्वोंके मूलमें कोई भेद नहीं है, मगर हाँ एक श्रेणीके तत्त्वमें कभी कोई व्यतिक्रम नहीं देखा, इसी कारण उसके विपरीत कल्पना हम नहीं कर सकते, और दूसरी श्रेणीके तत्त्वमें प्रकारान्तरसे व्यतिक्रम देखा जाता है, और इसी कारण उसके विपरीत कल्पना करना असाध्य नहीं होता *। किन्तु यह बात ठीक नहीं जान पड़ती। २ और ३ के जोड़से ५ के सिवा और कुछ नहीं हो सकता, यह ध्रुव धारणा वारम्वारकी परीक्षाका फल नहीं है। और, यद्यपि किसी स्थल पर ऐसा देखा जाता कि किन्हीं विशेष प्रकारकी वस्तुओंमेंसे २ और ३ को एकत्र करते ही उनसे अलावा वैसी ही और एक वस्तु उत्पन्न होकर वस्तुकी संख्या ६ कर देती, तो भी हम यह न कहते कि २ और ३ का जोड़ ६ होता है। हम वहाँ पर भी कहते कि २ और ३ मिल कर ५ होते हैं, लेकिन हाँ, साथ ही साथ और एक उनसे अतिरिक्त वस्तु उत्पन्न होती है। पक्षान्तरमें, अनेक स्थलों पर कभी कोई व्यतिक्रम न देख कर भी हम व्यतिक्रमकी कल्पना कर सकते हैं, जैसे, लोहेका पानीमें उतराना।

यहाँ पर प्रश्न होता है, ज्ञानके कहीं निर्विकल्प और कहीं सविकल्प होनेका कारण क्या है? इस प्रश्नका उत्तर इस तरह दिया जा सकता है कि, जैसे—अगर किसी द्रव्यके लक्षणमें जो गुण निहित है, वह गुण उस द्रव्यमें है, यह कहा जाय, तो उस बातके सम्बन्धमें हमारे जो ज्ञान उत्पन्न होगा, वह अवश्य ही निर्विकल्प ज्ञान है। और, उसके विपरीत बातकी कभी कल्पना भी नहीं की जा सकेगी, क्योंकि कोई द्रव्य अपने लक्षणके विपरीत नहीं हो सकता। यह बात ठीक जरूर है, लेकिन इसके द्वारा निर्विकल्प और सविकल्प ज्ञानका कारण नहीं निर्दिष्ट हुआ, क्योंकि यद्यपि "२ और ३ का जोड़ ५ होता है" इस जगह पर २ और ३ के जोड़का लक्षण ५ होना है, ऐसा कहा जा सकता है, किन्तु "समकोणवाले त्रिभुजके कर्णमें अंकित समबाहु समकोणवाला चतुर्भुज अपनी अन्य दोनों भुजाओंमें अंकित वैसे ही दो

---

* Mill's Logic, Bk. II, Ch. V देखो।

चतुर्भुजोंकी समष्टिके समान है, " इस स्थलपर समकोणवाले त्रिभुजके लक्षणमें उल्लिखित तीनों चतुर्भुजोंके सम्बन्धरूपी गुणका निहित रहना नहीं कहा जाता, अथच इसी तत्त्वके विषयमें हमारा ज्ञान निर्विकल्प है, इसमें भी सन्देह नहीं। उक्त प्रश्नका ठीक उत्तर जान पड़ता है यह है कि जहाँ किसी तत्त्वके उल्लिखित द्रव्य और गुणके सम्बन्धमें हमारे पूर्ण ज्ञान उत्पन्न होता है, वहाँ उस तत्त्वके सम्बन्धमें हमारा ज्ञान निर्विकल्प होता है, और जहाँ तत्त्वके प्रतिपाद्य द्रव्य और गुणके सम्बन्धमें हमारा ज्ञान अपूर्ण होता है, वहाँ उस तत्त्वके विषयमें हमारा ज्ञान सविकल्प होता है। समकोणवाला त्रिभुज क्या है, उसकी तीनों भुजाओंमें अंकित समबाहु समकोण चतुर्भुज क्या है और उनका परस्पर सम्बन्ध कैसा है, यह हम संपूर्ण रूपसे जानते हैं। इसीसे उसके विषयके उक्त तत्त्वका जो ज्ञान है वह निर्विकल्प है। लेकिन जल और लोहेकी प्रकृति किस प्रकारकी है, और उनकी भीतरी गठन किस तरहकी है, यह हम संपूर्ण रूपसे नहीं जानते, अतएव ' लोहा पानीमें डूबता है ' इस तत्त्वके संबंधमें हमारा जो ज्ञान है वह सविकल्प है। किन्तु यदि जल और लोहेके संबंधमें हमारा ज्ञान पूर्ण होता, अर्थात् अगर पानी और लोहेके सब गुण और उनकी भीतरी गठन हम संपूर्ण रूपसे जानते होते, तो हम निश्चितरूपसे जान सकते कि लोहा जलमें कभी उतरा नहीं सकता। अर्थात् लोहे और जलके संबंधमें हमारा ज्ञान पूर्ण होता तो हम यह बात मनमें भी नहीं ला सकते कि सृष्टि इस तरहकी हो सकती जिसमें लोहा पानीमें उतराता है।

ज्ञानकी अपूर्णतासे ही असंभव बात संभवपर जान पड़ती है। इसका एक मोटासा दृष्टान्त यहाँ पर देंगे। किसी आदमीने एक नया घर बनवाया। वह घर उत्तर-दक्खिन लंबा है और उसका दक्खिनका हिस्सा जनाना है और उत्तरका हिस्सा मर्दाना है। अतएव मर्दानेकी कोठरियोंमें दक्खिनी हवा नहीं आती। यह देखकर घरके मालिकके एक सुशिक्षित और सुबुद्धि मित्रने घरकी बनावटपर दोषारोप करके कहा—घरके पूर्व ओर बहुत सी जमीन पड़ी हुई है, इसलिए घरको अनायास ही पूर्व-पश्चिम लंबा करके पूर्वका हिस्सा औरतोंके रहनेके लिए छोड़ कर पश्चिमका हिस्सा मर्दानी बैठक बनाया जा सकता था, और ऐसा होता तो घरके दोनों हिस्सोंमें दक्खिनी हवा आती। किन्तु

वह मित्र यह नहीं जानते थे कि पूर्व ओरकी पड़ी हुई जमीन एक पटी हुई गढ़इया है, और उस पर घर बनानेमें बड़ी लागत पड़ती। अगर वह मित्र इस बातको जानते होते तो घरको पूर्व-पश्चिम लंबा करके बनाना कभी संभवपर नहीं समझते।

विशेष तत्त्वसे साधारण तत्त्वका अनुमान, और साधारण तत्त्वसे विशेष तत्त्वका अनुमान, इन दोनों तरहके अनुमानोंकी प्रक्रिया एक ही मूल नियमके अधीन है। वह नियम यह है—

अगर किसी जातिके द्रव्यमात्रका ही, कोई गुण हो, अथवा किसी जातिके प्रत्येक विषयके सम्बन्धमें कोई बात कही जासकती हो,

और यदि कोई विशेष द्रव्य या विषय उस जातिके अन्तर्गत हो,

तो यह बात कही जा सकती है कि उस विशेष द्रव्यमें वह गुण है। अथवा उस विशेष विषयके सम्बन्धमें वही बात कही जा सकती है।

विशेष तत्त्वसे साधारण तत्त्वके अनुमानका दृष्टान्त यह है कि—

जहाँ धुआँ देखा गया है वहाँ आग थी। अतएव जहाँ धुआँ देखा जायगा वहाँ आग रहेगी।

यहाँ पर प्रकृतिका यह साधारण तत्त्व मान लिया गया है कि जहाँ पर जैसा देखा गया है उसके समान स्थल पर प्रकृतिके नियमानुसार वैसा ही देखा जायगा। इस अनुमानकी प्रक्रिया संपूर्ण रूपसे व्यक्त करनेके लिए कहना होगा कि—

एक स्थल पर जैसा देखा गया है, प्रकृतिके नियमानुसार, उसके तुल्य सभी स्थलोंमें, वैसा ही देखा जायगा।

धुएँके रहने पर आगका रहना—एक स्थल पर देखा गया है।

अतएव धुआँ रहने पर आगका रहना, वैसे ही सब स्थलोंमें प्रकृतिके नियमानुसार देखा जायगा।

साधारण तत्त्वसे विशेष तत्त्वके अनुमानका दृष्टान्त—

जिस जगह पर धुआँ रहता है उस जगह ही आग रहती है।

इस पहाड़पर धुआँ है,

अतएव इस पहाड़ पर आग है।

अन्तके दृष्टान्तमें यह स्पष्ट देखा जाता है कि अनुमानकी प्रक्रिया ऊपर कहे गये नियमके अनुसार हुई है ।

सामान्य-अनुमान और विशेष-अनुमान, इन दो तरहके कार्योंके द्वारा हमारे ज्ञानकी परिधि इतनी फैल गई है कि उधर ध्यान देनेसे विस्मित होना पड़ता है । कई एक स्वतःसिद्ध सरल तत्त्वोंके ऊपर निर्भर करके गणित शास्त्रके असंख्य जटिल दुरूह तत्त्वोंका अनुमान किया गया है । और जड़-विज्ञानके विश्वव्यापी तत्त्वोंका अनुमान प्रत्यक्षलब्ध बहुत थोड़ीसी विशेषता-ओंसे किया गया है । इन सब विषयोंको सोचनेसे जान पड़ता है, मनुष्यकी बुद्धि उसकी क्षुद्र नश्वर देहसे कभी उत्पन्न नहीं हो सकती; वह अवश्य ही असीम अनन्त परमात्माका अंश है ।

इसके सिवा बुद्धिका और एक कार्य है—कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय । बुद्धिकी इस काम करनेकी शक्तिको कभी कभी विवेकशक्ति कहते हैं । यह काम प्रधानतः कर्मविभागका विषय है, और इसकी विशेष आलोचना 'कर्त-व्यताके लक्षण' नामके अध्यायमें की जायगी । इस जगह पर यह कह देना ही यथेष्ट होगा कि जैसे वस्तुका बड़ा या छोटा होना , सफेद होना या काला होना , हम प्रत्यक्षके द्वारा ठीक कर सकते हैं , वैसे ही कार्यकी कर्त-व्यता-अकर्तव्यता या न्याय-अन्याय भी हम बुद्धिके द्वारा ठीक कर सकते हैं। साधारणतः छोटे-बड़े या काले-गोरेके अलगावकी तरह कर्तव्याकर्तव्य या न्याय-अन्यायके पार्थक्यका ज्ञान भी सहज ही पैदा होता है । किन्तु इस बातके ऊपर यह आपत्ति हो सकती है कि अगर कर्तव्याकर्तव्यका अलगाव इतने सहजमें जाना जासकता है , तो फिर इसी विषयको लेकर अक्सर इतना मतभेद क्यों होता है । इसका उत्तर यह है कि जैसे छोटे-बड़ेका पार्थक्य सहज ही ज्ञेय होने पर भी, अनेक विशेष विशेष स्थलोंपर, जैसे एक गोल चतुष्कोण वस्तुमें कौन बड़ी है और कौन छोटी है–यह कहना कठिन है , अथवा जैसे शुक्लकृष्णका भेद सहज ही ज्ञेय होने पर भी, अनेक विशेष विशेष स्थलों पर, जैसे कुछ मटमैले रंगकी दो वस्तुओंमें किसे शुक्ल और किसे कृष्ण कहें—यह निश्चय करना कठिन हो जाता है, वैसे ही कर्तव्याकर्तव्यका पार्थक्य सहज ही ज्ञेय होने पर भी, विशेष विशेष स्थलों पर क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है, यह ठीक करना सहज नहीं होता; बहुत सोच विचार

कर कर्तव्याकर्तव्यका निश्चय किया जाता है। इसीसे समय समय पर इस सम्बन्धमें मतभेद भी होता है।

ऊपर कही गई क्रियाके सिवा अन्तर्जगत्की और एक श्रेणीकी क्रिया है, जिसे अनुभव कहा जाता है। आत्माकी जिस शक्तिके द्वारा इस श्रेणीकी क्रिया संपन्न होती है उसे अनुभवशक्ति कहते हैं। पहले ही कह दिया गया है कि अनुभव एक प्रकारका ज्ञान है। किन्तु अन्य प्रकारके ज्ञान और अनुभवमें भेद यह है कि अनुभव कार्यमें जाननेका विषय कोई तत्त्व या सत्य नहीं होता, वह ज्ञाताका अपना सुख या दुःख या अन्यरूप अवस्था होती है।

हम अपनी जिन सब अवस्थाओंका अनुभव करते हैं उनमें कुछ तो देहकी अवस्थाएँ हैं, जैसे भूख-प्यास-थकन, और कुछ मनकी अवस्थाएँ हैं, जैसे क्रोध-स्नेह इत्यादि। किन्तु पीछे कही गई अवस्थाएँ मनकी होने पर भी उनके द्वारा शरीरकी भी अवस्था बदल जाती है।

हमारी अनुभूत अवस्थाओं या भावोंमें कुछ स्वार्थपर और कुछ परार्थपर हैं। जैसे भूख-प्यास आदि शरीरके भाव और लोभ-क्रोध आदि मनके भाव स्वार्थपर हैं, और स्नेह-दया-भक्ति आदि भाव परार्थपर हैं।

संयत स्वार्थपर भावका कार्य बिल्कुल ही अशुभकर नहीं होता, और समय समय पर आत्मरक्षाके लिए वह प्रयोजनीय हो पड़ता है। ऐसे ही असंयत परार्थपर भावका कार्य भी सब जगह शुभकर नहीं होता; कभी कभी वह आत्माकी उन्नतिमें बाधक भी हो जाता है। किन्तु स्वार्थपर भावका संयम कठिन है, और उसके असंयत कार्य अनेक प्रकारसे अनिष्टजनक हो जाते हैं, इसी लिए वह हेय है। उधर परार्थपर भावके अत्यन्त बढ़नेकी आशंका और उसके द्वारा अनिष्टकी संभावना बहुत थोड़ी है, इसी कारण वह आदरणीय है।

स्वार्थपर भावोंमेंसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर, ये छः हमारे शत्रु माने गये हैं। परार्थपर भाव सद्गुणके नामसे वर्णित हैं।

स्वार्थपर भाव अगर एकदम मिट जायँगे तो उससे आत्मरक्षामें विघ्न उपस्थित होगा, इस आशंकाका विशेष कारण नहीं है। क्योंकि उनके एकदम निर्मूल होनेकी संभावना बहुत थोड़ी है। अगर ऐसा हो भी तो अनिष्ट

होनेके पहले आत्मरक्षाके लिए सावधान होना ही उसका युक्तिसिद्ध उपाय है। पक्षान्तरमें, परार्थपर भावके कार्य द्वारा सच्चे स्वार्थसाधनमें विघ्न न पड़कर अनेक जगह स्वार्थसाधनकी सहायता ही होती है।

जैसे रोगग्रस्त होकर बादको रोगमुक्त होनेकी चेष्टाकी अपेक्षा, पहलेहीसे रोगसे बचनेकी चेष्टा करना अधिकतर युक्तिसिद्ध है, वैसे ही अनिष्टके चक्रमें पड़कर अनिष्टकारीको सताने या बदला लेनेकी चेष्टाकी अपेक्षा पहलेहीसे अनिष्टसे बचनेकी चेष्टा अधिकतर युक्तिसिद्ध है। मगर हाँ, सब समय वह साध्य नहीं होती। जब साध्य न हो तब अनिष्टकारीको सताना या उससे बदला लेना आत्मरक्षाके लिए आवश्यक होने पर उसे एक प्रकारका आपद्धर्म कह कर स्वीकार करना होता है।

ऊपर कहा गया है, परार्थपर भावके कार्य द्वारा सच्चे स्वार्थमें विघ्न नहीं होता। फलतः यद्यपि जीवजगत्‌के निचले स्तरमें, और परार्थके विरोधकी जगह, स्वार्थपर भाव ही कर्मका प्रधान प्रवर्तक होता है, किन्तु उच्च स्तरमें–अर्थात् मनुष्योंमें—स्वार्थ और परार्थ इतने अविच्छिन्न रूपसे बँधे हुए हैं कि सच्चा स्वार्थ परार्थको छोड़कर हो ही नहीं सकता। स्थूलदर्शी और अदूरदर्शी लोग सोच सकते हैं कि परार्थको अग्राह्य करके स्वार्थ साधन सहज है, किन्तु कुछ सूक्ष्मदृष्टि और दूरदृष्टिके साथ देखनेसे ही जान पड़ता है कि वह स्वार्थ-साधन न तो सुसाध्य है और न स्थायी ही हो सकता है। कारण, पहले तो मैं ऐसा करूँगा तो मेरी सी प्रकृतिके लोग मेरे स्वार्थको नष्ट करनेकी चेष्टा करेंगे और अकेले मैं उसे रोक नहीं सकूँगा। दूसरे, जो लोग मेरी सी प्रकृतिके नहीं हैं, मेरी अपेक्षा भले हैं, वे मेरा और अनिष्ट भले ही न करें मगर मुझे दमन करनेकी चेष्टा अवश्य करेंगे। तीसरे, यद्यपि दूसरा कोई कुछ भी न करे, तोभी मैं अपने ही कार्यसे आप अत्यन्त असुखी होऊँगा। क्यों कि मेरी आकांक्षा असंयत रूपसे बढ़ती रहेगी और मुझे असन्तोष और अशान्तिसे उत्पन्न दुःख भोगना पड़ेगा।

स्वार्थ और परार्थमें जो विरोध है, उसका सामञ्जस्य करना बुद्धिका एक प्रधान कार्य है।

सुख-दुःख केवल अनुभव-क्रियाके नहीं, अन्तर्जगत्‌की सभी क्रियाओंके अविच्छिन्न संगी हैं। कोई कोई लोग सन्देह करते हैं कि यह बात

ठीक है या नहीं, किन्तु अन्तर्दृष्टिके द्वारा जहाँ तक जाना जाता है, उससे कहा जा सकता है कि उस सन्देहका कारण नहीं है। यह बात अवश्य सत्य है कि जब अन्तर्जगत्की ज्ञानविषयक या कर्मविषयक कोई क्रिया अत्यन्त प्रबल भावसे संपन्न होती रहती है, तब उसके आनुषंगिक सुख:दुखके प्रति मनोनिवेश बहुत थोड़ा होनेके कारण उसका संपूर्ण अनुभव नहीं होता, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि मनोनिवेश रहता ही नहीं, या एकदम उसका अनुभव ही नहीं होता।

यद्यपि अन्तर्जगत्की क्रियामात्रके साथ साथ चाहे सुखका और चाहे दु:खका अवश्य ही अनुभव होगा, किन्तु किस क्रियाके साथ सुखका और किस क्रियाके साथ दु:खका अनुभव होगा, इसका कुछ ठीक नहीं। यह अभ्यास और ज्ञानकी विभिन्नता पर निर्भर है। अच्छी क्रियाके साथ सुख-का अनुभव और बुरी क्रियाके साथ दु:खका अनुभव होना स्वभावसिद्ध है। किन्तु कु-अभ्यास और अज्ञानके फलसे अक्सर इस नियममें व्यतिक्रम होता देखा जाता है। अतएव अभ्यास और शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि अच्छे काममें ही सुखका अनुभव और बुरे काममें दु:खका अनुभव हो।

सुख-दु:खके सम्बन्धमें और एक बात है, जिसका उल्लेख यहाँपर अप्रासं-गिक या असंगत नहीं होगा। मनु भगवान्ने कहा है—

सर्वं परवशं दु:खं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदु:खयो॥
(अ० ४, श्लोक० १६०)

"जो परवश है वही दु:ख है, जो आत्मवश है वही सुख है। सुख और दुख:का यही संक्षिप्त लक्षण समझना चाहिए।"

अन्यके वशवर्ती होना दु:ख है और अपनी इच्छाके अनुसार चल सकना सुख है, यही इसका स्थूल अर्थ है। किन्तु इसके भीतर एक गहरा सूक्ष्म तत्त्व निहित है। जो कुछ परवश है वही दु:ख है, इस जगहपर केवल राजनीति और समाज-नीतिसे सम्बन्ध रखनेवाली अधीनतासे होनेवाले ही दु:खोंकी बात नहीं कही जा रही है। इनके सिवा और भी तरह तरहकी पराधीनताएँ (जैसे आधिदैविक और आधिभौतिक अधीनता) और उनसे होनेवाले दु:ख हैं, और जब

मैं अर्थात् मेरे आत्माके सिवा और पर हैं, सदा मेरे वश नहीं हैं, यहाँतक कि जिसे सबकी अपेक्षा अपना कहते हैं वह अपना शरीर भी मेरे वश नहीं हैं, रोगग्रस्त होनेपर मैं अपने हाथ-पैरोंको भी इच्छाके अनुसार चला नहीं सकता, तब आत्मासे इतर वस्तुके ऊपर जो कुछ निर्भर है उससे उत्पन्न सुखकी कामना निष्फल है। मेरा सुख केवल मेरे ही ऊपर निर्भर होगा, अन्य किसी वस्तु या मनुष्यपर नहीं निर्भर होगा, यह धारणा और उसके अनुसार चित्तको स्थिर करना ही सच्चे सुखके लाभका एकमात्र उपाय है। यहाँपर शंकराचार्य भगवान्का यह अमूल्य वाक्य याद आता है कि—

" स्वानन्दभावे परितुष्टमन्तः
सुशान्तसर्वेन्द्रियवृत्तिमन्तः ।
अहर्निशं ब्रह्मणि ये रमन्तः
कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥ "

" जो अप आनन्दमें आप ही सन्तुष्ट हैं, जिनकी सब इन्द्रियाँ और उनकी वृत्तियाँ संयत हैं, जो दिन-रात ब्रह्ममें अनुरक्त रहते हैं, वे कौपीनधारी होने पर भी निश्चय ही भाग्यशाली हैं "। विद्याभिमानी लोग समझते हैं कि वे विद्याके द्वारा सब कुछ वश कर लेंगे। बलका अभिमान रखनेवाले समझते हैं कि वे बलके द्वारा सब अपने वश कर लेंगे। किन्तु विद्याके अनुशीलन या बलके परिचालनके लिए जिस देहकी आवश्यकता है वह देह ही उनके वश नहीं है। दुःखसे बचने और सुख पानेके लिए सभी जीव निरन्तर व्यस्त हैं, किन्तु पराधीन सुखकी खोज अनेक जगह विफल और सभी जगह कष्टकर है। सच्चा सुख मनुष्यके अपने हाथमें है, उससे अन्य किसीका अनिष्ट नहीं होता। आत्मज्ञान ही उसका उपादान है। वह सुख प्राप्त करना कठिन है, मगर असाध्य नहीं है। सामान्य यश पानेके लिए जो मनुष्य कितने दुःसह क्लेशोंको बिना किसी रुकावटके सह सकता है, वह नित्य परमानन्द प्राप्त करनेके लिए अनित्य दुःखकी अवहेला नहीं कर सकेगा ?

अन्तर्जगत्की और एक श्रेणीकी क्रिया है, जिसे इच्छा कहते हैं। यह क्रिया ज्ञानकी अपेक्षा कर्मके साथ विशेष संबन्ध रखती है, और इस पुस्तकके दूसरे भाग अर्थात् कर्मविषयक भागमें इसकी विशेष आलोचनाका स्थान है।

किन्तु वह अन्तर्जगत्‌की क्रिया है, इसलिए उसका यहाँ पर उल्लेख कर दिया गया, और कुछ आलोचना भी की जायगी।

इच्छा सब कर्मोंको प्रवृत्त करती है। वह सत्, असत् और अनेक प्रकारकी है।

इच्छा नानाप्रकारकी होनेपर भी दो भागोंमें उसका विभाग किया जा सकता है—**प्रवृत्ति-मुखी और निवृत्ति-मुखी,** अथवा **प्रेयोमार्गमुखी और श्रेयोमार्गमुखी** (१)।

इस लोकमें वैषयिक सुखके उपयोगी पदार्थोंको पानेकी इच्छा, और जो लोग परलोक या जन्मान्तर मानते हैं, उनके पक्षमें परलोकमें या परजन्ममें जिससे सुखभोग हो सके उसके उपयोगी कर्म करनेकी इच्छा, प्रथमोक्त श्रेणीकी इच्छा है। और इस लोकमें जिससे सच्चा सुख अर्थात् शान्ति मिले, और परलोक या परिणाममें जिससे मुक्ति प्राप्त हो, वैसा कार्य करनेकी इच्छा दूसरी श्रेणीके अन्तर्गत् है। संक्षेपमें यह कहा जा सकता है कि भोगकी वासना प्रवृत्ति या प्रेयोमार्गमुखी इच्छा है, और भोगोंको अनित्य जानकर मुक्तिलाभकी वासना निवृत्ति या श्रेयोमार्गमुखी है। कोई पाठक ऐसा न समझ बैठें कि प्रवृत्ति या प्रेयोमार्गमुखी इच्छा ही यथार्थमें इच्छा है, और निवृत्ति या श्रेयोमार्गमुखी इच्छा इच्छा ही नहीं है, वह इच्छाका अभाव है। इस प्रकार संदेह करनेका कोई कारण नहीं है। क्या मुमुक्षु और क्या भोगकी अभिलाषा रखनेवाले, सभी इच्छाके वश हैं। कोई स्थिर नहीं है, कोई निश्चेष्ट नहीं है, सभी इच्छाकी प्रेरणा पाकर अपने अपने कर्ममें लगे हुए हैं। किन्तु वह इच्छा और उसकी प्रेरणासे होनेवाले कर्म जुदे जुदे लोगोंके जुदी जुदी तरहके हैं। अनेक लोग सोच सकते हैं कि प्रवृत्ति या प्रेयोमार्गमुखी इच्छा ही मनुष्यको यथार्थ कर्मी बनाकर जगत्‌का हित करनेमें लगाती है, और निवृत्ति या श्रेयोमार्गमुखी इच्छा मनुष्यको निष्कर्मा बनाकर जगत्‌का हित करनेसे निवृत्त करती है। किन्तु यह बात ठीक नहीं है। सच है कि प्रवृत्तिमार्गमुखी इच्छा निवृत्तिमार्गमुखी इच्छाकी अपेक्षा अधिक प्रबल है और अधिक वेगके साथ हमें कर्ममें नियुक्त करती है। पर उसका कारण यह है कि वह इच्छा जिस

---

(१) कठोपनिषद्, १, २, १–२ देखो।

सुखकी खोज करती है वह अनित्य होने पर भी अतिनिकट और सहजभोग्य है। उधर निवृत्तिमार्गमुखी इच्छा जिस सुखको खोजती है, वह नित्य होने पर भी बहुदूरवर्ती है, और संयतचित्त हुए बिना कोई उसे भोगनेका अधिकारी नहीं होता। किन्तु यह होने पर भी, निवृत्तिमार्गमुखी इच्छा यद्यपि हमें धीरेधीरे कर्ममें लगाती है, तथापि एकबार वैसी इच्छासे प्रेरित कर्म आरंभ होने पर वह अविरत चलता रहता है। कारण वह इच्छा जिस सुखको खोजती है वह नित्य है, और उस सुखको भोगनेकी शक्ति कभी नहीं घटती। कठोपनिषद्में, यम-नचिकेता उपाख्यानमें, नचिकेताने जब विषयसुखको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखा, तब यह कहा कि इस सुखके सामान अस्थायी हैं, और यह सुख भोगते भोगते इन्द्रियाँ तेजोहीन हो जाती हैं और हमारी भोगशक्ति घटती है। प्रवृत्तिमार्गके सुखमें यह प्रधान बाधा है कि वह सुख पानेके लिए जिन सब भोग्य वस्तुओंकी आवश्यकता है वे अस्थायी हैं और वह सुख भोगनेके लिए हममें जो शक्ति है वह भी क्षय होनेवाली है। परन्तु प्रवृत्तिमार्गमुखी इच्छाके द्वारा प्रेरित होकर कोई कार्य किया जाय तो उसके निबहनेके बारेमें बहुत कुछ शंका रहती है। कारण, कर्ता स्वयं सुखलाभके लिए ही उसमें प्रवृत्त होता है। किन्तु निवृत्तिमार्गमुखी इच्छाके द्वारा अगर कोई उसी कार्यमें नियुक्त हो, तो उसके संबंधमें वह आशंका नहीं रहती। वह अपने सुख पर दृष्टि न रखकर इसीकी चेष्टा करता रहता है कि वह कार्य यथोचितरूपसे संपन्न हो। एक साधारण दृष्टान्तके द्वारा यह बात बिल्कुल स्पष्ट प्रतीत हो जायगी। रोगीकी सेवा करना अत्यन्त सत्कर्म है। प्रवृत्तिमार्गगामी कोई व्यक्ति यदि वह सत्कर्म करेगा तो उसके हृदयमें पराये हितकी कामना अवश्य ही रहेगी, किन्तु साथ ही साथ अपने हितकी कामना—अर्थात् यश और सम्मान पानेकी कामना भी भीतर ही भीतर रहेगी, और उसका फल कभी कभी ऐसा ही हो सकता है कि जिसे कोई देखने सुननेवाला नहीं है, और जिसकी सेवा करनेसे उसे कोई देखेगा नहीं, वह योंही पड़ा रहेगा, और जिसकी सेवा करनेकी उतनी आवश्यकता नहीं है, किन्तु उसकी सेवा की जाय तो उसे दस आदमी देखेंगे—उसकी पहले सेवा और दखरेख की जायगी। और, अगर निवृत्तिमार्गगामी कोई ऐसे कामका व्रत लेगा तो वह केवल पराये हितकी कामनासे प्रेरित होकर काम करेगा। वह कर्तव्यपालन करनेसे उत्पन्न होने-

वाले सुखके सिवा और किसी लाभकी आकांक्षा नहीं करेगा, इसीकारण वही विधिपूर्वक यथोचित काम करनेमें समर्थ होगा।

अगर कोई कहे कि प्रवृत्तिमार्गगामी लोगोंनेही कर्मक्षेत्रमें आग्रह और उद्यमके साथ काम करके नानाविध विषय-सुखके उपायोंका आविष्कार करनेके द्वारा अच्छी तरह मनुष्यजातिका हितसाधन किया है, निवृत्तिमार्गगामियोंने वैसा कुछ नहीं किया, तो उसे स्मरण रखना चाहिए कि उन सब सुखोंके उपाय रहने पर भी जब कोई आदमी असाध्य रोगसे कातर, दुःसह शोकसे आकुल, या दुस्तर निराशाके सागरमें निमग्न होता है, तब निवृत्तिमार्गगामियोंके ही अति उज्ज्वल जीवनके दृष्टान्त उसके घने अन्धकारसे ढके हुए चित्तको कुछ प्रकाशित कर सकते हैं, और केवल उन्हींकी गहरी विचारशक्तिसे उत्पन्न शास्त्रोपदेश उसके लिए शान्तिलाभका उपाय होते हैं।

हमारी इच्छा जिसमें बिल्कुल ही प्रवृत्तिमार्गमुखी न होकर कुछ कुछ निवृत्तिमार्गमुखी भी हो, ऐसा यत्न सभीको करना चाहिए। यह आशंका करनेका कोई कारण नहीं है कि उससे मनुष्य निष्कर्मा हो जा सकता है। हमारी सब स्वार्थपर प्रवृत्तियाँ इतनी प्रबल हैं कि निवृत्तिके अभ्याससे उनकी जड़ उखड़नेकी कोई संभावना नहीं है। बड़ा यत्न करनेसे वह केवल कुछ कुछ शान्त भर हो सकती है, और ऐसा होनेसे जगतका उपकार ही होगा, अपकार नहीं।

अनेक लोग कहते हैं कि उच्च और नीच, परार्थपर और स्वार्थपर, निवृत्तिमार्गमुखी और प्रवृत्तिमार्गमुखी, सब प्रकारके भाव और सभी प्रकारकी इच्छाएँ मनुष्यके प्रयोजनकी चीज हैं, और उन सभीके यथायोग्य विकास और सामञ्जस्यके साथ काम करना मनुष्यके पूर्णता प्राप्त करनेका लक्षण है (१)।

संसारमें समय समय पर ऐसा होता है कि स्वार्थपर भाव और नीच इच्छासे प्रेरित कार्य आत्मरक्षाके लिए अत्यन्त आवश्यक हो पड़ते हैं। जैसे, जब एक आदमी दूसरेको अकारण मार डालने आ रहा है, उस समय उस आततायीको चोट पहुँचा कर या उसकी हत्या करके आत्मरक्षा करनी होती

(१) स्व० बंकिमचन्द्र चटर्जीके 'कृष्णचरित्र' का दूसरा संस्करण, ४ पृष्ठ, देखो।

है। किन्तु लाचार और निरुपाय हो कर आत्मरक्षाके उस प्रकारके कामका सहारा लिया जाता है, और वह एक प्रकारका आपद्धर्म है। पृथ्वी पर बुरे आदमी हैं, इसीसे भले आदमियोंको भी समय समय पर विवश होकर बुरे काम करने पड़ते हैं। किन्तु इसी कारणसे वैसे कार्य या वैसे कार्योंके उत्ते-जक भावों या इच्छाओंका अनुमोदन नहीं किया जा सकता। वे सब भाव या इच्छाएँ मनुष्यके मनमें प्रकट अवश्य होती हैं, किन्तु उनकी प्रबलता नीच प्रकृतिका लक्षण है, और उन्हें शान्त रखना सुबुद्धिका कर्तव्य है। क्रोध, प्रतिहिंसा, विद्वेष आदि भाव जब मनुष्यके मनमें उदित होते हैं, अनेकोंके मनमें स्थान पाते हैं, और अनेक समय कार्य करते हैं, तब वे पोषणके योग्य हैं, यह बात अगर कही जाय, तो यह भी कहना पड़ेगा कि मनुष्यके नाखून और दाँत हैं, और असभ्य जातियाँ पशुओंकी तरह शत्रु पर आक्रमण कर-नेमें उनका व्यवहार करती हैं और वे उनके काम आते हैं, इस लिए मनु-ष्यको भी नाखून और दाँतोंका वैसा ही व्यवहार सीखना चाहिए। मतलब यह कि मनुष्य जितना ही नीचेकी श्रेणीसे ऊपरकी श्रेणीमें उठता है उतना ही निकृष्ट प्रकृति छोड़ कर उत्कृष्ट प्रकृतिको ग्रहण करता है। यह बात ठीक नहीं है कि भले-बुरे सब तरहके गुणोंका यथायोग्य विकास मनुष्यकी सर्वां-गीन पूर्णताके लिए आवश्यक है। परन्तु, जब तक पृथ्वीके सभी लोग भले न हो जायँगे, जब तक कुछ बुरे लोग रहेंगे, तब तक कोई पूर्ण रूपसे भला नहीं हो सकेगा, तब तक बुरेके संसर्गसे भलेको भी कुछ बुरा होना ही होगा, और बुरेके दमनके लिए, या बुरेके द्वारा अपना या औरका जो अनिष्ट होता है उसे रोकनेके लिए, भलेको भी लाचार हो कर अन्यका अनिष्ट करनेवाले काम करने पड़ेंगे। किन्तु अन्यका अनिष्ट करनेकी इच्छाका दमन करना और यथाशक्ति अन्यका अनिष्ट करनेसे निवृत्त रहना सबका कर्तव्य है।

इस तरहके यत्न और शिक्षाके द्वारा लोग क्रोध, प्रतिहिंसा, विद्वेष आदि भावोंको भूल जा कर आत्मरक्षामें असमर्थ हो जायँगे, ऐसी आशंका करनेका प्रयोजन नहीं है। सब स्वार्थपर प्रवृत्तियाँ इतनी प्रबल हैं कि उनके एकदम लुप्त होनेकी संभावना नहीं है। किन्तु यदि बहुत यत्न, शिक्षा और अभ्यासके फलसे बीच बीचमें दो-चार मनुष्य इन सब प्रवृत्तियोंको भूल जा सकें तो कहना होगा कि उन्होंने ही पूर्ण मनुष्यत्व प्राप्त किया है।

और एक बात है। संसारमें भले और बुरे दोनों तरहके आदमी हैं ! जितनी ही भले आदमियोंकी संख्या बढ़ती है उतना ही समष्टिरूपसे संसार भला हो उठता है। केवल यही नहीं, भले आदमी जितनी अधिक मात्रामें सद्गुणसंपन्न और असद्गुणहीन होते हैं उतना ही सारा संसार अधिकतर भला हो जाता है। ठंडा और गर्म पानी मिलानेसे जैसे ठंडा पानी गर्म पानीको कुछ ठंडा करता है और गर्म पानीको ठंडे पानीको कुछ गर्म करता है, और वह मिश्रित जल गुनगुना रह जाता है, वैसे ही बुरे आदमीके संसर्गसे भले आदमीको भी कुछ बुरा बनना पड़ता है, और भले आदमीके संसर्गसे बुरे आदमीको भी कुछ भला बनना पड़ता है। और, जलकी गर्मी जैसे क्रमशः स्वभावसे ही कम हो आती है वैसे ही बुराई भी क्रमशः घट जायगी। तब संपूर्ण मनुष्यसमाजकी गति क्रमशः उन्नतिमार्गमुखी होगी।

इच्छाके द्वारा प्रेरित होकर मनुष्य काम करनेका प्रयत्न या चेष्टा करता है। प्रयत्न या चेष्टा अन्तर्जगत्की अन्तिम क्रिया है, और बहिर्जगत्की अर्थात् देहकी और अन्यान्य वस्तुओंकी सहायतासे वह संपन्न होती है। प्रयत्नका ज्ञानकी अपेक्षा कर्मके साथ अधिकतर निकट-सम्बन्ध है, किन्तु अन्तर्जगत्की क्रिया होनेके कारण ज्ञानविभागमें, इस अन्तर्जगत्सम्बन्धी अध्यायमें भी उसका उल्लेख आवश्यक है।

प्रयत्न या चेष्टामें मनुष्य स्वतन्त्र है या परतन्त्र, इस बातको लेकर दार्शनिकोंमें—खासकर पाश्चात्य दार्शनिकोंमें—बहुत कुछ मतभेद है। कर्मविभागमें, ' कर्ताके स्वतन्त्रता है या नहीं ' नामके अध्यायमें, इसकी कुछ आलोचना होगी। यहाँपर इतना ही कहेंगे कि यद्यपि पहले जान पड़ता है कि चेष्टामें कर्ता स्वतन्त्र है, किन्तु कुछ सोचकर देखनेसे जान पड़ता है कि कर्ता स्वतन्त्र नहीं है। चेष्टा पूर्ववर्ती इच्छाका अनुकरण करती है, और वह इच्छा पूर्व-शिक्षा और पूर्व-अभ्यासके द्वारा निरूपित होती है। ऐसा है तो अनेक लोग कहेंगे कि धर्म-अधर्म और पाप-पुण्यके लिए मनुष्यकी जिम्मेदारी नहीं रहती। यह आपत्ति अखण्डनीय नहीं है, किन्तु इसका खंडन भी निपट सहज नहीं है। इसके खंडनके लिए संक्षेपमें यह बात कही जा सकती है कि कर्ताकी स्वाधीनता या पराधीनताके ऊपर कर्मका दोष-गुण या कर्मका फल-

भोग निर्भर नहीं है। हाँ, कर्ताका दोष-गुण और समाजका दिया हुआ दण्ड और पुरस्कार अवश्य निर्भर है। बुरे कर्मको बुरा ही कहना होगा, और बुरे कर्मके लिए बुरा फल ही भोगना होगा। किन्तु कर्ताकी स्वतन्त्रता न रहनेसे उसे दोषी या दण्डनीय नहीं कहा जा सकता। और, वह स्वतन्त्रता अगर किसी साक्षात् सम्बन्धवाले कारणसे नष्ट न होकर दूरवर्ती कार्य-कारण-प्रवाहमें नष्ट हुई हो, तो यद्यपि समाजको नियमबद्ध करनेवाले लोग समाजरक्षाके लिए, कर्ताको उसके कार्यका जिम्मेदार बनावेंगे, किन्तु विश्वनियन्ता उसे जिम्मेदार नहीं बनावेंगे। मगर विश्वराज्यके अलंघ्य नियमके अनुसार कर्ताको कर्मफल भोग करना होगा। वह कर्मफल किन्तु ऐसे कौशलसे अवधारित है कि वह क्रमशः मनुष्यकी चित्तशुद्धिका कारण होकर उसे सुपथगामी बनावेगा और उसका परिणाम, चाहे निकट हो और चाहे दूर हो, चाहे जल्दी हो और चाहे देरमें हो, शुभके सिवा अशुभ नहीं होगा। इस उत्तरके ऊपर फिर यह आपत्ति हो सकती है कि अगर कर्ताकी स्वतन्त्रता नहीं रही, और भले-बुरे सभी कामोंका परिणाम शुभ हुआ, तो लोग अधर्मके आचरणसे निवृत्त न होंगे, और कर्म-फल-भोग भी ईश्वरकी न्यायपरताके साथ संगत न होगा। कर्ताकी स्वतंत्रता स्वीकार न करोगे तो धर्मकी जड़ उखड़ जायगी, और ईश्वरको न्यायी नहीं कहा जा सकेगा। इस बातका उत्तर यह है कि कर्मफलभोगका भय ही अधर्माचरणको रोकनेके लिए यथेष्ट है। कारण, अधर्मका शीघ्र मिलनेवाला फल अशुभ है, और परिणाम सभीका शुभ होने पर भी, दुष्कर्म करनेवालेके लिए वह शुभ परिणाम सुदूरवर्ती है। और, अगर कहो कि स्वतन्त्रताविहीन कर्ताका कर्मफल भोगना ईश्वरकी न्यायपरायणताके विरुद्ध है, तो पक्षान्तरमें—स्वतन्त्रतायुक्त मनुष्यका कर्मफलभोग ईश्वरके दया-गुणके विरुद्ध है। कारण, सृष्टिके पहले वह तो जानते थे कि कौन क्या करेगा, तो फिर उन्होंने दुष्कर्म करनेवाले और उसके कारण दुःखभोग करनेवाले कर्ताकी सृष्टि क्यों की? असलमें बात यह है कि हमारा सीमाबद्ध ज्ञान ईश्वरके असीम गुणोंका विचार करनेमें सर्वथा असमर्थ है। देहयुक्त अपूर्ण आत्मा कर्ममें स्वतंत्र नहीं है। अवश्य ही यह स्वीकार करना होगा कि वह प्रकृतिपरतन्त्र है। कार्य-कारणका नियम माना जाय तो युक्ति यह बात कहती है, और आत्मासे पूछने पर आत्मा भी यही उत्तर देता है।

कर्ताका प्रकृति-परतन्त्रता-वाद यद्यपि एक ओर असत्कर्मके लिए दायित्व-बोधमें कुछ कमी कर सकता है, किन्तु दूसरी ओर वह सत्कर्मके लिए आत्म गौरवको कम करके अनेक अनिष्टके आकर अहंकारको विनष्ट करता है। अतएव उससे मनुष्यका धर्ममार्ग संकीर्ण नहीं होता, प्रशस्त और विस्तृत ही होता है।

चौथा अध्याय।

बहिर्जगत्।

पहले एक बार आभास दिया जा चुका है, और फिर भी एक बार कह देनेमें कुछ दोष नहीं है, कि इस साधारण ग्रन्थके ' बहिर्जगत ' शीर्षक क्षुद्र अध्याय-में, कोई पाठक बहिर्जगतके विषयकी किसी तरहकी पूर्ण या सम्यक् आलो-चना पढ़नेकी प्रत्याशा न करें। बहिर्जगत् असीम है। एक तरफ जैसे उसके बड़ेपनकी सीमा नहीं है, दूसरी तरफ वैसे ही उसमें क्षुद्रकी अपेक्षा क्षुद्रतर इतनी वस्तुएँ हैं कि उनकी क्षुद्रताकी भी सीमा नहीं है। एक तरफ बड़े बड़े ग्रह-तारका-नीहारिकापुंज हैं, दूसरी तरफ सूक्ष्म अतिसूक्ष्म अणु-परमाणु हैं। एक तरफ मनुष्य, हाथी, तिमि आदि विशालकाय जीव हैं, दूसरी तरफ कीट, पतंग, कीटाणु आदि सूक्ष्मतम जन्तु हैं। एक तरफ विशाल वनस्पति हैं, दूसरी तरफ तुच्छ तृण हैं। और, सर्वत्र उन्हीं जड़ और जीवोंकी समष्टि और व्यष्टिकी निरन्तर विचित्र क्रियाएँ हैं। इन सब वस्तुओं और व्यापारोंसे परिपूर्ण बहिर्जगतकी सम्यक आलोचना तो दूर, आंशिक आलोचना भी सहज बात नहीं है। इस स्थल पर बहिर्जगत्के विषयकी केवल नीचे लिखी मोटी मोटी बातोंकी ही व्याख्या की जायगी—

१ बहिर्जगत् और उसके विषयका ज्ञान यथार्थ है कि नहीं?

२ बहिर्जगत्के सब विषयोंका श्रेणीविभाग।

१–बहिर्जगत् और उसके विषयका ज्ञान यथार्थ है कि नहीं?

ज्ञाता अपने अन्तर्जगत्का जो कुछ (हाल) जानता है, वह साक्षात्संबंधसे जानता है, अर्थात् उसे उसे जाननेके लिए किसी मध्यवर्ती वस्तुकी सहायता नहीं लेनी पड़ती । कारण, उस जगहपर ज्ञेयपदार्थ-ज्ञाताकी अपनी ही एक अवस्था है । किन्तु बहिर्जगत्के विषयका ज्ञान उस प्रकारका नहीं है बहिर्जगत्की सब वस्तुएँ हमारे चक्षु-कर्ण आदि ज्ञानेन्द्रियोंको प्रकाश-शब्द आदिके द्वारा स्पन्दित करती हैं, और तब हमारी इन्द्रियोंकी वह स्पन्दनावस्था एक तरह मध्यस्थका काम करती है । उसीसे हममें उस उस वस्तुका ज्ञान उत्पन्न होता है । एक दृष्टान्तके द्वारा यह बात स्पष्ट हो सकती है । हम चन्द्र देखते हैं तब चंद्रमाके प्रकाशके द्वारा हमारी आँखोंमें चंद्रमाका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वास्तवमें हम वही देखते हैं, और वह प्रतिबिम्ब ठीक चद्रमाका स्वरूप है या नहीं, यह बात अन्य उपायसे परीक्षा किये बिना ठीक ठीक नहीं कही जा सकती । ज्योतिषशास्त्रके द्वारा जाना गया है कि चंद्रमाकी जो घटती-बढ़ती हम देखते हैं, वह यथार्थ ह्रासवृद्धि नहीं है । चंद्रमा जितना बड़ा है, प्रतिदिन उतना ही बड़ा रहता है । किन्तु सूर्यका प्रकाश भिन्न भिन्न भावसे उसके ऊपर पड़ता है, इसीसे वह घटा-बढ़ा देख पड़ता है । इतने दूरकी चीजकी बात छोड़ देकर अतिनिकटकी वस्तुको देखना चाहिए । जैसे, हमारे हाथमें स्थित मिट्टीके टुकड़ेके सम्बन्धमें हमारा ज्ञान कैसा है ? हम अपनी पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा जानते हैं कि उसका रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द किस प्रकारका है । किन्तु इन सब गुणोंके बीच, हम उसका आकार जैसा देखते हैं वह वैसा ही होनेपर भी उसके अन्य गुणोंको हम जैसा प्रत्यक्ष करते हैं वे ठीक उसीके अनुरूप है, यह बात नहीं कही जा सकती । उसके वर्णको हम शुक्लवर्ण प्रकाशमें धूसरवर्ण देखते हैं, अतएव उसमें अवश्य ही ऐसा कोई गुण है, जिसके मेलसे शुक्लवर्ण प्रकाश जब हमारे चक्षुको स्पंदित करता है तब हम धूसरवर्ण देखते हैं । किन्तु वह गुण ही धूसरवर्ण है, यह बात तब कैसे कही जायगी जब शुक्लकर्ण प्रकाश उसके साथ मिले विना वह वर्ण देख नहीं पड़ता । उस मृत्तिकाखण्डका रस कषाय (कसैला) है, किन्तु मेरी जीभमें जो कसैले रसके स्वादका अनुभव होता है उसे उत्पन्न करनेका गुण मृत्तिकाखण्डमें रहने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह गुण कसैला स्वाद है । इसके सिवा

उस मृत्तिकाखण्डमें हमारी इन्द्रियके अगोचर अनेक गुण रह सकते हैं। किन्तु हमारे पास जाननेका उपाय न रहनेके कारण हम उन्हें जान नहीं पाते। जैसे आँखोंवाला मनुष्य उस मृत्तिकाखंडके रूपको देख पाता है, किन्तु जन्मका अंधा आदमी उसके वर्णके बारेमें कुछ भी नहीं जान पाता, और यह भी नहीं जान सकता कि वर्ण वैसे पदार्थका एक गुण है, वैसे ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दको छोड़कर किसी छठे इन्द्रियके गुणको छः इन्द्रियोंवाला जीव जान सकता है; किन्तु हम पाँच इन्द्रियोंवाले जीव उस छठी इन्द्रियके अभावसे उसका कुछ भी ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। मतलब यह कि हमारा बहिर्जगत्के विषयका ज्ञान इन्द्रियसापेक्ष है; वह निरपेक्ष ज्ञान नहीं है, और स्वरूपज्ञान भी नहीं है। इसीकारण किसी किसी दार्शनिक (१) के मतमें प्रथमतः बहिर्जगतके अस्तित्वमें ही संदेह है। वे कहते हैं, हम हैं, इसीसे हमारे बहिर्जगत् है। हमने अपने मनकी सृष्टिको बाहर आरोपित करके निज निज बहिर्जगत्की सृष्टि कर ली है। परन्तु बहिर्जगत्-विषयक जाति और साधारण नाम स्पष्ट रूपसे हमारी सृष्टि है, वह बहिर्जगत्में नहीं है। शंकराचार्यका मायावाद भी इसी श्रेणीका मत है। लेकिन वह और भी अधिक दूर जाता है। कारण, उस मतके अनुसार जगत् मिथ्या है, केवल एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है। इस जगह पर युक्ति कहती है, यह बात इस अर्थमें सत्य है कि जगत्की सभी वस्तुएँ अनित्य और परिवर्तनशील हैं, केवल जगत्का आदिकारण ब्रह्म नित्य और अपरिवर्तनशील है। जगत्के अनेक विषयोंके सम्बन्धमें हमारा ज्ञान भ्रान्तिमूलक है। रस्सीमें साँप देखनेकी तरह, अविद्या या अज्ञानके कारण वस्तुका स्वरूप आवृत रहता है और उसमें भिन्नरूप विक्षिप्त होता है। और, उसी अज्ञानके कारण सब विषयोंका यथार्थ तत्त्व न जान पाकर हम सब तरहके दुःख भोगते हैं। जैसे, विषय-सुखकी अनित्यताको न समझकर नित्य जानकर हम उसका अनुसरण या पीछा करते हैं, और उसकी अनित्यताको कारण जब वह सुख फिर नहीं पाया जाता, तब उससे वञ्चित होकर सब तरहके क्लेशका अनुभव करते हैं। मगर ये सब बातें सच होने पर भी सम्पूर्ण बहिर्जगत् और उसके विषयका सारा ज्ञान मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

---

(१) यथा, बर्कले (Berkeley)

पहले तो ज्ञेय और ज्ञानका मूल प्रमाण ज्ञाताकी उक्ति है और ज्ञाता अर्थात् आत्मासे पूछने पर यह उत्तर पाया जाता है कि बहिर्जगत् और उसके विषयका ज्ञान प्रकृत है। यद्यपि अनेक स्थलों पर (जैसे मैं चंद्र देखता हूँ—इत्यादि स्थलों-पर) आत्माका उत्तर परीक्षाके द्वारा संशोधनसापेक्षसा जान पड़ता है तोभी संशोधनके बाद वह उत्तर जिस भावको धारण करता है उससे बहिर्जगत् और उसके विषयका ज्ञान सत्य है—आत्माका अवभासमात्र या मिथ्या नहीं है —यही प्रतिपन्न होता है। कारण, उस संशोधनका फल यह है कि बहिर्जग-त्की जो वस्तु हम समझते हैं कि प्रत्यक्ष करते हैं वह उस वस्तुके द्वारा उत्पन्न हमारी इन्द्रियकी अर्थात् देहकी ही दूसरी अवस्था है। किन्तु पहले ही ('ज्ञाता' शीर्षक अध्यायमें) दिखाया जा चुका है कि आत्मा देहसे भिन्न है अतएव देह जब आत्मासे भिन्न है, अर्थात बहिर्जगत्का अंश है, तब देहका अवस्थान्तर ज्ञान बहिर्जगत्-विषयक ज्ञान है, और देहका अस्तित्व बहिर्जग-त्का अस्तित्व है—यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा। परन्तु देहका ऐसा अवस्थान्तर आपहीसे घटित नहीं होता, वह देह और आत्माको छोड़ कर अन्य पदार्थके द्वारा संघटित होता है, यह बात आत्मा जानता है। अतएव देहसे भिन्न बहिर्जगत् है, यह बात भी प्रतीयमान होती है। देहबन्धनसे मुक्त, परमात्मासे युक्त, पूर्णताको प्राप्त आत्माके लिए आत्मा और अनात्माके भेदका ज्ञान नहीं रह सकता, किंतु देहयुक्त अपूर्ण आत्माके लिए बहिर्जगत् और उसके विषयका ज्ञान यथार्थ कह कर मानना ही होगा।

दूसरे हम बहिर्जगत्की वस्तुके संबंधमें इंद्रिय द्वारा जो ज्ञान प्राप्त करते हैं वह उस वस्तुका स्वरूप-ज्ञान नहीं सही, उसे उत्पन्न करनेवाला उस वस्तुका स्वरूप ही तो है; अतएव वह रस्सीमें साँप देखनेकी तरह मिथ्या-ज्ञान नहीं है। उस ज्ञान और ज्ञेय पदार्थके स्वरूपके साथ सादृश्य और घनिष्ठ सम्बन्ध है।

तीसरे, बहिर्जगत्-विषयक जाति और साधारण नाम यद्यपि अन्तर्जगत्में ही है और वह ज्ञाताकी सृष्टि है, तथापि उसके द्वारा बहिर्जगत्का असत्य होना नहीं प्रमाणित होता, बल्कि उसकी सत्यता ही प्रतिपन्न होती है। कारण जिन सब वस्तुओंके सम्बन्धमें जाति या साधारण नामकी सृष्टि हुई है उनका अस्तित्व स्वीकार करनेसे ही बहिर्जगत्का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है।

चौथे, आर्य जातिके बुद्धिमान् विद्वानोंका 'मायावाद,' जान पड़ता है, जीवको अनित्य विषय-वासनासे निवृत्त और नित्य पदार्थ ब्रह्मकी चिन्तामें अनुरक्त करनेके लिए ही कहा गया है। मायावादकी सृष्टि होनेका और भी एक कारण हो सकता है।—वह यह कि अद्वैतवादीके मतमें एक ब्रह्म ही जगत्का निमित्त कारण और उपादान कारण है। ब्रह्मसे ही जड़ और चेतन सब पदार्थोंकी उत्पत्ति हुई है। ब्रह्म नित्य और अपरिवर्तनशील है, किन्तु यह दृश्यमान जगत् अनित्य और परिवर्तनशील है। इस कारण ब्रह्मसे यह जगत् उत्पन्न होना अनुमान-सिद्ध नहीं। अतएव यह दृश्यमान जगत् मिथ्या और मायामय या ऐन्द्रजालिक है।—प्रथमोक्त अर्थमें मायावाद केवल भाषाका अलंकार मात्र है। उस अर्थमें जगत्को मायामय या मिथ्या कहनेसे यह नहीं जान पड़ता कि जगत्का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया। परमार्थ अर्थात् ब्रह्मके साथ तुलनामें जगत्को मिथ्या कहें तो कह भी सकते हैं, बस इतना ही समझ पड़ता है। किन्तु दूसरा जो कारण कहा गया है, उसके अनुसार जगत्को मिथ्या कहना युक्तिसिद्ध नहीं जान पड़ता। यद्यपि ब्रह्म नित्य और जगत् अनित्य है, तो भी ब्रह्मशक्तिकी अभिव्यक्तिके द्वारा जगत् प्रकट होता है या प्रकाशित होता है, और वह शक्ति अव्यक्त रहने पर जगत् नहीं रहता, इस भावसे देखा जाय तो ब्रह्मकी नित्यता और जगत्की अनित्यताका परस्पर विरोध या असामञ्जस्य नहीं देख पड़ता। और, 'ब्रह्मका परिवर्तन नहीं होता,' यह कथन इस अर्थमें सत्य है कि ब्रह्म अपनी शक्ति और इच्छाके सिवा अन्य किसी कारणसे परिवर्तित नहीं होता। अतएव ब्रह्मकी अपनी शक्ति और इच्छाके द्वारा उत्पन्न जगत्के परिवर्तनको असंगत नहीं कहा जा सकता (१)।

" बहिर्जगत् सत्य है और बहिर्जगत्के विषयका ज्ञान वस्तुका स्वरूपज्ञान न होने पर भी वस्तुके स्वरूपसे उत्पन्न ज्ञान है,'' इस सिद्धान्तमें पहुँचने पर प्रश्न उठता है कि बहिर्जगत्का उपादन कारण क्या है? और हम बहिर्जगत्की वस्तुका जो ज्ञान प्राप्त करते हैं उसके साथ उस स्वरूपका क्या सम्बन्ध है?

---

(१) इस बारेमें पं० प्रथमनाथ तर्कभूषणप्रणीत 'मायावाद' और पं० कोकिलेश्वर विद्यारत्नप्रणीत 'उपनिषदके उपदेश' पुस्तकके दूसरे खण्डकी अवतरणिका देखो। दोनों पुस्तकें बंगभाषामें हैं।

कुँभार घड़ा बनाता है, इस लिए वह घड़ेका निमित्त कारण है । इस स्थूल दृष्टान्तसे यह सहज ही समझमें आजाता है कि ब्रह्म इस जगत्का निमित्त कारण है। किन्तु कुँभार मिट्टीसे घड़ा बनाता है, और मिट्टी उस घड़ेका उपादान कारण है। ब्रह्म किस चीजसे जगत्की सृष्टि करता है? जगत्-का उपादान कारण क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर देना अत्यन्त सहज नहीं है, और इसके उत्तरके सम्बन्धमें अनेक मत हैं । कोई कोई कहते हैं, जगत्के उपादान कारण जड़ और जीव हैं और वे दोनों अनादि हैं। कोई कहते हैं, जीव या आत्मा परमात्मा अर्थात् ब्रह्मसे उत्पन्न है, किन्तु जड़ और चैतन्यमें इतना वैषम्य है कि चैतन्यमय ब्रह्मसे जड़की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती, इस लिए जड़ अनादि है और वही जगत्का उपादान कारण है । जड़वादी लोग कहते हैं चैतन्यसे जड़की सृष्टि असंभव है और उसका कोई प्रमाण भी नहीं है । बल्कि जड़से चैतन्यकी उत्पत्तिका प्रमाण जीवदेहमें पाया जाता है, इस लिए जड़ ही जगत्का एकमात्र मूल कारण है। और, वेदान्ती अद्वैतवादी लोग कहते हैं कि एक ब्रह्मसे ही चैतन्य और जड़ दोनोंकी उत्पत्ति है, और ब्रह्म ही जगत्का एकमात्र कारण है ।

(१) उपादान कारणके सम्बन्धमें अनेक मत ।

इन मतोंको श्रेणीबद्ध करनेसे देखा जाता है कि ये दो श्रेणियोंमें बँटे हुए हैं । प्रथम, द्वैतवाद अर्थात् जड़ और चैतन्य दोनोंके अलग अलग अस्तित्वका स्वीकार। द्वितीय, अद्वैतवाद अर्थात् एकमात्र पदार्थको जगत्का निमित्त कारण और उपादान कारण मानना। इस द्वितीय श्रेणीके मतमें भी और तीन विभाग हैं ।—(क) जड़ाद्वैतवाद, अर्थात् एकमात्र जड़को ही जगत्का उपादान कारण मानना । (ख) जड़चैतन्याद्वैतवाद, अर्थात् जड़ और चैतन्य दोनोंके गुणोंसे युक्त एक पदार्थको जगत्का उपादान कारण स्वीकार करना । (ग) चैतन्याद्वैतवाद, अर्थात् चैतन्यको ही जगत्का एकमात्र उपादान कारण मानना।

इनमेंसे कौन मत ठीक है, यह कहना कठिन है । तो भी जड़चैतन्याद्वैत-वादके विरुद्ध प्रबल आपत्ति यह है कि जड़ और चैतन्यके गुणमें चाहे जितना वैषम्य क्यों न हो, जड़ पदार्थके प्रत्यक्ष ज्ञानलाभके समय, और हम लोग जब इच्छानुसार अंगसंचालन करते हैं उस समय, जाना जाता है कि जड़ चैतन्यके ऊपर और चैतन्य जड़के ऊपर कार्य कर रहा है, और जड़ और

चैतन्यका विचित्र साक्षात्-सम्बन्ध भी घटित होता है, अतएव वे बिल्कुल ही विभिन्न प्रकारके-पदार्थ नहीं हो सकते।

अद्वैतवादमें भी जड़ाद्वैतवाद युक्तिसंगत नहीं हो सकता। कारण जड़ पदार्थकी संयोग-वियोग आदि प्रक्रियाओंके द्वारा चैतन्यकी अर्थात् आत्मज्ञान-की उत्पत्ति अचिन्तनीय है। जड़चैतन्याद्वैतवाद भी युक्तिसिद्ध नहीं जान पड़ता। क्योंकि उसमें अनावश्यक कल्पनागौरव दोष मौजूद है। यदि जड़ या चैतन्यमेंसे एकके अस्तित्वका अनुमान यथेष्ट है, तो फिर जड़ और चैतन्य दोनोंके गुणोंसे युक्त एक पदार्थका अनुमान अनावश्यक है। देखा गया है कि अकेले जड़से जगत्की सृष्टि होना असंभव है। कारण जड़से चैतन्यकी उत्पत्ति अचिन्तनीय है। अब देखना चाहिए, चैतन्यसे जड़की सृष्टि हो सकती है या नहीं। अगर हो सकती है, तो स्वीकार करना होगा कि चैतन्याद्वैतवाद ही सबकी अपेक्षा ठीक और ग्रहण करने योग्य मत है।

यद्यपि पहले चैतन्यसे जड़की उत्पत्ति भी जड़से चैतन्यकी उत्पत्तिकी तरह अचिन्तनीय जान पड़ती है, लेकिन कुछ सोच कर देखनेसे मालूम होता है कि यह बात पहली बातकी तरह उतनी असंगत या असंभव नहीं है। कारण, जड़के आस्तित्वका प्रमाण ही ज्ञाताका ज्ञान, अर्थात् चैतन्यकी एक अवस्था है। हमारे इस कथनका यह मतलब नहीं है कि ज्ञाताके ज्ञानके बाहर जड़का अस्तित्व नहीं है। हम केवल यही कह रहे हैं कि जड़के और चैतन्यके मूलमें इतना सा ऐक्य है कि उनके बीच ज्ञेय और ज्ञाताका सम्बन्ध संभव-पर है। यह बात कहनेसे अवश्य प्रश्न होगा कि अगर यही है तो फिर हम जड़से चैतन्यकी उत्पत्तिको असंभव क्यों मानते हैं? इस प्रश्नका उत्तर पहले ही दिया जा चुका है। हम जिसे जड़ कहते हैं उसमें चैतन्यका प्रधान गुण, अर्थात् आत्मज्ञान, नहीं है। इस उत्तरका प्रत्युत्तर हो सकता है कि अगर चैतन्यका प्रधान गुण आत्मज्ञान जड़में न देख पड़नेके कारण जड़से चैतन्यकी उत्पत्ति असंभव कहते हो, तो उधर जड़का प्रधान गुण, देश या स्थानमें व्यापकता, चैतन्यमें न देख पड़ने पर भी चैतन्यसे जड़की उत्पत्ति कैसे संभव कही जा सकती है? इस आपत्तिका खंडन करनेके लिए यह कहा जा सकता है कि कुछ सोच कर देखनेसे समझमें आ जाता है कि "देश या स्थानमें व्यापकताका गुण जड़में देख पड़ता है, चैतन्यमें नहीं देख पड़ता" यह

कथन संपूर्ण रूपसे ठीक नहीं है। विख्यात दार्शनिक पण्डित 'कान्ट' के मतमें, बहिर्जगत्में देश-पदार्थ है ही नहीं, वह केवल ज्ञाताके अन्तर्जगत्से उत्पन्न है। यह बात अगर सच हो तो इससे उक्त आपत्तिका खण्डन सहजमें ही हो गया। हम कान्टके उक्त मतको ठीक नहीं कहते, किन्तु हमारे मतमें 'स्थानमें स्थिति' जड़ और चैतन्य दोनोंका ही लक्षण है।

यह तो हुआ दार्शनिकोंका तर्क। अब यह देखना चाहिए कि चैतन्य ही बहिर्जगत्का उपादान कारण है, अर्थात् चैतन्याद्वैतवाद ही ग्रहण करने योग्य मत है, इस सम्बन्धमें कोई वैज्ञानिक प्रमाण या युक्ति है कि नहीं। वैज्ञानिकोंमेंसे अनेक लोग इन सब बातोंको हमारे ज्ञानकी सीमाके बाहर कहकर उड़ा देते हैं। उनमेंसे जिन्होंने इस विषयका अनुशीलन किया है वे भी यह नहीं कह सकते कि हम किसी सिद्धान्त पर पहुँचे हैं या नहीं। हाँ, उनकी बातचीतके ढंगसे यहाँतक आभास पाया जाता है कि जिसे हम जड़ कहते हैं वह वास्तवमें जड़ नहीं है, वह निरन्तर गतिशील ईथर (ether) में स्थित शक्तिकेन्द्रपुञ्ज है (१)। एक वैज्ञानिक (२) इतनी दूर गये हैं कि उनके मतमें जड़ जो है वह शक्तिसमष्टि है, परमाणुओंके विश्लेषणसे शक्तिका उद्भव हो सकता है, और नई आविष्कृत रेडियम धातु (Radium) की क्रिया इसी श्रेणीका कार्य है।

चैतन्यसे जड़की उत्पत्तिका सिद्धान्त मानने पर और एक प्रश्न उठता है, उसके सम्बन्धमें भी कुछ कहना आवश्यक है। वह प्रश्न यह है कि अगर चैतन्यसे जड़की उत्पत्ति हुई तो फिर चैतन्यका आत्मज्ञान जड़से कहाँ चला गया? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा जा सकता है कि जड़पदार्थ शक्तिसमष्टि होने पर भी जैसे वह शक्ति उसमें प्रच्छन्न भावसे रहती है, केवल विशेष विशेष अवस्थामें ही वह प्रकट होती है, वैसे ही आत्मज्ञान भी उसमें प्रच्छन्न भावसे है, और अवस्थाविशेषमें उसका आभास पाया जा सकता है। डाक्टर जगदीशचन्द्र वसु (३) की गवेषणा भी कुछ कुछ इसी मतको पुष्ट करती है।

(१) Karl Pearson's Grammar of Science, 2nd ed. Ch. VII देखो।

(२) Gustave Le Bon's Evolution of Matter देखो।

(३) Response in the Living and Non-Living देखो।

अगर यही बात ठीक है तो फिर जड़से चैतन्यकी उत्पत्ति स्वीकार करनेमें आपत्ति क्या है ?—यह बात अगर कोई महाशय कहें तो उसका उत्तर यह है कि जिस जड़से चैतन्यका विकास हो सकता कहा जाता है वह चैतन्यसंभूत जड़ है, जडवादीका जड़ नहीं है, अर्थात् जिस जड़में पहले चैतन्यका कोई संसर्ग नहीं था वह जड़ नहीं। जड़ाद्वैतवाद और चैतन्याद्वैतवाद इन दोनों मतोंमें भेद यह है कि पहले मतमें जड़ ही सृष्टिका मूलकारण है और चैतन्य जड़से उत्पन्न है, और दूसरे मतमें चैतन्य ही सृष्टिका मूल कारण है और जड़ चैतन्यसे उत्पन्न है।

अब इसकी कुछ आलोचना आवश्यक है कि ज्ञेयवस्तुके स्वरूप और उसके ज्ञानका परस्पर क्या सम्बन्ध है।

ज्ञेय वस्तुका स्वरूप और उसके विषयका ज्ञान दोनों एक ही प्रकारके पदार्थ हैं, यह बात अन्तर्जगत्की वस्तुके सम्बन्धमें सत्य हो सकती है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह बहिर्जगत्की वस्तुके सम्बन्धमें भी समानभावसे सत्य है। मैं अपने स्मृतिपटलमें किसी अनुपस्थित मित्रकी जो मूर्ति देखता हूं वह अन्तर्जगत्की वस्तु और उसके विषयका ज्ञान एक ही पदार्थ है। उस मित्रके सामने उपस्थित रहनेपर उसकी जो मूर्ति मैं प्रत्यक्ष करता हूँ वह और उसके विषयका ज्ञान एक ही तरहका पदार्थ हो सकता है। किन्तु उस मित्रके मधुर स्वरको सुननेका ज्ञान और उस स्वरका स्वरूप, अथवा उस मित्रके दिये हुए किसी खूब मीठे फलके स्वादका ज्ञान और उस स्वादको प्रकट करनेवाले रसका स्वरूप, दोनों एक ही प्रकारके पदार्थ हैं, ऐसा अनुमान नहीं किया जा सकता। हाँ, पक्षान्तरमें, यह बात भी नहीं कही जा सकती कि बहिर्जगत्-विषयक ज्ञान और बाह्य वस्तुके स्वरूपमें कोई घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है, अथवा बहिर्जगत् मिथ्या है और उसके विषयका ज्ञान मायामय और भ्रान्तिमूलक है। ऐसा कहा जाय तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सृष्टिकर्ताका कार्य एक विषम प्रतारणा है।

बाह्यवस्तुका स्वरूप और इन्द्रियद्वारा प्राप्त उसके विषयका ज्ञान, दोनों भिन्न प्रकारके पदार्थ होने पर भी परस्पर घनिष्ठरूपसे सम्बद्ध रहते हैं। जैसे ज्ञानकी स्पष्टताका तारतम्य ज्ञेय वस्तुके गुण या ज्ञान उत्पन्न करनेवाली

शक्तिकी न्यूनता या अधिकताका ज्ञापक है और ज्ञेयवस्तुके अभावमें उसके विषयके ज्ञानका भी अभाव होता है ।

ज्ञेय वस्तुका स्वरूप और उससे उत्पन्न ज्ञानका पार्थक्य, रसना घ्राण और श्रवणेन्द्रियसे प्राप्त ज्ञानके सम्बन्धमें ही विशेष रूपसे प्रतीत होता है । दर्शनेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रियसे प्राप्त आकृतिके ज्ञान और आकृतिके स्वरूपका पार्थक्य उतना स्पष्ट अनुमित नहीं होता ।

बहिर्जगत्के ज्ञेयवस्तुविषयक ज्ञानलाभके साथ साथ बुद्धि जो है वह उन उन वस्तुओंकी जातिका विभाग करती है । पहले ही कहा जा चुका है कि वह जाति केवल नाम नहीं है, वह उस जातिके वस्तुसमूहकी साधारण गुण-समष्टि है । जाति, बहिर्जगत्में, उस जातिकी वस्तुसे अलग रूपमें नहीं है । जातीय गुणोंकी समष्टि जातिकी प्रत्येक वस्तुमें है । जाति केवल अन्तर्जगत्का पदार्थ है । जातिविषयक ज्ञान और जातिका स्वरूप, इन दोनोंमें पार्थक्यका होना जान नहीं पड़ता ।

(२) बहिर्जगत्के सब विषयोंका श्रेणीविभाग ।

बहिर्जगत्के सब विषयोंको श्रेणीबद्ध किया जाय, तो कई प्रणालियोंसे वह किया जा सकता है ।

बहिर्जगत्-विषयक ज्ञान इन्द्रियद्वारा प्राप्त है; अतएव बहिर्जगत्के सब विषयोंको हमारी पांच ज्ञानेन्द्रियोंके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द इन पाँच प्रकारके विषयोंके अनुसार श्रेणीबद्ध किया जा सकता है ।

अथवा बहिर्जगत्की सब वस्तुएँ चेतन, उद्भिद्, या अचेतन हैं, इसी लिए इन तीन श्रेणियोंमें उनका विभाग किया जा सकता है ।

अथवा बहिर्जगत्की सब वस्तुओंके परस्परके कार्य अनेक प्रकारके हैं, जैसे भौतिक, रासायनिक और जैविक, इसी लिए भौतिक, रासायनिक और जैविक, इन श्रेणियोंमें वे बाँटे जा सकते हैं ।

जड़पदार्थकी जिन सब क्रियाओंके द्वारा उनकी भीतरी प्रकृतिका परिवर्तन न होकर केवल बाहरी आकृति आदिका परिवर्तन होता है उन्हें ऊपर **भौतिक** (१) क्रिया कहा गया है । इसके दृष्टान्त—छोटी वस्तुको खींचकर

(१) अँगरेजी " Physical " शब्दका प्रतिशब्द ।

या पीटकर बड़ा करना, गर्म चीजको ठंढा और ठंडी चीजको गर्म करना, कड़ी चीजको गलाकर पतला करना, इत्यादि हैं।

जड़पदार्थकी जिन सब क्रियाओंके द्वारा उनकी भीतरी प्रकृतिका परिवर्तन होता है उन्हें **रासायनिक** क्रिया (१) कहते हैं। इसके दृष्टान्त–ताँबे और महाद्रावकके मेलसे तूतियेकी उत्पत्ति, गन्धक और पारेके मेलसे सिंगरफकी उत्पत्ति, इत्यादि हैं।

सजीव उद्भिद् वृक्ष आदि अथवा चेतन पदार्थके जो सब कार्य होते हैं उन्हें **जैविक** (२) क्रिया कहते हैं। इसके दृष्टान्त—मृत्तिका और वायुसे पदार्थ लेकर उद्भिद्‌की पुष्टि, खाद्य पदार्थसे सजीव देहमें रक्तमांसकी उत्पत्ति, इत्यादि हैं।

उक्त क्रियाओंमें और भी अवान्तर विभाग हैं। जैसे—भौतिक क्रियाओंमें कुछ उत्ताप-जनित हैं, कुछ वैद्युतिक हैं, इत्यादि। जैविक क्रियाओंमें कुछ अज्ञान-जैविक हैं, कुछ सज्ञान-जैविक हैं। सज्ञान-जैविकोंमें कुछ मानसिक हैं, कुछ नैतिक हैं, इत्यादि।

इस तरह बहिर्जगत्‌की सब वस्तुएँ या विषय अनेक ढंगोंसे श्रेणीबद्ध किये जा सकते हैं। उनमेंसे जो ढंग या प्रणाली जिस आलोचनाके लिए सुविधाजनक हो उस जगह उसीका सहारा लेना चाहिए।

(१) बहिर्जगत्‌के विषयोंके सम्बन्धमें दो एक विशेष बातें।

बहिर्जगतकी सब जड़ वस्तुओंकी आलोचना करते समय निम्नलिखित दो प्रश्न उपस्थित किये जा सकते हैं—

प्रथम—बहिर्जगतकी सब जड़ वस्तुएँ मूलमें एक तरहकी हैं, या अनेक तरहके पदार्थोंसे गठित हैं? और अगर एक तरहके पदार्थसे गठित हैं तो वह एक पदार्थ क्या है?

द्वितीय—बहिर्जगत्‌की जड़ वस्तुओंकी क्रियाएँ मूलमें अनेक तरहकी हैं, या एक तरहकी हैं? और अगर एक प्रकारकी हैं तो वह प्रकार क्या है?

पहले ऐसा जान पड़ेगा कि पहले जगत्‌के उपादान कारणके सम्बन्धमें जो कहा गया है, ऊपर प्रथम प्रश्नमें, वही बात उठाई जा रही है;

(१) अँगरेजी "Chemical" शब्दका प्रतिशब्द। (२) अँगरेजी "Biological" शब्दका प्रतिशब्द।

मगर वास्तवमें यह बात नहीं है । जगत्का उपादानकारण क्या है?—इस पूर्वोक्त प्रश्नका उद्देश्य है इस बहुत बड़े तत्त्वका निर्णय करना कि यह जगत् मूलमें केवल जड़से, या केवल चैतन्यसे, अथवा जड़ और चैतन्यसे स्पष्ट हुआ है, किन्तु वर्तमान प्रश्न कि "बहिर्जगत्की सब जड़ वस्तुएँ मूलमें भिन्न भिन्न या एक प्रकारके पदार्थसे गठित हैं?" पहलेके प्रश्नकी अपेक्षा बहुत संकीर्ण है, और इसका उद्देश्य है इस तत्त्वका निर्णय करना कि सब जड़ पदार्थ मूलमें अनेकविध या एकविध जड़से उत्पन्न हैं, और वह अनेकविध या एकविध जड़ किस प्रकारका है? दुरूह दार्शनिक तत्त्वकी खोज छोड़ देने पर भी अपेक्षाकृत सुसाध्य वैज्ञानिक अनुसन्धानके द्वारा इस अन्तिम प्रश्नका उत्तर पानेकी ओर कुछ दूर अग्रसर हुआ जा सकता है। और परलोकके विषयकी चिन्तासे निवृत्त होने पर भी, ऐहिक व्यापारके लिए इस प्रश्नकी आलोचनाका प्रयोजन है । अनेक समय एक वस्तुसे दूसरी वस्तु उत्पन्न करना आवश्यक होता है, और सुलभ वस्तुको दुर्लभ वस्तुके रूपमें बदलना सभी समय वाञ्छनीय है । खाद-और पानीसे वृक्ष-लता आदिका रस, और उससे अधिक मात्रामें उनके पत्ते-फूल-फल उत्पन्न करना अनेक समय आवश्यक होता है । जब पृथ्वी पर लोगोंकी संख्या थोड़ी थी, तब बिना यत्नके आप ही आप उत्पन्न फल-मूल और शिकारमें मिला हुआ मांस ही यथेष्ट था । इस समय लोकसंख्या बढ़ जानेके कारण 'उद्भिज्ज' वस्तुसे उत्पन्न (अन्न, साग-सब्जी वगैरह) आहारका परिमाण बढ़ाना आवश्यक हो गया है, और उसके लिए यह जाननेकी आवश्यकता है कि कैसी खाद देनेसे वह उद्देश्य सफल होगा । ताँबा, शीशा आदि कम की-मती धातुओंको सोना बना सकना सभी समय वाञ्छनीय है, और इसके लिए अनेक देशोंमें अनेक समय बहुत कुछ चेष्टा हुई है। इन सब कामोंमें सफलता पानेके लिए पहले यह जान लेना चाहिए कि हम जिस वस्तुको दूसरी वस्तुके रूपमें बदलना चाहते हैं, वे दोनों वस्तुएँ मूलमें एक प्रकारकी हैं या भिन्न प्रकारकी हैं । अगर मूलमें वे भिन्न प्रकारकी हैं तो वाञ्छित परि-वर्तन असाध्य है । अगर मूलमें दोनों वस्तु एक प्रकारकी हैं तो यह अनु-सन्धान करना चाहिए कि किस प्रक्रियाके द्वारा एक वस्तु दूसरी वस्तुके रूपमें बदली जा सकती है । रसायनशास्त्र और उद्भिद्‌विद्याकी आलोचना करके जाना गया है कि उद्भिद् अर्थात् वृक्ष-लता आदिसे उत्पन्न खाद्यमें यवक्षारजन

वायु प्रचुर मात्रामें रहता है। अतएव वह वायु जैसी खाद देनेसे वृक्ष-बेल आदि उद्भिदोंमें प्रचुर मात्रामें प्रवेश कर सके और ठहर सके, वैसी ही खाद देनी चाहिए। अभीतक यह नहीं जाना गया है कि और अन्य धातुएँ मूलमें एक पदार्थसे उत्पन्न हैं कि नहीं। इसी कारण अभीतक यह नहीं कहा जा सकता कि और धातुओंसे सोना बनाया जा सकता है या नहीं। रसायनशास्त्रके अनुसार सब प्रकारके जड़ पदार्थ अन्यून ७० प्रकारके जुदे जुदे मौलिक पदार्थोंमेंसे एक या एकसे अधिक पदार्थोंके मेलसे उत्पन्न हुए हैं, और सुवर्ण तथा अन्यान्य सब धातुएँ एक एक मौलिक पदार्थ हैं। यह बात अगर ठीक है तो दूसरी धातुका सोना नहीं बन सकता। किन्तु इस समय कोई कोई रसायनशास्त्रके ज्ञाता पण्डित (१) ऐसा आभास देते हैं कि हम जिन पदार्थोंको भिन्न भिन्न मौलिक पदार्थ कहते हैं, वे परस्पर एकदम इतने अलग नहीं हैं कि एकको दूसरेका रूप देना असंभव कहा जा सके। मगर अबतक ऐसे परिवर्तनको कोई साध्य नहीं कह सका है।

सभी मौलिक पदार्थ अपने अपने प्रकारके परमाणुओंकी समष्टि हैं। यही रसायनशास्त्र द्वारा अनुमोदित तत्त्व है। किन्तु कोई कोई वैज्ञानिक पण्डित ऐसा आभास देते हैं कि परमाणु भी व्योम या ईथरकी चक्कर लगा रही केन्द्र-समष्टि हैं।

बहिर्जगत्के जड़ पदार्थोंकी सब क्रियाओंपर नजर डालनेसे माध्याकर्षण क्रिया, रासायनिक आकर्षण क्रिया, ताप-घटित क्रिया, प्रकाश-घटित क्रिया, वैद्युतिक क्रिया आदि अनेक प्रकारकी विचित्र क्रियाएँ देख पड़ती हैं, और पहले वे परस्पर विभिन्न ही जान पड़ती हैं। किन्तु वैज्ञानिक पण्डित इन सब क्रियाओंकी एकता स्थापित करनेके लिए बहुत कुछ प्रयास कर रहे हैं, और उनकी चेष्टा कुछ कुछ सफल भी हुई है। यह बात बहुत दिनोंसे लोग जानते हैं कि ताप जो है वह गति या गतिका वेग रोकनेसे उत्पन्न होता है। अरणि-काष्ठको घिसकर या चकमक पत्थरमें लोहा ठोककर आग निकालना इस बातके दृष्टान्त हैं। साठ वर्ष हुए मेञ्चेस्टर नगरके डाक्टर जूलने जाँच करके यह निर्णय

---

(१) जैसे Sir William Ramsay. विशेष जानना हो तो इन्हीं साहबका ssays Biographical and Chemical, P. 191 देखो।

कर दिया है कि कितनी गति या गतिरोधसे कितना या कितनी डिगरी ताप पैदा होता है। उन्नीसवीं शताब्दीके आरंभमें डाक्टर यंगने यह साबित कर दिया था कि प्रकाश भी कोई वस्तु नहीं है, बल्कि वस्तुविशेष अर्थात् ईथरका स्पन्दन या गति है। यही मत अबतक सर्वसम्मत हो रहा है। और क्लार्क मैक्सवेल साहब इस बातको एक प्रकारसे प्रमाणित कर चुके हैं कि प्रकाश-घटित क्रिया और वैद्युतिक क्रियामें बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। किन्तु यह अब तक कोई भी नहीं कह सका कि माध्याकर्षण भी ईथरकी किसी प्रकारकी क्रिया है। जो कुछ हो, आशा की जा सकती है कि विज्ञानके अनुशीलन द्वारा किसी समय यह प्रमाणित हो जायगा कि जड़ जगत्की सभी क्रियाएँ ईथर-के स्पन्दन या गतिसे उत्पन्न हैं (१)। और, ऐसी आशा भी हो सकती है कि "जड़ पदार्थ भी उसी ईश्वरकी घूर्णायमान केन्द्रिसमष्टि है," यह एक दिन सिद्ध हो जायगा।

किन्तु यहाँ पर कुछ कठिन प्रश्न उठते हैं।—जिसकी तरंग या नर्तन या स्पन्दन (क्योंकि वह गति किस प्रकारकी है, यह कोई अभी तक ठीक नहीं कह सका) से ताप, आलोक, विद्युत् आदिकी क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं, जिस-का घूर्णायमान केन्द्र ही परमाणुओंका उपादान कारण है—और वही केन्द्र-समष्टि जड़ पदार्थके रूपमें प्रतीयमान होती है, वह ईथर किस प्रकारका पदार्थ है? स्थूल जड़के साथ शक्तिका जैसे सम्बन्ध है, वैसा ही ईथरके साथ शक्तिका सम्बन्ध है या नहीं? जब उस ईथरमें गति है तब वह गति संकोच और प्रसारके द्वारा संपन्न होती है या अन्य किसी प्रकारसे? अगर ईथरमें संकोच-प्रसारका होना संभव है, तब उसके भीतर शून्य स्थान रहना चाहिए; तो फिर वह विश्वव्यापी कैसे हो सकता है? फिर वह स्थूल जड़पदार्थके भीतर व्याप्त है; किन्तु वह व्याप्ति भी कैसे निष्पन्न होती है?—इन सब प्रश्नोंका उत्तर देना अभीतक विज्ञानकी शक्तिके बाहर ही है। असल बात यह है कि विज्ञानकल्पित ईथर इन्द्रियगोचर पदार्थ नहीं है। मगर हाँ, प्रकाश, बिजली चुम्बक आदिकी इन्द्रियगोचर क्रियाओंके कारणकी खोज करनेमें, ईथरका अस्तित्व अनुमान-सिद्ध जान पड़ता है।

---

(१) Preston's Theory of Light, introduction P. 26 देखो।

ईश्वरवादी लोगोंका यही मत है कि एक सृष्टि करनेवालेसे सब जगत्की सृष्टि हुई है। उधर एक प्रकारकी वस्तु या अल्प प्रकारकी वस्तुसे अनेक प्रकारकी वस्तु उत्पन्न होना ही निरीश्वरवादियोंके मतसे सृष्टिक्रम है। दोनों ही मतोंमें एकसे अनेककी उत्पत्ति सृष्टिप्रक्रियाका मूलतत्त्व है। किस किस प्रणालीसे, किस किस नियमसे, वे सब क्रियाएँ चलती है, इसका अनुशीलन ही विज्ञान-दर्शनका उद्देश्य है। वे सब प्रणालियाँ या नियम जान सकने पर हम उसके विपरीत क्रमका अनुसरण करके अनेकसे एक तक फिर पहुँच सकते हैं। एकसे अनेककी उत्पत्तिकी प्रणालीका निरूपण और उसके द्वारा अनेकसे एकमें फिर लौट आना ही ज्ञानका चरम उद्देश्य है।

किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि कोई क्रियाप्रणाली जानी रहनेसे ही उसके विपरीत क्रमका अनुसरण सहज या साध्य नहीं कहा जा सकता। एक गर्म और एक ठंडी चीज परस्पर मिलाकर कुछ देर रखनेसे एककी गर्मी कुछ कम होकर और दूसरेकी ठंडक कुछ बढ़कर दोनोंका उत्ताप समान हो जाता है। किन्तु दूसरी वस्तुकी नई आई हुई गर्मी बाहर निकालकर उसे पहली वस्तुमें फिर स्थापित करना सहज नहीं है।

बहिर्जगत्में जड़की सब क्रियाएँ स्थूलपदार्थकी और ईथररूपी सूक्ष्म पदार्थकी गतिसे संपन्न होती हैं। अतएव गतिके बारेमें अलोचना होना अत्यन्त आवश्यक है। गणितकी सहायतासे गति-विषयक शास्त्रने अत्यन्त विस्मयजनक विस्तार पाया है। यह शास्त्र हमारी क्षुद्र पृथिवीके पदार्थोंसे लेकर अनन्त विश्वके सुदूरवर्ती ग्रह-तारा आदिसे सम्बन्ध रखनेवाले तत्त्वका निर्णय करनेमें लगाया जारहा है। इस समय प्रश्न उठता है कि उस गतिका मूल कारण क्या है? कोई कोई कहते हैं, वह स्थूल पदार्थके उपादान कारण जो परमाणुपुञ्ज हैं उनका या ईथरका स्वभावसिद्ध धर्म है। कोई कहते हैं, वह जगत्के आदिकारण चैतन्यकी इच्छा है। अनेक दार्शनिकोंका यही मत है। किन्तु कोई कोई वैज्ञानिक इसकी हँसी उड़ाते हैं (१)। गतिका कारण शक्ति है, और उस शक्तिका मूल अनादि अनन्त चैतन्य शक्ति है। यही बात युक्तिसिद्ध जान पड़ती है।

---

(१) Pearson's Grammar of Science, Ch. IV देखो।

यहाँतक केवल जड़जगत्की बात हो रही थी। जीवजगत्का मामला और भी विचित्र है। जीवजगत्के दो भाग किये जा सकते हैं—एक उद्भिज्जविभाग और दूसरा प्राणिविभाग। इन दोनों भागोंमें जड़की गति उत्पन्न करनेवाली शक्तिकी क्रियाके अलावा और एक श्रेणीकी क्रियाएँ देख पड़ती हैं—जैसे जन्म, वृद्धि और मृत्यु। इन्हें जैविक क्रिया कहते हैं। प्राणिविभागमें इनके सिवा और भी एक श्रेणीकी क्रियाएँ देख पड़ती हैं—जैसे इच्छानुसार जाना आना और अपना उद्देश सिद्ध करनेका प्रयत्न। इन्हें सज्ञान-जैविकक्रिया कहा जा सकता है।

जड़जगत्के संबंधमें जैसे प्रश्न उठ सकता है कि वह मूलमें एक तरहकी वस्तुसे गठित है या अनेक तरहकी वस्तुओंसे गठित है और उसकी सब क्रियाएँ मूलमें एक हैं या भिन्न प्रकार की हैं, वैसे ही जीवजगत्के सम्बन्धमें भी प्रश्न उठता है कि हम जिन सब अनेक प्रकारके जीवोंको देख पाते हैं वे सब एक तरहके जीवसे या भिन्न भिन्न प्रकारके विविध जीवोंसे उत्पन्न हैं ? और जीवजगत्की सब क्रियाएँ मूलमें एक प्रकारकी या अनेक प्रकारकी हैं ? पहले प्रश्नके दो उत्तर पाये जाते हैं। एक यह कि सृष्टिकर्ताने भिन्न भिन्न जीवोंकी अलग अलग सृष्टि की है, और हर एक प्रकारके जीवसे केवल उसी प्रकारके जीव पैदा हुआ करते हैं। दूसरा उत्तर यह है कि मूलमें दो ही एक प्रकारके जीव थे, और उनसे बहुत दिनोंमें अनेक अवस्थाएँ बदलते बदलते क्रमशः अनेक प्रकारके जीव उत्पन्न हुए हैं। फिर कुछ लोग इतनी दूर तक जाते हैं कि उनके मतमें जड़से ही जीवकी उत्पत्ति हुई है।

ऊपर कहे गये मतको क्रमविकासवाद या विवर्तवाद कहते हैं। प्रसिद्ध जीवतत्त्वके ज्ञाता पण्डित डार्विनने इस मतका समर्थन करनेके लिए बहुत खोज की है। इस मतके अनुकूल अनेक बातें हैं। उनमेंसे दो-एक यहाँ पर कही जाती हैं।

उद्भिज्जगत्में देखा जाता है कि किसी किसी जातिके वृक्ष-लता आदिकी अवस्थाके परिवर्तनसे उनके फूल-फलकी विशेष उन्नति या अवनति होती है। जैसे, गेंदेके पेड़की कई बार कलम करनेसे उसका फूल खूब बड़ा होता है। पञ्च-मुखी दुपहरियाके पेड़की डाल अगर अच्छी तरह धूप और हवा नहीं पाती, दबावमें पड़ जाती है, तो उसमें इकहरा फूल निकलता है। तुख्मी आमका

फल छोटा होता है, मगर उसीकी कलममें बड़ा फल लगता है, जिसमें गुठली छोटी और गूदा अधिक होता है। प्राणियोंमें भी देखा जाता है कि पलाऊ जानवरोंमें पालनेके इतर विशेषसे दो-चार पीढ़ियोंके बाद उनकी हालत भी बहुत कुछ बदल जाती है। जैसे, अच्छी तरह पालने और रखनेसे घोड़ेकी चाल क्रमशः तेज होती है, भेड़ और मुर्गेके शरीरमें क्रमशः मांस बढ़ता है, कबूतरकी चोंच बड़ी होती है। इसके सिवा किसी किसी जातिके जीव, जिनकी हड्डियाँ और ढाँचे धरतीके भीतर पाये जाते हैं, इस समय एकदम नेस्तनाबूद हो गये हैं। भूपृष्ठ अर्थात् उनकी आवासभूमिकी अवस्थाका बदलना ही उनके अस्तित्वके मिटनेका कारण अनुमान किया जा सकता है। ऐसे दृष्टान्तोंको मोटे तौर पर देखनेसे केवल इतना ही कहा जा सकता है कि एक जातिके जीवके अवस्था-भेदसे उस जातिकी उन्नति या अवनति यहाँतक हो सकती है कि उस उन्नति या अवनतिसे युक्त सब जीव एक जातिके होने पर भी उस जातिमें भिन्न भिन्न श्रेणीके जान पड़ते हैं। इसके सिवा यह नहीं कहा जा सकता कि एक जातिका जीव अन्य जातिका हो गया। क्रमविकासवादको माननेवाले लोग अपने मतका समर्थन करनेके लिए यह कहते हैं कि जीवजगत्में ऐसी अद्भुत क्रम-परम्परा देख पड़ती है कि एक जातिका जीव अपनी निकटस्थजातिके जीवसे बहुत ही थोड़ा अलग है, और कुछ ही अवस्थाभेदसे एक जाति दूसरी जातिमें पहुँच सकती है (१)। वे यह भी कहते हैं कि किसी भी जातिके जीवोंमें जो जीव परिवर्तित अवस्थामें जीवन-संग्रामके बीच विजय पाने योग्य प्रकृति और अंग-प्रत्यंगसे संपन्न हैं वे ही बच जाते हैं, और जो वैसी प्रकृति और अंगप्रत्यंगसे संपन्न नहीं हैं व विनष्ट हो जाते हैं—और, इसी तरह एक जातिके जीवसे, कुछ ही विभिन्न, अन्य जातिके जीवकी उत्पत्ति होती है। यह कथन ठीक हो सकता है, किन्तु आश्चर्यका विषय यह है कि क्रमपरंपरासे प्रायः सभी जातियोंके जीव मौजूद हैं; जातिविलोपकी बात दृष्टान्तके द्वारा संपूर्णरूपसे नहीं प्रमाणित होती। जो हो, इस बातका निर्णय बिल्कुल ही सहज नहीं है कि क्रमविकासके द्वारा नई नई जातियोंकी सृष्टि हुई है कि नहीं। क्रमविकासवादका प्रतिवाद भी इस जगह पर अनावश्यक है; कारण

(१) Darwin's Origin of Species, Ch. I. देखो।

मैं ऐसा नहीं समझता कि क्रमविकासका मत मान लेनेसे ही मनुष्य निरीश्वरवादी या जड़वादी हो जाता है। क्रमविकास या विवर्त्त एक प्रक्रियामात्र है। वह प्रक्रिया जिस शक्तिके द्वारा सम्पन्न होती है वह शक्ति अवश्य ही जीवकी देहमें और उसके मूल उपादानमें है; और वह शक्ति जिसने उसमें रक्खी है वह आदि कारण ही ईश्वर हैं। वह आदिकारण चैतन्ययुक्त है, इसके सम्बन्धकी युक्ति और तर्कका उल्लेख इस अध्यायके आदिमें ही कर दिया गया है।

अब यह प्रश्न उठता है कि जड़जगत्की सब क्रियाएँ जैसे संभवतः मूलमें एक तरहकी हैं, और स्थूल जड़, परमाणु और ईथरकी गति उनका मूल है, वैसे ही जीवजगत्की सब विचित्र और विविध क्रियाएँ भी मूलमें किसी एक तरहकी क्रियासे उत्पन्न हैं या नहीं ? इस प्रश्नके दो भाग करके आलोचना करना आवश्यक है। कारण, जीवजगत्की क्रियाएँ दो प्रकारकी देख पड़ती हैं, एक अज्ञानक्रिया (जैसे जीवदेहकी वृद्धि और क्षय) और दूसरी सज्ञानक्रिया (जैसे जीवका इच्छानुसार विचरना और उद्देश्यसाधनके लिए चेष्टा करना)।

अज्ञान जैव (अर्थात् जीवकी) क्रियाके जन्म, वृद्धि, विकास, क्षय और मृत्यु प्रधान प्रकार हैं। एक जीवकी देहके अंशसे अन्य जीवकी उत्पत्तिको जन्म कहते हैं। इसके सिवा अन्य जीवके संसर्ग विना जीवकी उत्पत्ति होनेके संबन्धमें यद्यपि मतभेद है, किन्तु वैसी उत्पत्तिका कोई ऐसा प्रमाण नहीं पाया गया जिसका खण्डन न हो सके। कभी कभी एक जीवदेहके किसी भी अंशसे अन्य जीवकी उत्पत्ति होती है; जैसे—पेड़की डाल काटकर लगा देनेसे दूसरा कलमी पेड़ तैयार होता है, अथवा किसी किसी जातिके कीड़ेकी देहके टुकड़ेसे दूसरा कीड़ा उत्पन्न हो जाता है। किन्तु प्रायः एक जीवकी देहके विशेष अंशसे ही अन्य जीवकी उत्पत्ति होती है, और उस विशेष अंशको बीज कहते हैं। वृद्धि और विकास दोनों शब्दोंके अर्थमें अन्तर है। वृद्धि केवल देहके आयतन (लंबाई-चौड़ाई) के विस्तारको कहते हैं। किन्तु विकासका अर्थ है, देहके आयतनका ऐसा विस्तार जिससे उसके कार्योपयोगी होनेकी उन्नति हो, अर्थात् देह अधिक काम करनेके योग्य बने। देहके आयतन अथवा कार्योपयोगिताकी अवनतिको क्षय कहते हैं। जीवनके अन्तका

नाम विनाश या मृत्यु है । उससे देहका तिरोभाव नहीं होता, निर्जीव होकर देह पड़ी रहती है ।

जन्मसे मृत्युतक सब जैव क्रियाओंके लिए ताप, विद्युत् आदि विषयक क्रियाओंका, अर्थात् भौतिक क्रियाओंका, और रासायनिक क्रियाओंका प्रयोजन होता है । किन्तु वह यथेष्ट नहीं है । इस सम्बन्धमें मतभेद है । मगर कुछ सोचकर देखनेसे जान पड़ता है, इन सब क्रियाओंके सिवा और किसी एक तरहकी क्रियाका संसर्ग भी है । यह न होता तो मूलमें सजीव-बीज या जीवदेहांशका प्रयोजन न रहता । परन्तु भौतिक क्रिया और रासायनिक क्रिया जिस शक्तिकी क्रिया हैं, जैवक्रिया भी मूलमें उसी शक्तिकी क्रिया है या और किसी शक्तिकी क्रिया है, इसके उत्तरमें अधिक मतभेद नहीं है । यह स्वीकार करनेमें कोई विशेष बाधा नहीं देख पड़ती कि ये सभी क्रियाएँ मूलमें एक ही शक्तिकी क्रिया हैं । किन्तु जैवक्रियाकी मूल प्रणाली कैसी है, सो ठीक नहीं कहा जा सकता । केवल इतना ही कहा जा सकता है कि सजीव बीज या जीवदेहांशकी सहायताके बिना वह क्रिया नहीं संपन्न होती (१) । भौतिक और रासायनिक क्रियाओंका मूल जैसे स्थूल जड़ पदार्थ, सूक्ष्म परमाणु और ईथरकी गति है, वैसे ही जैवक्रियाका मूल भी जीवदेहमें स्थित परमाणु और ईथरकी गति है या नहीं, इस प्रश्नका उत्तर सहजमें नहीं दिया जा सकता । कारण, इस विषयकी खोज अत्यन्त दुरूह है, और उसका कारण यह है कि सामान्य जड़में जैसा परमाणु-समावेशका अनुमान किया जाता है, जीवदेहमें वह उसकी अपेक्षा बहुत विचित्र और जटिल है ।

अज्ञान जैवक्रियाके तत्त्वका अनुसन्धान जब इतना दुरूह है, तब सज्ञान जैव क्रियाके तत्त्वका निर्णय और भी अधिकतर कठिन मामला होगा, इसमें कोई संदेह नहीं। सज्ञान जैव क्रियाके लिए जिन सब देहसञ्चालन आदि शारीरिक क्रियाओंका प्रयोजन है, वे भी अज्ञान जैव क्रियाकी तरह हैं। किन्तु यह बात सहज ही स्वीकार नहीं की जा सकती कि उन सब शारीरिक क्रियाओंको प्रवृत्त करनेवाली जो मानसिक क्रियाएं हैं, वे केवल मस्तिष्कके परमाणु-स्पन्दनके सिवा और कुछ नहीं हैं।

(१) Kirke's Handbook of Physiology, Ch. XXIV और Landois and Stirling's Text Book of Physiology-introduction देखो ।

जो जगत्का मूलकारण है, इन सज्ञान जैव क्रियाओंको उसी चैतन्यकी क्रिया मानना पड़ता है। उसी चैतन्यशक्तिके द्वारा इस पृथ्वीकी—केवल इस पृथ्वीकी ही नहीं, जगत्में जहाँ जहाँ सज्ञान जीव हैं, उन सब स्थानोंकी—सारी नैतिक और आध्यात्मिक क्रियाओंका संपादन होता है। उन सब क्रियाओंकी विस्तृत आलोचना इस जगह पर अनावश्यक है। वह कर्ममार्गका विषय है।

यहाँ पर केवल इतना ही कहूँगा कि जड़की क्रियाओंकी तरह अज्ञान क्रियाएँ जैसे गतिमूलक हैं, वैसे ही सज्ञान क्रियाएँ या चैतन्यकी क्रियाएँ स्थिति या शान्तिको खोजनेवाली होती हैं। जीव सज्ञान अवस्थामें जो कोई काम करता है वह सुखप्राप्ति या दुःखनिवृत्ति अर्थात् शान्तिलाभके लिए करता है। और वह शान्ति पानेके लिए यद्यपि कर्म अर्थात् गति ही एकमात्र उपाय है, किन्तु वह शान्ति स्वयं गतिका विराम अर्थात् स्थिति है।

" ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥"

(गीता। अ० ३, श्लो० १)

अर्थात्, हे जनार्दन, हे केशव, अगर आपकी रायमें कर्मसे ज्ञान श्रेष्ठ है, तो फिर आप मुझे घोर कर्ममें क्यों नियुक्त करते हैं?

उसी तरह हम सब भी यही बात कहना चाहते हैं, और कर्मसे विरत होकर शान्तिदायक ज्ञानकी आलोचनामें लगे रहनेकी इच्छा रखते हैं। किन्तु उक्त प्रश्नके उत्तरमें श्रीकृष्णने क्या कहा है सो भी स्मरण रखना चाहिए। उन्होंने कहा है—

" न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥"

(गीता। अ० ३, श्लो० ४—५)

अर्थात्, संसारमें कोई आदमी कर्म न करके नैष्कर्म्य अवस्थाको नहीं प्राप्त कर सकता। केवल कर्मत्याग (संन्यास) से ही किसीको सिद्धि नहीं मिल जाती। कोई भी, किसी भी अवस्थामें, क्षणभर भी, कर्म किये विना

नहीं रह सकता । प्रकृतिसे उत्पन्न सत्व-रजः-तमः नामके गुण सबको विवश करके कर्म कराते हैं, अर्थात् कर्म करनेके लिए विवश करते हैं ।

कर्म किये विना रहनेका उपाय नहीं है । कर्म न करके कर्मसे विराम या शान्ति नहीं मिलती । गति ही गतिविराम अर्थात् स्थितिके पानेका मार्ग है, मगर हाँ, यह ठीक नहीं कहा जा सकता कि जीवकी वह स्थिति स्थायी होगी या क्षणिक होगी, और हिंडोलेकी तरह स्थितिके स्थानमें क्षणमात्र रह कर पूर्वगतिजनित सञ्चित वेगके फलसे विपरीत ओर फिर गति आरंभ होगी या नहीं । जीवकी पूर्वगति ब्रह्मज्ञानलाभके मार्गकी ओर जानेवाली होने पर, शास्त्रमें कहा गया है, वह जीव ब्रह्म लोक प्राप्त करता है । यथा— " न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते " (१) अर्थात् वह फिर नहीं लौटता, फिर नहीं लौटता ।

शास्त्र छोड़ कर युक्तिमूलक आलोचना करने पर भी शायद ऐसे ही सिद्धान्तपर पहुँचना होता है ।

जगत् जड़ और चैतन्यकी क्रियाओंसे व्याप्त है । जड़ और जड़की क्रियाएँ स्थूलजड़की और परमाणु तथा ईथररूपी सूक्ष्मजड़की गतिसे उत्पन्न हैं, और वह गति सूक्ष्मजड़के भीतर छिपी हुई शक्तिसे उत्पन्न है । चैतन्यकी क्रिया उसकी अपनी शक्तिसे उत्पन्न है, और उसके द्वारा भी जड़की गति उत्पन्न होती है । ये दोनों शक्तियाँ मूलमें एक हैं या जुदी जुदी हैं, इस बारेमें मतभेद है । किन्तु, वे मूलमें एक हैं, यही सिद्धान्त संगत है, यह बात पहले कही जा चुकी है । फिर एक वैज्ञानिक पण्डितने इस मतको पुष्ट करनेके लिए अनेक युक्तियाँ और प्रमाण दिखलाये हैं कि परमाणु प्रच्छन्न शक्तिकी समष्टि है, अविनश्वर नहीं है, और काल पाकर अपने उपादानकारणस्वरूप उस प्रच्छन्न शक्तिको प्रकीर्ण करके ईथरमें विलीन हो जाते हैं (२) । उक्त वैज्ञानिकने यह भी आभास दिया है कि अगर यही बात ठीक है, तो असंख्य कल्पोंके बाद उस शक्तिसमूहके द्वारा परमाणुका पुनर्जन्म भी हो सकता

(१) छान्दोग्य उपनिषद् । ८।१५।१ ।

(२) Gustave Le Bon's Evolution of Matter, pp. 307—19 देखो ।

है । अतएव जगतके सब व्यापार जड़ और शक्तिके विचित्र मिलनका फल हैं। वह फल, पहले अनियमित गति—जैसे नीहारिका पुंजमें, उसके बाद नियमित गति—जैसे सौर जगत्में, और अन्तको गतिकी निवृत्ति है । वह गतिकी निवृत्ति विश्वव्यापी ईथरकी बाधासे उत्पन्न है, और समय पाकर अवश्य होनेवाली है । उस गतिकी निवृत्ति या विरामके बाद अविनाशी विश्वशक्तिके बलसे शक्तिका पुनरावर्तन और नवीन सृष्टि होती है (१) ।

यह तो हुई जड़की बात । जीवको भी जब तक पूर्ण ज्ञान नहीं होता तबतक पुनर्जन्म हो या न हो, और जीव चाहे जिस भावमें रहे, उसकी अज्ञताके कारण उसे दुःखका अनुभव अवश्य होगा और सुखलाभकी आकांक्षा भी बनी रहेगी, और इस कारण उसे गतिशील रहना पड़ेगा और कर्म भी करना होगा । परिणाममें जब उसे पूर्ण ज्ञान होगा, अर्थात् जगतके आदिकारण ब्रह्मकी उपलब्धि होगी, तब उसके लिए कोई अभाव या आकांक्षा नहीं रह जायगी, और कर्म भी उसके लिए आवश्यक नहीं रह जायगा ।

अब जगत्में **शुभाशुभ**के अस्तित्वके संबन्धमें दो-एक बातें कह कर यह अध्याय समाप्त किया जायगा ।

जगत्में शुभ और अशुभ दोनों ही हैं, यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती । सभी जीव सुख और दुःख दोनोंका अनुभव करते हैं । हरएक मनुष्य अन्तर्दृष्टिके द्वारा अपने अपने संबंधमें इस बातका प्रमाण पावेगा और बाहर अन्य जीवकी अवस्थाके ऊपर दृष्टि डालनेसे इस बातका प्रमाण मिलेगा कि उनका जीवन भी सुख-दुःखमय है । इसके सिवा हम स्थिर भावसे अपनी अपनी प्रकृतिकी पर्यालोचना करनेसे देख पाते हैं कि शुभाशुभका बीज हमारे भीतर निहित है । एक तरफ दया, उपकार करनेकी इच्छा, स्वार्थत्याग आदि अच्छी प्रवृत्तियाँ हमको अपनी और जगत्की भलाईके कामोंमें प्रवृत्त करती हैं, दूसरी तरफ क्रोध, द्वेष, स्वार्थपरता आदि बुरी प्रवृत्तियाँ हमको अपनी और दूसरेकी बुराईके काम करनेके लिए प्रबल भावसे उत्तेजित करती हैं । और, इन सब प्रवृत्तियोंकी प्ररोचनासे जैसे एक तरफ जीवोंके दुःख दूर करने और सुख उत्पन्न करनेके लिए तरह तरहके प्रयत्न होते हैं, वैसे ही दूसरी

(१) Spencer's First Principles, Pt. II Chapters XXII, XXIII देखो ।

तरफ जीवके विनाश और सतानेके लिए तरह तरहकी चेष्टाएँ होती हैं। अज्ञ जीवोंमें परस्पर खाद्य-खादक सम्बन्ध रहनेके कारण एक जातिका जीव दूसरी जातिके जीवको विनष्ट करता है। जड़ जगत्में भी, जैसे एक ओर सूर्यकी किरणोंसे उज्ज्वल सुनील निर्मल आकाशमण्डल और शीतल-मन्द-सुगन्ध वायुसे आन्दोलित स्वच्छ सरोवर या नदीका प्रवाह जीवको सुख और शान्ति देते हैं, वैसे ही दूसरी ओर घने मेघोंसे ढका हुआ, भयानक वज्रपातसे प्रतिध्वनित, अन्ध, अन्धकारमय आकाश और प्रचण्ड तूफानसे उमड़ रहा, ऊँची तरंग मालाओंसे आलोड़ित सागर जीवके अशुभ, और अशान्तिको उत्पन्न करते हैं। इसके सिवा ज्वालामुखी पहाड़ोंकी भयानक अग्नि-लीलाके उत्पात, धरातलका विध्वंस करनेवाले भूकम्प आदि खण्डप्रलय भी समय समयपर जीवोंका सब तरहका अमंगल और अनिष्ट करते रहते हैं।

यह सब देख-सुनकर मनमें प्रश्न उठता है कि जो जगत् मंगलमय ईश्वरकी सृष्टि है उसमें इतना अशुभ क्यों है, इस अशुभका परिणाम क्या है और इस जगत्में इस अशुभका प्रतिकार है कि नहीं ? अनेक लोग समझ-सकते हैं कि पहला और दूसरा प्रश्न बेकार दार्शनिक लोगोंकी आलोचनाके योग्य है। किन्तु तीसरा प्रश्न तो निश्चित ही कार्यकुशल वैज्ञानिकोंकी भी विवेचनाका विषय है। और, जहाँ विज्ञानके द्वारा प्रतिविधान साध्य नहीं है, वहाँ पहलेके दोनों प्रश्नोंकी आलोचना बिलकुल व्यर्थ या 'किसी कामकी नहीं' नहीं है। कारण, वैसे स्थलोंमें अगर कोई शुभ-शान्तिका मार्ग है तो वह केवल उक्त दोनों प्रश्नोंकी आलोचनासे ही पाया जा सकता है। इसी लिए क्रमशः तीनों प्रश्नोंके सम्बन्धमें कुछ कुछ कहा जायगा।

पवित्र और मंगलमय ईश्वरकी सृष्टिमें पाप और अमंगलने किस तरह प्रवेश किया, इस प्रश्नका उत्तर अनेक स्थानोंमें अनेक प्रकारसे दिया गया है। ईसाइयोंके धर्मशास्त्रमें ऐसा आभास पाया जाता है कि स्वर्गमें ईश्वरके अनुचरोंमेंसे एक ईश्वर विद्रोही हो उठा और उसका नाम शैतान पड़ा। उसी-की कुमन्त्रणासे मनुष्य जातिके आदि पुरुष आदम और हव्वा ईश्वरकी आज्ञाका उल्लंघन करके पापभागी हुए, और इसी सूत्रसे पृथ्वी पर पाप और अमंगलने प्रवेश किया। यह कथन एक संप्रदायका मत है, और युक्तिके साथ इसका सामंजस्य करना भी कठिन है। हिन्दू शास्त्रमें जीवके शुभाशुभको जीवके

कर्मोंका फल कह कर वर्णन किया है।—"पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति।" (बृहदारण्यक उपनिषद् । ३ । २ । १३ ।) वेदान्त-दर्शन, शांकरभाष्य (३ । २ । ४१) में भी कहा गया है कि ईश्वर जो हैं वे प्राणियोंके प्रयत्नके अनुसार फलका विधान करते हैं। किन्तु यह बात कहने पर भी यह सिद्ध नहीं होता कि अशुभके साथ ईश्वरका संसर्ग नहीं है। क्योंकि प्रश्न होगा—जीवके शुभाशुभका मूल जो कर्म-अकर्म है उसका मूल क्या है? ईश्वरने ही जीवकी सृष्टि की है, जीवको कर्म-अकर्म करनेकी शक्ति और प्रकृति उन्हींसे प्राप्त है, अतएव जीवके शुभाशुभका मूल उसी ईश्वरसे उत्पन्न है। और, भूकंप, जलप्लावन, तूफान-आँधी आदि जड़ जगत्‌की दुर्घटनाओंसे उत्पन्न जीवका अशुभ किस तरह जीवका कर्मफल कहा जा सकता है, सो सहज ही समझमें नहीं आता। कोई कोई कहते हैं कि हम जिसे अशुभ कहते हैं वह यथार्थमें अशुभ नहीं है—वह जीवके लिए कुछ कुछ अशुभकर हो सकता है, किन्तु सारे जगत्‌के लिए शुभकर ही है। जैसे, एक जातिका जीव दूसरी जातिके जीवको आहारके लिए जो नष्ट करता है सो जगत्‌के लिए हितकर है। कारण, यह न होता तो जल जीती और मरी हुई मछलियोंसे पूर्ण हो जाता, हवा जीवित पक्षियों और पतंगोंसे पूर्ण रहती, और पृथ्वी भी बहुतसे जीते और मरे जीव जन्तुओंसे पूर्ण होकर अन्य जीवोंके न रहने लायक बन जाती। वे लोग पापकी उत्पत्तिके साथ ईश्वरका रहना सिद्ध करनेके लिए कहते हैं कि पाप और कुछ नहीं, स्वाधीन जीवकी स्वाधीनताके अपव्यवहारका फल है। वे लोग इतनी दूर तक जानेके लिए तैयार हैं कि "स्वाधीन जीव दुष्कर्म करेगा—यह पहले जानकर ईश्वरने जीवकी सृष्टि की है।" ऐसा माननेसे ईश्वरको दोष न स्पर्श करे, इस आशंकाको मिटानेके लिए, वे इस विषयमें ईश्वरकी सर्वज्ञता खण्डित करनेमें कोई बाधा नहीं देखते। (१)

युक्तिमूलक आलोचना की जाय, तो भी जगत्‌में अशुभका अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। और यह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि

---

(१) Martineaus Study of Religion, Bk. II. Ch. III. और Bk. III. Ch. II. P. 279 देखो।

उस अशुभका कारण ईश्वरातीत है। और, सर्वशक्तिमान् सकलमंगलनिलय ईश्वरकी सृष्टिमें अशुभ क्यों आया? इस प्रश्नके उत्तरमें, हमारे अपूर्ण ज्ञानसे जहाँतक समझा जाता है उससे, इतना ही कहा जा सकता है कि कूटस्थ निर्गुण ब्रह्म चाहे जैसा हो, प्रकटित नियमके अनुसार, कोई भी ज्ञानगम्य विषय अपने विपरीत भावसे अनवच्छिन्न अर्थात् असंयुक्त नहीं हो सकता; इसी कारण जगत्में शुभ होगा तो उसके साथ साथ अशुभ भी अवश्य ही होगा। अशुभ न होता तो शुभका अस्तित्व भी ज्ञानगोचर न होता। हमारा यह कथन ईश्वरकी असीम दयाके ऊपर रहनेवाले विश्वासका बाधक नहीं हो सकता। क्योंकि जीवके इस जीवनका अशुभ चाहे जितना गुरुतर क्यों न हो, वह उसके अनन्त जीवनके परिणाम शुभके साथ तुलनामें क्षणिकमात्र है। इस जगह पर यह भी याद रखना चाहिए कि अशुभ और दुःखका भोग ही जीवकी आध्यात्मिक उन्नति और मुक्तिलाभका श्रेष्ठ उपाय है, और वह अशुभ तथा दुःखभोग जितना तीव्र होगा उतनी ही जल्दी जीवको उन्नति प्राप्त होगी। इस भावसे देखने पर ऐसा नहीं है कि कुछ जीवोंका अमङ्गल केवल अन्य जीवोंके मङ्गलके लिए है—और अमंगल केवल समष्टिरूपमें मंगल है, बल्कि उस अमंगलको अशुभ भोगनेवाले जीवोंके अपने अपने मंगलका कारण मानना होगा। पशु-पक्षी आदि जिनको हम अज्ञान जीव कहते हैं, उनके हृदयमें क्या होता है, सो हम कह नहीं सकते, किन्तु सज्ञान जीव अर्थात् मनुष्यमात्र अपनी आत्मासे पूछकर इस बातका प्रमाण अवश्य पावेंगे कि दुःखभोग आध्यात्मिक उन्नतिकी सीढ़ी है। यहाँ पर एक और कठिन प्रश्न उपस्थित होता है। जगतमें अशुभ है, और उसका कारण ईश्वरसे अतीत नहीं है, इन दोनों बातोंको स्वीकार करनेसे ईश्वरके मंगलमय होनेका प्रमाण क्या रह गया? और यह आखिरी बात कि ईश्वर मंगलमय है, अगर प्रमाणित न हो, तो जीवके इस जीवनका अशुभ अनन्त जीवनके मंगलका मूल होगा—ऐसा अनुमान करनेका कारण ही क्या रह गया?

इस प्रश्नके उत्तरमें पहले यह कहा जा सकता है कि जगतका शुभाशुभ जहाँतक देखा जाता है, उसमें तुलना करनेसे, शुभभाग ही अधिक है, अशुभका भाग थोड़ा है; अतएव ईश्वरके मंगलमय होने पर संदेह करनेका कोई प्रबल कारण नहीं है। तो भी यह अवश्य है कि जगत्के शुभाशुभकी बाकी

निकालकर ईश्वरका मंगलमय होना साबित करना एक अत्यन्त दुरूह मामला है, असाध्य भी कहें तो कह सकते हैं। उस असाध्यसाधनकी चेष्टाका प्रयोजन भी नहीं है। हम लोग अपनी अपनी आत्मासे पूछकर इस बातका अखंडनीय प्रमाण पा सकते हैं कि ईश्वर मंगलमय है। बहिर्जगत्में इतना अशुभ भरा पड़ा है, अन्तर्जगत्में भी अनेक प्रवृत्तियाँ हमें अशुभ कार्य करनेकी ओर झुका रही हैं, किन्तु यह सब होने पर भी हम शुभको प्यार करते हैं—पसंद करते हैं, अपने मंगल-साधनके लिए निरन्तर व्याकुल रहते हैं, अमंगल-घटना होने पर अन्यके द्वारा अपने मंगलसाधनकी आकांक्षा रखते हैं, और सुयोग पाने पर पराया मंगल—भला—करनेका यत्न भी करते हैं। यहाँ तक कि चोर भी यह विश्वास रखता है कि उसके चौर्य-लब्ध द्रव्यको अन्य कोई ले न जायगा, घोर नृशंस कुकर्मी भी पकड़े जाने पर अन्यकी दयाके ऊपर निर्भर करके क्षमा पानेकी आशा करता है, और पापाचारी भी पाप आचरणके कारण मर्मभेदी क्लेश सहता है। शुभके लिए हमारा यह अन्तर्निहित अप्रतिहत अनुराग कहाँसे पैदा होता है? जगतका आदि कारण मंगलमय न होता तो मंगलकी ओर हमारी आत्माकी यह अप्रतिहत गति कभी न होती। अतएव इसमें कुछ सन्देह नहीं रह सकता कि ईश्वर मंगलमय है। और, ऐसा होने पर यह अनुमान कि जीवके इस जीवनका अशुभ अनन्त जीवनके शुभके लिए है, अमूलक न होकर संपूर्ण युक्तिसिद्ध ही प्रतिपन्न होता है।

ऊपर जो कहा गया उसीसे, अशुभका परिणाम क्या है, इस दूसरे प्रश्नका उत्तर भी एक प्रकारसे दिया जा चुका। जगत्में जीवका जो कुछ अशुभ भोग है वह क्षणस्थायी है, और परिणाममें सभी जीवोंको परम मंगल और मुक्ति मिलेगी, यही युक्तियुक्त सिद्धान्त जान पड़ता है। इस सिद्धान्तकी मूल भित्ति ईश्वरका मंगलमय होना है। उसके बाद जीवजगत्में जितना क्रमविकास देखा जाता है वह उन्नतिकी ओर है। और, अन्तर्दृष्टिके द्वारा यह भी देखा जाता है कि मनुष्यका दुःखभोग आध्यात्मिक उन्नतिका उपाय है। इन सब विषयोंकी पर्यालोचना करनेसे अनुमान होता है कि जल्दी हो या देरमें हो, जीवका परिणाम शुभ ही है, अशुभ नहीं।

जगत्में जो अशुभ है उसका प्रतिकार है कि नहीं, इस प्रश्नके उत्तरमें, संक्षेपमें, इतना ही कहा जा सकता है कि जो अशुभ जड़ जगत्से उत्पन्न हैं,

अनेक स्थलोंमें विज्ञानचर्चाके द्वारा क्रमशः उनके प्रतिकारोंका आविष्कार हो रहा है। मनुष्यकी कुप्रवृत्तियोंसे उत्पन्न जो अशुभ हैं, दर्शन और नीति-शास्त्रकी आलोचनाके द्वारा सुशिक्षा और सुशासनप्रणालीकी सम्यक् स्थापना करके उनके प्रतिविधानकी चेष्टा हो रही है। और, जिन सब स्थलोंमें अन्य प्रतिकार असाध्य है, वहाँ मंगलमय ईश्वरके ऊपर दृढ़ निर्भर करके यह विचार कि इस जीवनका अशुभ क्षणिक और अनन्त जीवनके मंगलका कारण है, अविचलित रखना ही एकमात्र प्रतिकार है।
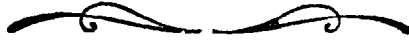
पाँचवाँ अध्याय।

ज्ञानकी सीमा।

हमारा अन्तर्जगत्के विषयका ज्ञान अन्तर्दृष्टिके द्वारा प्राप्त है, और बहिर्जगत्के विषयका ज्ञान देखने—सुनने—सूँघने—चखने और छूनेसे प्राप्त होता है। उस अन्तर्दृष्टिकी शक्ति और देखने-सुनने आदिकी शक्ति, सभी सीमाबद्ध हैं, सबकी एक हद है।

अन्तर्दृष्टिके द्वारा हम आत्माके अस्तित्वको जान सकते हैं सही, किन्तु उस आत्माका स्वरूप क्या है, आत्मा कहाँसे आया और कहाँ जायगा, उसका आदि और अन्त क्या है, इन सब प्रश्नोंका स्पष्ट उत्तर देनेमें अन्तर्दृष्टि सर्वथा असमर्थ है। इन सब विषयोंके सम्बन्धमें हम जो कुछ विश्वास करते हैं, वहाँ तक अनेक युक्तियों और तर्कोंके सहारे पहुँचते हैं। इसके बाद, यद्यपि अन्तर्जगत्की कुछ क्रियाओंका फल (जैसे बहिर्जगत्की वस्तुओंको प्रत्यक्ष करना, अतीत विषयकी स्मृति, इत्यादि) ज्ञानकी सीमाके अन्तर्गत है, किन्तु अन्तर्जगत्में सब क्रियाएँ कैसे संपन्न होती हैं, बहिर्जगत्के विषयोंके साथ आत्माका किस तरह साक्षात् सम्बन्ध होता है, अधिक क्या कहें, अपनी देहके साथ अपनी आत्माका कैसा सम्बन्ध है और आत्मा किस तरह देहको संचालित करती है, इन सब बातोंका कुछ भी तत्त्व अन्तर्दृष्टिके द्वारा नहीं जाना जाता। ये सब विषय हमारे ज्ञानकी सीमाके बाहर हैं। मेरी आत्मा किस तरह कार्य करती है, सो मैं जान नहीं सकता, यह एक अत्यन्त विचित्र बात है, लेकिन विचित्र होने पर भी सर्वथा सत्य है।

अपनी आत्माके भीतर कैसे कार्य होता है, वही जब हम संपूर्ण जान नहीं सकते, तब बहिर्जगत्के विषयोंको कैसे संपूर्ण जान सकेंगे? बहिर्जगत्सम्बन्धी ज्ञानलाभका जरिया आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा, ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। इन पाँचों इन्द्रियोंके द्वारा देखा, सुना, सूँघा, चखा और छुआ जाता है, और उनके द्वारा रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श इन पाँच विषयोंका ज्ञान उत्पन्न होता है। किन्तु जैसे आँख न होती तो रूप या प्रकाशके संबन्धमें किसी तरहका ज्ञान न होता, और जो जन्मका अंधा है उसको वह ज्ञान हो नहीं सकता, वैसे ही हमारी पाँचों इन्द्रियोंके अतिरिक्त अन्य कोई इन्द्रिय न रहनेके कारण रूप—शब्द—गन्ध—रस—स्पर्श इन पाँच गुणोंसे भिन्न अन्य किसी गुणके सम्बन्धमें हम कोई ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते, और बहिर्जगत्की वस्तुओंमें इन पाँच गुणोंके अलावा अन्य गुण है या नहीं, सो हम नहीं जानते। किन्तु यह बात भी हम किसी तरह नहीं कह सकते कि कोई छठा गुण है ही नहीं। कोई छठा गुण अगर है, तो वह हमारे ज्ञानकी सीमाके बाहर है।

फिर, जो पाँच इन्द्रियाँ हैं, उनकी भी शक्ति अत्यन्त संकीर्ण है। आँखके द्वारा प्रकाश और आकारके विषयका ज्ञान पैदा होता है, किन्तु प्रकाश बहुत थोड़ा और आकार अत्यन्त छोटा अगर होता है तो आँख उसे बिना सहायताके नहीं देख पाती—हाँ, दूरवीक्षण और अणुवीक्षण यन्त्रकी सहायतासे कुछ कुछ देख पाती है। अल्पाधिक्यके प्रभेदके सिवा, प्रकाशकी किरणोंमें वर्णगत प्रभेद भी है। उनमेंसे कुछ वर्णोंकी किरणोंको छोड़कर अन्य किरणोंको सहजमें देख पानेकी शक्ति हमारी आँखोंमें नहीं है। केवल उन-किरणोंके कार्यसे उनके अस्तित्वका अनुमान किया जाता है। उसी तरह हमारी श्रवण-इन्द्रिय भी सब प्रकारके शब्दोंको नहीं सुन पाती। बहुत ही धीरे शब्द होता है तो उसे हम यंत्रकी सहायताके बिना नहीं सुन पाते। हमारी घ्राणेन्द्रियकी शक्ति कुत्ते आदि अन्यान्य अनेक जातिके जीवोंकी घ्राण-शक्तिसे कम है। हमारी स्पर्शेन्द्रिय गर्मी (ताप) के थोड़े तारतम्यका अनुभव सहजमें नहीं कर पाती। वह तारतम्य निश्चय करनेके लिए यंत्रका प्रयोजन होता है। यन्त्रकी शक्ति भी सीमाबद्ध है इस कारण, सब नीहारिकाएँ तारकापुंज हैं या नहीं, यह निश्चय नहीं कहा जा सकता, और परमाणुका आकार कैसा है, यह भी कोई नहीं देख पाता। इसी कारण, पाँचके सिवा

छठी इन्द्रियका अभाव और पाँचों इन्द्रियोंकी शक्तिकी अपूर्णता होनेसे हमारे लिए बहिर्जगत्के अनेक विषयोंको जाननेका कोई उपाय नहीं है, और वह ज्ञान हमारी देहयुक्त अवस्थामें हमारे ज्ञानके बाहर ही रहेगा। देहपिञ्जरसे मुक्त होने पर आत्माके ज्ञानकी सीमा बढ़ेगी या नहीं, यह भी हम नहीं जानते।

और एक विषयमें हमारे ज्ञानकी सीमा अत्यंत संकीर्ण है। हमारी जाननेकी इच्छा हमको सदा "क्या है?" और "क्यों है ?", ये दोनों प्रश्न पूछनेकी प्रेरणा किया करती है। प्रथम प्रश्न सभी विषयोंका स्वरूप और दूसरा सब विषयोंका कारण निरूपित करना चाहता है। दोनोंमेंसे किसी प्रश्नका सम्पूर्ण उत्तर हम नहीं पाते।

प्रथम प्रश्नका उत्तर कुछ कुछ पाया जाता है, अर्थात् ज्ञातव्य विषय अन्तर्जगत्का हुआ तो अन्तर्दृष्टिके द्वारा, और बहिर्जगत्का हुआ तो इन्द्रियोंके द्वारा, उसका या उसके विषयका कुछ ज्ञान उत्पन्न होता है। किसी किसीके मतमें वह ज्ञेयविषयका यथार्थ स्वरूपज्ञान नहीं है, वह स्वरूपका आभासमात्र है। मगर मुझे जान पड़ता है, यहाँतक सन्देह करनेका कोई कारण नहीं है। और यद्यपि हमें किसी भी विषयका संपूर्ण स्वरूप-ज्ञान नहीं होता—तथापि जो कुछ हम जान सकते हैं वह ज्ञेय विषयका आंशिक स्वरूप अवश्य होता है।

दूसरे प्रश्नका ठीक उत्तर पाना और भी कठिन है। अर्थात् कोई ज्ञातव्य विषय क्यों हुआ, उसका कारण क्या है, इसके सम्बन्धमें, यथार्थमें, हम बहुत थोड़ा ही जानते हैं। अगर ज्ञातव्य विषय अन्तर्जगतसे सम्बन्ध रखनेवाला हुआ, तो आत्मासे पूछने पर अक्सर कुछ उत्तर पाया जाता है। और जो विषय बहिर्जगतका हुआ तो संपूर्ण उत्तर पानेकी संभावना कभी नहीं है, और अक्सर कुछ भी उत्तर नहीं मिलता। दो एक दृष्टान्त देनेसे यह बात और भी स्पष्ट होजायगी।

पहले अन्तर्जगतका दृष्टान्त लीजिए। "मैं जिस विषयकी आलोचना कर रहा हूँ उस विषयकी आलोचनामें क्यों प्रवृत्त हुआ ?", यह प्रश्न आप ही अपनेसे पूछने पर यह सहज उत्तर पाता हूँ कि "मेरी इच्छा हुई, इस लिए।" किन्तु इस उत्तरके भीतर एक और अत्यन्त कठिन प्रश्न उठता है कि "इच्छा होनेसे इच्छाके अनुरूप कार्य क्यों होता है ?" जबतक हममें

कोई कोई कहते हैं, देहयुक्त जीव भी योगबलसे अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्के संबंधमें अलौकिक और अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इस विषयकी विशेष रूपसे प्रमाण-परीक्षा बिना किये निश्चित रूपसे कोई बात नहीं कही जा सकती। मगर हाँ, प्रतिभाशाली विद्वान् जिन सब अत्यन्त अद्भुत पारमार्थिक और वैषयिक निगूढ़ तत्त्वोंका आविष्कार कर रहे हैं, उन्हें देखनेसे जान पड़ता है, मनोनिवेशके द्वारा मनुष्यके ज्ञानकी सीमा बहुत दूर तक बढ़ सकती है।

'रोञ्जेन' किरणकी सहायतासे जब हम काठ या अन्य अस्वच्छ पदार्थकी आड़ रहनेपर भी उसके भीतरकी चीज स्पष्ट देख पाते हैं, तब जान पड़ता हैं, हम अतीन्द्रिय दर्शनशक्ति पागये। किन्तु उसके द्वारा यथार्थमें चक्षुकी दर्शनशक्ति बढ़ना नहीं प्रमाणित होता। वहाँ पर वह देख पाना चक्षुका गुण नहीं, प्रकाश-किरणका गुण है। तो भी, चाहे जिस प्रकार हो, पहले जहाँ मेरी दृष्टि काम नहीं करती थी, वहाँ इस समय मैं देख पारहा हूँ, और उसके द्वारा ज्ञानकी सीमा बढ़ रही है, यह बात अवश्य स्वीकार करनी होगी। इसी तरह विज्ञानचर्चाके द्वारा अनेक ओर ज्ञानकी सीमा बढ़ाई जा सकती है।

यद्यपि किसी भी विषयके स्वरूप या कारणको हम संपूर्ण रूपसे जान नहीं पाते, किन्तु अनेक विषय किस नियमसे संपन्न होते हैं, इस सम्बन्धमें यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। ऊपरके माध्याकर्षणसम्बन्धी दृष्टान्तके उपलक्षमें यह बात कही जा चुकी है। माध्याकर्षणका स्वरूप और कारण न जानकर, और लाचारीके मारे जाननेकी चेष्टासे निवृत्त होकर भी, केवल माध्याकर्षणके नियमको जानकर हम सौरजगतके ग्रहों आदिकी गतिके सम्बन्धमें अनेक अद्भुत आश्चर्य तत्त्वोंका निरूपण कर सके हैं। इसीसे आदम्स साहब नेपचून ग्रहका अविष्कार करनेमें समर्थ हुए हैं। प्रकृतिके नियमोंका निरूपण अनेक जगह स्वरूप और कारणके निर्णयकी अपेक्षा सुसाध्य और सुफल देनेवाला हुआ है, और वैज्ञानिक लोग उसी ओर ज्ञानकी सीमा फैलानेका यत्न कर रहे हैं। तो भी ज्ञानलाभकी आकांक्षा उससे पूर्ण नहीं होती; अतएव मनुष्य किसी भी विषयके स्वरूप और कारण जाननेकी चेष्टासे बाज नहीं आ सकता। दर्शनशास्त्रकी चर्चा भी वैज्ञानिकोंके हास-परिहाससे विलुप्त नहीं हो सकती।

---

(१) Ronrgen.

छठा अध्याय ।

ज्ञान-लाभके उपाय ।

ज्ञानलाभके लिए, ज्ञान चाहनेवालेका अपना यत्न और दूसरेकी सहायता, दोनों आवश्यक हैं । ज्ञानलाभके लिए उपयोगी अन्यकी सहायताको **शिक्षा** कहते हैं, और उसके लिए उपयोगी यत्नको **अनुशीलन** कह सकते हैं । ज्ञानलाभके लिए सभी समय अनुशीलनका अत्यन्त प्रयोजन है, और प्रथम अवस्थामें शिक्षाके ऊपर भी बहुत कुछ निर्भर करना पड़ता है। इसीसे पहले शिक्षाके सम्बन्धमें जो कुछ कहना है सो कहा जायगा, और पीछे अनुशीलनकी आलोचना होगी ।

शिक्षाके सम्बन्धमें विद्वान् बुद्धिमान् लोग बहुत बातें कह गये हैं । मनुसंहिताके दूसरे अध्यायमें शिक्षाके विषयकी अनेक बातें हैं । प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक प्लेटोके रिपब्लिक (१) नामके ग्रंथमें इस विषयके विविध प्रसंग हैं । सिसरो और क्विण्टिलियन् नामक रोमके सुप्रसिद्ध दोनों वक्ताओंने अपने अपने ग्रंथोंमें शिक्षाके सम्बन्धमें बहुत कुछ आलोचना की है । इंग्लेंड और यूरोपके अन्यान्य देशोंके पण्डितोंने लोकशिक्षाके लिए विविध मतोंका प्रचार किया है, तरह तरहके उपदेश दिये हैं । उन सब बातोंकी समालोचना करना इस छोटेसे ग्रंथका उद्देश्य नहीं है । शिक्षाके विषयकी कई मोटी मोटी बातोंका उल्लेख भर संक्षेपमें यहाँ कर दिया जायगा ।

वे कुछ बातें ये हैं । १—शिक्षाके विषय । २—शिक्षाकी प्रणाली । ३—शिक्षाके सामान ।

(१) **शिक्षाके विषय ।** शिक्षाका विषय ब्रह्मसे लेकर तृणतक यह सारा जगत् ही है । जब शिक्षाके विषय प्रायः असंख्य ही हैं, तब उनकी आलोचनाके सुभीतेके लिए उन्हें यथासंभव श्रेणीबद्ध करनेकी अत्यन्त आवश्यकता है ।

---

(१) Bk. VII. देखो ।

एक तरहसे देखने पर अर्थात् जिसे शिक्षा दी जायगी उसपर दृष्टि रखने पर, मनुष्यके शरीर और आत्माके अनुसार, शिक्षाके शारीरिक और आध्यात्मिक ये दो विभाग किये जा सकते हैं। आध्यात्मिक शिक्षाके भी ज्ञानविषयक या मानसिक और नीतिधर्मविषयक या नैतिक, ये दो विभाग करना ठीक जान पड़ता है।

और एक तरहसे देखने पर अर्थात् जिसकी बात सिखाई जायगी उसपर दृष्टि रखनेसे, शिक्षा अन्तर्जगत्-विषयक और बहिर्जगत्-विषयक दो तरहकी होगी। बहिर्जगत्-विषयक शिक्षाको भी जड़विषयक, अज्ञानजीवविषयक, और सज्ञानजीवविषयक, इन तीन भागोंमें बाँट सकते हैं। अर्थात् शिक्षाके सब विषयोंको मिलाकर चार भागोंमें बाँट सकते हैं। और, इन चारों विषयोंकी विद्याको क्रमशः **आत्मविज्ञान, जड़विज्ञान, जीवविज्ञान**, और **नीतिविज्ञान**, (अर्थात् जीवकी सज्ञानक्रियाविषयक विद्या) कह सकते हैं। इन चारों भागोंमेंसे हर एक भागके और भी अनेक अवान्तर विभाग हैं। जैसे आत्मविज्ञानके अन्तर्गत विभाग—न्यायवेदान्तादि दर्शन, मनोविज्ञान, गणित आदि हैं। जड़विज्ञानके अवान्तर विभाग—स्थूलजड़विज्ञान या जड़की स्थिति और गतिका विज्ञान, भूगर्भविद्या, ज्योतिःशास्त्र, रसायनशास्त्र, शब्द या ध्वनिका विज्ञान, प्रकाशविज्ञान, तापविज्ञान, विद्युद्विज्ञान और चुम्बकविज्ञान आदि हैं। जीवविज्ञानके अवान्तर विभाग—प्राणिविद्या, उद्भिद्विद्या आदि हैं। नीतिविज्ञान (अर्थात् जीवकी सज्ञानक्रियाविषयक विद्या) के अवान्तर विभाग भाषा और साहित्य, इतिहास, समाजनीति, अर्थनीति, राजनीति, धर्मनीति, इत्यादि हैं।

जो कुछ ऊपर कहा गया वही संक्षेपमें निम्नलिखित आकारमें दिखाया जा सकता है।
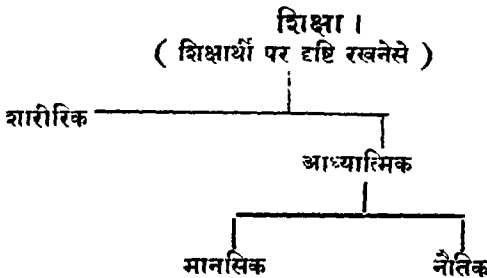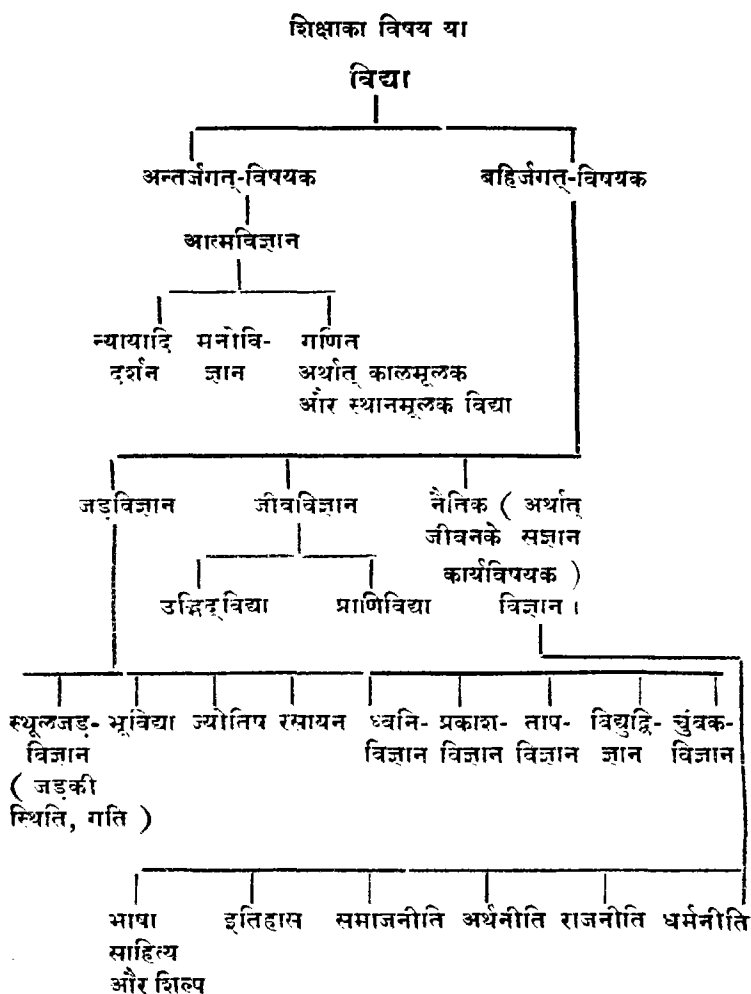
ऊपर जो विद्याकी श्रेणियोंका विभाग किया गया है वह असंपूर्ण है, और श्रेणीविभागके नियमानुसार सब अंशमें न्यायसंगत भी नहीं है। यह केवल आलोचनाके सुभीतेके लिए मोटे तौर पर एक प्रकारका विभागमात्र है।

विद्याका संपूर्ण और न्यायसंगत श्रेणीविभाग एक दुरूह कार्य है। बेकन, कोम्ट, स्पेन्सर आदि विद्वानोंने बहुत यत्न किया, मगर वे भी सर्वथा निर्दोष श्रेणीविभाग किसी तरह नहीं कर सके (१)।

अब शिक्षाके ऊपर कहे गये विषयोंमेंसे किसी किसीके सम्बन्धमें दो-एक बातें कही जायँगी।

शरीर अच्छा नहीं रहता तो मन भी ठीक नहीं रहता और ऐसे लोग कोई भी काम अच्छी तरह नहीं कर सकते। यह बहुत ही सत्य है कि "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"—अर्थात् शरीर ही धर्मका पहला साधन है।

इसी लिए **शारीरिक शिक्षा** अत्यन्त प्रयोजनीय विषय है। इस स्थलपर शारीरिक शिक्षा कहनेसे केवल व्यायाम (कसरत) ही न समझना चाहिए। उपयुक्त आहार करना, उपयुक्त वस्त्र आदि पहनना, यथायोग्य व्यायामका अभ्यास, आवश्यकतानुसार विश्राम लेना, यथासमय सोना आदि जिन सब कामोंके द्वारा शरीरके स्वास्थ्यकी रक्षा हो, शरीर अधिक पुष्ट हो, और साथ ही मनके उत्कर्षलाभकी राहमें विघ्न न हो—बल्कि सहायता हो, उन सब कामोंका करना शारीरिक शिक्षाके अन्तर्गत है।

आहार केवल देहकी रक्षा और उसे अधिक पुष्ट करनेके लिए किया जाता है, और जिस खाद्यके द्वारा यह उद्देश्य सिद्ध हो वही खाया जा सकता है, ऐसा समझना ठीक नहीं। क्योंकि खाद्यके इतर-विशेषसे केवल देहकी अवस्थामें ही इतर-विशेष नहीं होता, उसके द्वारा मनकी अवस्थामें भी इतर-विशेष होता है। अर्थात् मनकी अवस्था भी अच्छे खाद्यसे अच्छी और बुरेसे बुरी होती है। यह सच है कि ईसाने कहा है, "जो मुँहके भीतर डाला जाता है, वह मनुष्यको अपवित्र नहीं करता, बल्कि जो मुँहसे निकलता है वही मनुष्यको अपवित्र करता है" (२)। यह बात देश-काल-पात्रके देखते उस समय यथायोग्य ही कही गई थी। कारण, उस समय यहूदी लोग भीतर पवित्र होनेके प्रयोजनको एक तरहसे भूल गये थे; केवल बाहर पवित्र और आहारमें पवित्र होनेको ही यथेष्ट समझते थे। उनकी शिक्षाके लिए ही यह

---

(१) Karl pearson's Crammar of Sc.ence, 2nd Ed. Ch. XII. और Deussen's Metaphysics, P. 6 देखो। (२) Matthew, XV, II. देखो।

बात कही गई थी । किन्तु यह उपदेश सर्वसाधारणके लिए नहीं है । देह-तत्त्वके ज्ञाता पण्डितोंने ठीक किया है कि खाद्यके ऊपर मनकी अवस्था बहुत कुछ निर्भर है, और मांसाहारी लोग कुछ उग्रस्वभाव और स्वार्थपर होते हैं (१)। नशीली चीजोंके गुण-दोषोंको सभी लोग जानते हैं । मादक पदार्थ सेवन करनेसे कमसे कम कुछ समयके लिए चित्तमें विकार अवश्य पैदा होता है, इस बातको कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता । बस, इसी लिए मद्य-मांस वर्जनीय है। इस बात पर कुछ मतभेद अवश्य है, किन्तु हमारे देशके समान ग्रीष्मप्रधान देशमें मद्यमांसके प्रयोजनका अभाव और मद्यमांसके सेवनसे अपकारके सिवा उपकारका न होना, जान पड़ता है, सर्ववादिसम्मत सिद्धान्त है । जो लोग जीवहिंसासे निवृत्त होनेके कारण, अथवा मानसिक उत्कर्ष साधनके लिए, निरामिष आहार करते हैं, उनकी तो कोई बात ही नहीं, शरीरके उत्कर्षसाधनके लिए भी इस देशमें मांसभोजनका प्रयोजन नहीं है। मछलीके सम्बन्धमें उससे अधिक मतभेद पाया जाता है । मछली अपेक्षाकृत निर्दोष और सुलभ है, और उसे छोड़ देनेसे उसके बदले वैसा ही उपकारक खाद्य पाना भी कठिन है । इसके सिवा मछलीका क्रीड़ास्थल जलके भीतर है, और जलसे बाहर निकालते ही मछली मर जाती है । सुतरां मछली मारनेमें, अधिक निष्ठुर काम नहीं करना होगा । इसी कारण मत्स्यत्यागका नियम उतना दृढ़ नहीं बनाया गया। परन्तु केवल खाद्यअखाद्यका विचार करनेसे ही काम नहीं चलेगा, आहारका परिमाण भी अतिरिक्त होना उचित नहीं है । मनुभगवान् कहते हैं:—

" अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ "

(मनु । २ । ५७ ।)

अर्थात् अतिभोजन जो है वह अरोग्य, दीर्घायु, स्वर्गलाभ और पुण्यकार्यमें बाधा डालने वाला है, और लोग निन्दा भी करते हैं, इस लिए अतिभोजन नहीं करना चाहिए । यह मनुवाक्य केवल धर्मशास्त्रकी उक्ति नहीं है, चिकित्साशास्त्र भी इसका अनुमोदन करता है । अतएव आहार केवल

(१) Haig's Diet and food. P. 119 देखो ।

रसनाकी तृप्ति या शरीरकी पुष्टिके लिए नहीं है । शरीर और मन दोनोंके उत्कर्ष-साधनके लिए आहार पवित्र, सात्त्विक (२), पुष्टिकर और परिमित होना चाहिए । इस शिक्षाका अत्यन्त प्रयोजन है ।

पोशाक केवल देह ढकनेके लिए और धूप-जाड़ेसे देहकी रक्षाके लिए नहीं है; पोशाकके साथ मनका भी घनिष्ठ सम्बन्ध है । पोशाकका मैला या असंलग्न होना छोड़ देनेका अभ्यास न करनेसे क्रमशः अन्यान्य कामोंमें भी सफाई और संगति पर लक्ष्य कम हो जाता है । पक्षान्तरमें पोशाककी शोभा पर अधिक नजर रहनेसे क्रमशः वृथाका अभिमान बढ़ता जाता है । पोशाकके बारेमें सफाई और संगतिके साथ सुरुचिकी शिक्षा भी आवश्यक है ।

कसरत कहनेसे सहज ही कुश्ती या दंड-बैठक वगैरहका बोध होता है । किन्तु शारीरिक शिक्षाके लिए वह यथेष्ट नहीं है । उसके द्वारा बल अवश्य बढ़ता है, किन्तु शरीरका बलिष्ठ होना जैसे आवश्यक है, वैसे ही सर्वांशमें उसका कार्यकुशल होना भी अत्यन्त आवश्यक है । अतएव हाथ चलाकर लिखने और चित्र खींचने आदिकी शिक्षाका, और पैर चला कर तेज दौड़ने और न गिर सकनेका भी अभ्यास करना चाहिए । आँख-कान आदिका भी सुशिक्षित होना आवश्यक है । यह बात नहीं होती तो विज्ञानका अनुशीलन और जड़-जगतका पर्यवेक्षण करनेकी संपूर्ण शक्ति नहीं प्राप्त होती । किसी किसी पण्डितके मतमें बुद्धिकी न्यूनाधिकता अनेक स्थलों पर देखने-सुननेकी शक्तिकी न्यूनाधिकताके सिवा और कुछ नहीं है । देखे और सुने हुए विषयको जो मनुष्य देखते या सुनते ही संपूर्ण रूपसे देख-सुन पाता है, वही उसके मर्मको जल्द समझ सकता है । इसी लिए आँखोंको जल्द देखने और कानोंको जल्द सुननेकी शिक्षा देना हर एकका कर्तव्य है । किस तरह वह शिक्षा दी जानी चाहिए, यह ठीक करना सहज नहीं है और कोई भी शिक्षा फलवती होगी या नहीं, यह सन्देह भी उठ सकता है । किन्तु यह बात कही जाती है कि शिक्षार्थी पुरुष जल्द देखने और जल्द सुननेमें मन लगाकर वारंवार चेष्टा करे तो अभ्यासके द्वारा कुछ सिद्धि प्राप्त कर सकता है । ऐसे अभ्यासका सुफल अनेक जगह देखा जाता है । दर्शन और श्रवणके जिस तारतम्यकी बात यहाँ कही जाती है, वह स्थूल तारतम्यकी बात नहीं, सूक्ष्म तारतम्यकी बात है । उसकी परीक्षा अनेक तरह हो

सकती है। जैसे, परीक्षार्थी दर्शकके सामने किसी खास रंगसे रँगे हुए एक ताशके टुकड़ेको एक तख्तेमें लगाकर, बीचमें बिजलीके चुंबकसे खींचे हुए ऐसे लौहफलकको, जिसमें छोटासा छेद हो, लगाकर, चुंबकके साथ जो बिजलीके तारका संयोग है उसे विच्छिन्न कर लो, तो वह लौहफलक उसी दम गिर पड़ेगा। और, गिरते गिरते जितनी देर उस लौहफलकका छेद ताशके टुकड़ेके सामने रहेगा उतनी ही देर तक देखनेवाला उस ताशके टुकड़ेको देख पावेगा। उस अत्यन्त अल्प समयका परिमाण जो होगा सो उस लौहफलककी नीचेकी गतिके परिमाण और छेदके घेरेके परिमाणसे गणित द्वारा निश्चित किया जा सकता है। और, छेदके घेरेके घटने-बढ़नेके द्वारा उस समयका परिमाण भी इच्छानुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है। ऐसा देखा गया है कि वह समय .००५ सेकिंडसे भी कम हुआ तो कोई भी देखनेवाला उस रंगीन ताशके टुकड़ेको नहीं देख पाता (१)। सुननेके बारेमें परीक्षा और भी सहज है। एक घड़ीके पाससे परीक्षार्थी श्रोताको क्रम क्रमसे दूर हटनेको कहो, और देखो कि कितनी दूर तक जाकर वह घड़ीके शब्दको सुन पाता है और उसे गिन सकता है। उस दूरीका परिमाण ही उस पुरुषकी श्रवणशक्तिकी तीक्ष्णताका प्रमाण है।

कसरतके सम्बन्धमें यह भी याद रखना चाहिए कि कसरत नियमित हो, इच्छानुसार हो, स्वास्थ्यवर्द्धक हो और उधर कार्यकारिणी भी हो। कसरतमें यदि नियमका अधिक बन्धन होता है तो वह कष्ट और अनिष्टका कारण हो जाती है। और, स्वास्थ्यके लिए नियमित कसरतके समय तो नेर्जासे दौड़ सको, मगर काम पड़ने पर प्रयोजनके समय दो पग भी न चल सको, ऐसी व्यायामशिक्षा निष्फल है।

निद्रा और विश्राम अत्यन्त प्रयोजनीय हैं। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि उनकी मात्रा सबके लिए और सब समय समान हो। थोड़ी अवस्थामें अधिक निद्राका प्रयोजन है। बालक सहज ही सो जाते हैं और बहुत देर तक सोते हैं। परीक्षासे जाना गया है कि अनिद्राका फल देह और मन दोनोंके

(१) Dr. Scripture's New Psychology, Ch. VI देखो।

लिए अत्यन्त अनिष्टकर है (१)। यह बात विद्यार्थियोंको अच्छी तरह समझा देना उचित है।

अनेक विद्यार्थी परीक्षाका समय निकट आनेपर पाठ याद करनेके लिए अधिक रात तक जगते हैं। वे यह नहीं समझते कि उससे पाठ याद करनेमें यथार्थ सुविधा नहीं होती। अधिक रात तक जगनेमें केवल शरीर ही असुस्थ नहीं होता; उससे मन भी असुस्थ हो जाता है और कोई विषय समझने और स्मरण रखनेकी शक्ति घट जाती है। बस, अधिक रात तक जगकर पाठ याद करनेसे अधिक कार्य नहीं होता, विपरीत फल ही होता है। किन्तु केवल छात्रोंको दोष देना उचित नहीं है। जिन लोगोंके ऊपर परीक्षाके नियम बनाने और पाठ्य विषयकी पुस्तकें निश्चित करनेका भार है, उनका भी यह देखना कर्तव्य है कि छात्रोंके ऊपर उनके बितबाहर अपरिमित बोझ न लद जाय।

निद्राकी तरह विश्रामका भी प्रयोजन है। कारण, विश्राम न करनेसे मनुष्य थक जाता है, और अल्प समयमें अधिक काम नहीं किया जासकता। लेकिन विश्रामका अर्थ आलस्य नहीं है। आलस्यसे कोई उपकार नहीं होता, और सत्य ही " न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् " (गीता ३।५) अर्थात्, कोई क्षणभर भी एकदम निष्कर्मा होकर बैठ नहीं सकता। नियमित रूपसे काम करना, और एक प्रकारके कार्यको ही बहुत देरतक न करके, भिन्नभिन्न समयमें भिन्नभिन्न कार्योंमें लगना ही थकावट दूर करनेका एकमात्र उपाय है (२)।

अनेक लोग समझ सकते हैं कि ज्ञानलाभके लिए इतने शारीरिक नियम पालनका प्रयोजन नहीं है, बुद्धि अगर है तो शरीर जब तक निपट अस्वस्थ नहीं होता तब तक ज्ञानलाभमें कोई बाधा नहीं पड़ती। लेकिन यह समझना भूल है। असाधारण बुद्धिमान् और मेधावीके लिए, शरीरकी अवस्था अच्छी न रहने पर ज्ञानोपार्जनमें अधिक विघ्नकी संभावना नहीं भी हो; किन्तु साधारण व्यक्तिके विषयमें यह बात नहीं कही जा सकती। उसके लिए तो यह बात

(१) Marie de Manaceine's "Sleep" pp. 65-70 देखो।

(२) Dr. Henry's Medicine and Mind, Ch. V देखो।

है कि आहार और कसरत, नींद और विश्रामके बारेमें नियमपूर्वक चलनेसे ही शरीर और मनकी अवस्था ज्ञानोपार्जनके उपयुक्त हो सकती है। संक्षेपमें यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्यपालन और आहार-निद्राका संयम ही शिक्षार्थीके लिए प्रशस्त नियम है।

सहज अवस्थामें अनेक शारीरिक नियमोंका लंघन भी किया जाय तो वह सह्य होता है, और अनेक सहज कार्योंमें विना शारीरिक शिक्षाके एक प्रकारसे काम भी चल जाता है। किन्तु इसी लिए यह नहीं कहा जा सकता कि शारीरिक नियमोंका पालन और शारीरिक शिक्षा आवश्यक नहीं है। नियमित आहार, व्यायाम और विश्रामके द्वारा अनेक दुर्बल शरीर सबल हो जाते हैं। हाथों और आँखोंकी सुशिक्षाके द्वारा लोग चित्र खींचनेमें अद्भुत निपुणता प्राप्त करते हैं। पक्षान्तरमें न सीखनेसे चित्र खींचना तो दूर रहा, एक सीधी लकीर भी नहीं खींची जाती।

मन जैसे शरीरकी अपेक्षा सूक्ष्म पदार्थ है, वैसे ही मानसिक शिक्षा भी शारीरिक शिक्षाकी अपेक्षा कठिन विषय है। यहाँ पर मानसिक शिक्षाका उस अर्थमें व्यवहार नहीं किया गया है जिस अर्थका बोध विद्याशिक्षा कहनेसे होता है। भिन्न भिन्न विद्याकी शिक्षा कहनेसे, जगत्के भिन्न भिन्न विषयोंके ज्ञानकी प्राप्ति, यह अर्थ भासित होता है, किन्तु मानसिक शिक्षा यह वाक्य उसके अतिरिक्त और कुछका भी बोध कराता है, अर्थात् ज्ञानलाभ और ज्ञानलाभकी शक्तिको बढ़ाना—इन दोनोंका बोध कराता है। ऊपर कही गई विशेष विशेष विद्याओंको सीखनेसे साथ ही साथ अवश्य ही मानसिक शिक्षा प्राप्त होती है। जैसे, दर्शनशास्त्र या गणितकी शिक्षाके साथ साथ बुद्धिका विकास होता है, इतिहास पढ़नेसे अभ्यासके द्वारा स्मृतिशक्तिकी वृद्धि होती है। किन्तु यह होने पर भी भिन्न भिन्न विद्या सीखनेके साथ साथ मानसिक शिक्षा पर अलग दृष्टि रखनेकी आवश्यकता है। क्योंकि यद्यपि विद्या-शिक्षा अक्सर मानसिक शक्तिको बढ़ती ही है, मगर कभी कभी उससे इसके विपरीत फल भी उत्पन्न होता है। लगातार एक विद्याकी आलोचना करते रहनेसे यद्यपि मनुष्य उस विद्यामें पारंगत हो सकता है, किन्तु मनकी साधारण शक्ति उसके द्वारा बढ़नेके बदले घट ही जाती है। और, इस तरह ' पढ़े-

लिखे मूर्ख ' कहाये जानेवाले एक विचित्र श्रेणीके लोगोंकी सृष्टि होती है। विद्याशिक्षा करके भी अगर मानसिक शिक्षाके अभावसे लोग इस तरह परिहासके पात्र बन सकते हैं, तो वह अत्यन्त आवश्यक मानसिक शिक्षा क्या है, और वह किस तरह पाई जाती है?—सब लोग उत्सुक होकर यही प्रश्न करेंगे। पहले ही कहा जा चुका है कि मानसिक शिक्षाके माने केवल किसी खास विषयका ज्ञान प्राप्त कर लेना ही नहीं है। सभी विषयोंमें ज्ञान प्राप्त करनेकी शक्ति बढ़ाना ही उसका मूल लक्षण है। अनेक विषयोंको यथासंभव सीखना और सभी विषयोंको यथाशक्ति जान लेनेका अभ्यास ही उस शक्तिको बढ़ानेके उपाय हैं। सब लोग सभी विषयोंमें निपुणता नहीं प्राप्त कर सकते, किन्तु सभी विषयोंकी सहज बातोंको कुछ कुछ समझनेकी शक्ति सभी प्रकृतिस्थ व्यक्तियोंमें रहनी चाहिए, और थोड़ा सा यत्न करनेसे ही वह शक्ति प्राप्त हो जाती है। विद्याकी अपेक्षा बुद्धि बड़ी है। विद्या कम होती है तो भी लोगोंका काम चल जाता है, लेकिन बुद्धि कम होनेसे काम चलना कठिन है। यथार्थ मानसिक शिक्षाके बिना सहजमें ज्ञानलाभ नहीं होता।

शारीरिक और मानसिक शिक्षाकी अपेक्षा नैतिक शिक्षा अधिकतर प्रयोजनीय है। शरीर सबल और बुद्धि तीक्ष्ण होने पर भी, जिसकी नीति कलुषित है, वह अपने और अन्य सर्वसाधारणके अमंगलका कारण होता है। चाणक्यने यथार्थ ही कहा है—

> दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययालङ्कृतोऽपि सन्।
> मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः॥

अर्थात् दुर्जन विद्वान् भी हो तो उसका संग बचाना चाहिए। मणिसे अलंकृत होने पर भी क्या सर्प भयंकर जीव नहीं है? नैतिक शिक्षा जैसे अतिप्रयोजनीय है वैसे ही कठिन भी है। सुनीति किसे कहते हैं, और दुर्नीति किसे कहते हैं, यह निश्चय करना अक्सर सहज होता है। किन्तु यह होनेपर भी नैतिक शिक्षाके यों कठिन होनेका कारण यह है कि सुनीति क्या है और दुर्नीति क्या है, यह जान लेनेसे ही नैतिक शिक्षालाभका कार्य नहीं सम्पन्न होता। कार्यतः सुनीतिका आचरण और दुर्नीतिका त्याग करना ही नैतिक शिक्षा प्राप्त करनेका लक्षण है और उसी तरहका कार्य कर सकना बहुत यत्न

और अभ्यासका फल है। मतलब यह कि नैतिक-शिक्षा केवल ज्ञानविषयक नहीं है। वह प्रधानतः कर्मविषयक है। हाँ, नैतिक शिक्षा ज्ञानलाभके लिए अति प्रयोजनीय है। यद्यपि दुर्जन विद्यासे अलंकृत हो सकता है, लेकिन दुर्जनको यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति अक्सर नहीं होती। उसका कारण यह है कि ज्ञान-लाभके लिए जिस यत्न और अभ्यासकी आवश्यकता है उसके लिए उपयोगी मनका शान्त भाव दुर्जनोंके नहीं रहता। वे तीक्ष्ण बुद्धि हो सकते हैं, पर धीरबुद्धि नहीं। वे सूक्ष्म बातको ग्रहणका सकते हैं, मगर किसी किसी विषयके स्थूल और यथार्थ अर्थको नहीं समझ सकते। वे कुतर्क करके कुटिल मार्गमें जा सकते हैं, लेकिन सुयुक्तिके द्वारा सरल सिद्धान्तमें नहीं पहुँच सकते। जहाँ कोई दोष नहीं है, वहाँ वे दोष देखते हैं, और जहाँ वास्तवमें दोष है वहाँ उसे उनकी वक्र दृष्टि नहीं देख पाती। जान पड़ता है, इसीलिए आर्यऋषि जिसे देखो उसे उपदेश नहीं देते थे। शान्त, सरल और दंभवर्जित हुए बिना कोई उनका शिष्य नहीं हो सकता था, अर्थात् शिष्य पहले जबतक नैतिक शिक्षा नहीं प्राप्त कर लेता था तबतक उसे वे ज्ञानकी शिक्षा नहीं देते थे। और भी एक बात है। दुर्जन या दुर्नीतिपरायण पुरुषका जड़जगत्सम्बन्धी ज्ञान बढ़ता है तो उसके द्वारा संसारका अनेक प्रकारसे अनिष्ट हो सकता है। बस इसीलिए नैतिक शिक्षा सबसे पहले आवश्यक है।

नैतिक शिक्षाके अभावसे हम लोगोंके अनेक कष्ट बढ़ जाते हैं, और ऐसे ही नीतिशिक्षाके द्वारा हमारे अनेक कष्टोंमें कमी हो सकती है। यह सच है कि नीतिशिक्षाके द्वारा हमारे दारिद्र्य, रोग, अकालमृत्युका निवारण नहीं होता, क्योंकि उसके द्वारा खाने-पहननेके उपयोगी पदार्थ या रोगशान्तिकी दवा तैयार करनेकी क्षमता नहीं पैदा होती। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि नीतिशिक्षा आलस्य-अपव्यय आदिसे उत्पन्न दारिद्र्य और अतिभोजन-इन्द्रियासक्ति आदिसे उत्पन्न रोग दूर करनेका उपाय है। सुनीतिसम्पन्न लोग यथासाध्य यत्न करके दारिद्र्य और रोगके निवारणमें निरन्तर तत्पर रहते हैं। और, दारिद्र्य, रोग, अकालमृत्यु, दैवदुर्घटना आदि जहाँपर अनिवार्य हैं, वहाँ पर उससे उत्पन्न दुःखके बोझको सहिष्णुताके साथ अपने सिर लादनेकी क्षमता नीतिशिक्षाके सिवा और किसी तरह नहीं उत्पन्न होती, और वह क्षमता इस सुख-दुःखमय संसारमें कुछ अल्पमूल्य सम्पत्ति नहीं है।

इसके सिवा कुछ सोचकर देखनेसे समझा जा सकता है कि दैवदुर्विपाक आदिसे हमें जितना दुःख मिलता है, हमारी दुर्नीति उसकी अपेक्षा कम दुःख नहीं देती। पहले तो हमारी अपनी दुर्नीतिसे अपनेको ही अनेक प्रकारके या सब तरहके दुःख मिलते हैं। अतिभोजन आदि असंयत इन्द्रियसेवाके कारण हमें तरह तरहके रोगोंकी यंत्रणा भोग करनी पड़ती है और हम अक्सर अकालमें ही कालका कौर बन जाते हैं। दुराकांक्षा, अतिलोभ, ईर्ष्या, द्वेष आदि दुष्प्रवृत्तियोंसे हम निरन्तर तीव्र मानसिक वेदना सहते हैं। दूसरे, पराई दुर्नीतिके कारण हम अपमान, वञ्चना, चोरी आदिके द्वारा धननाश, शत्रुके हाथसे आघात और अपमृत्यु आदि अनेक प्रकारके गुरुतर क्लेश भोग करते हैं। राष्ट्रविप्लव (गदर), युद्ध, और उसके साथ होनेवाले सब अमंगल भी मनुष्यकी दुर्नीतिके ही फल हैं। इस लिए इन्द्रियसंयम और दुष्प्रवृत्तिके दमनकी शिक्षाका अभ्यास न करनेसे, केवल विज्ञान-शिक्षाके द्वारा भोगके पदार्थ और रोगकी दवा आदि अधिक मात्रामें तैयार कर सकने पर भी, मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता।

ऊपर विद्याका जो श्रेणी-विभाग किया गया है, उसमें आत्मविज्ञान या अन्तर्जगत्-विषयक विद्याका ही पहले उल्लेख किया गया है। किन्तु उसकी अच्छीतरह शिक्षा सबसे पहले किसीतरह संभव नहीं। देहयुक्त आत्माका आत्मज्ञान बहिर्जगत्के ज्ञानलाभके साथ साथ क्रमशः विकासको प्राप्त होता है, और उसके विकासके लिए तरह तरहके कर्म करनेका भी प्रयोजन होता है। इसी कारण हमारे शास्त्रोंमें कर्मकाण्डके बाद ज्ञानकाण्डमें अधिकार निश्चित हुआ है। और, इसी कारण, जान पड़ता है, ग्रीस देशके दार्शनिक पण्डित अरिस्टाटल और उनके शिष्योंने आत्मविज्ञानको 'उत्तर विज्ञान' (१) नामसे अभिहित किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि न्याय आदि दर्शनशास्त्र और मनोविज्ञान आत्मविज्ञानके ही अंश हैं। हाँ, इस बातके लिए मतभेद हो सकता है कि गणितविद्या आत्म-विज्ञानके अन्तर्गत है या नहीं। किन्तु गणित जो है वह काल-स्थान-मूलक विद्या है, और काल व स्थान अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् दोनोंका विषय होने पर भी शुद्ध गणितके

(१) Metaphysics शब्दका मौलिक अर्थ यही है।

सभी तत्त्व अन्तर्जगत्के निर्विकल्प नियमके विषय हैं। अतएव गणितको आत्मविज्ञानके अन्तर्गत कहना बिल्कुल असंगत नहीं हो सकता।

गणित एक अत्यन्त विचित्र विद्या है। इसमें कई एक साधारण सरल स्वयंसिद्ध तत्त्वोंके सहारे असंख्य अति अद्भुत जटिल दुर्ज्ञेय तत्त्वोंका निर्णय हुआ है और हो रहा है। उन तत्त्वोंका अनुशीलन असीम आनन्दकी खान है, और वे तत्त्वसमूह विज्ञानकी आलोचना और संसारके अन्यान्य अनेक कार्योंके लिए पूर्ण रूपसे हर तरह उपयोगी हैं। न समझ कर ही लोग गणितकी चर्चाको नीरस या निष्प्रयोजन समझते हैं। शिक्षककी ताड़ना अथवा शिक्षाप्रणालीकी विडम्बना ही इस धारणाकी जड़ है। थोड़ा यत्न करके यथानियम सीखना शुरू करनेसे सभी लोग थोड़ा बहुत गणित सीख सकते हैं। यह बात नहीं कही जा सकती कि सभी लोग इस विद्यामें या अन्य किसी अन्य विद्यामें समान पारदर्शी हो सकते हैं। किन्तु गणितचर्चाके आनन्दका अनुभव सभी लोग कर सकते हैं और गणितके कुछ तत्त्वोंको सभी लोग सीख सकते हैं, और सभीको यह विद्या सीखनी चाहिए। इस बारेमें संदेहका कोई यथार्थ कारण नहीं है।

मनोविज्ञान अन्तर्जगत्विषयक विद्या है। किन्तु केवल अन्तर्दृष्टिके द्वारा उसके सभी प्रयोजनीय तत्त्वोंका निर्णय नहीं होता। हमारी देहके साथ मनका जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है, और देहकी अवस्थाके ऊपर मनकी अवस्था जिसतरह निर्भर है, उससे कहना पड़ता है कि मनस्तत्त्वका अनुशीलन देहतत्त्वके साथ साथ करना चाहिए, और पाश्चात्य देशोंमें इस समय यही होता है (१)। इस प्रणालीसे मनोविज्ञानकी चर्चा चले तो विशेष उपकार होनेकी संभावना है। अनेक जगह मनका विकार और दुर्बलता मास्तिष्क-स्नायुआदि देहके अंशोंके विकार और दुर्बलतासे उत्पन्न होती है, और किस जगह ऐसी दुर्बलता हुई है या विकार हुआ है, यह मालूम हो जाय तो शारीरिक चिकित्साके द्वारा मानसिक विकार और दुर्बलता शान्त करनेमें विशेष सहायता होनेकी संभावना है। इसका एक साधारण दृष्टान्त दिया जा

---

(१) Scripture's New Psychology और Wundt व Ladd आदिके ग्रंथ देखो।

केवल सुबुद्धिकी कल्पनामात्र हैं, या यथार्थ तत्त्वमूलक हैं, इस सम्बन्धमें बहुत कुछ सन्देह रह सकता है। चाहे जो हो, जरायुमें स्थित नरदेहका क्रमशः परिवर्तित रूप और निम्न श्रेणीमें स्थित जीवदेहका क्रमशः आकार-भेद, इन दोनोंमें अद्भुत सादृश्य है, और वह विशेषरूपसे अनुशीलनके योग्य है।

जीवविज्ञानका और एक विचित्र आविष्कार यह है कि अनेक जीवजगत्के लिए हितकारी और अहितकारी कार्य कीटाणुपुञ्जके द्वारा संपन्न होते हैं। जैसे, उद्भिद् (पेड़-लता) के बढ़नेके लिए खाद तैयार करना, जन्तुके आहारको पचानेमें सहायता करना आदि हितके कार्य हैं, और यक्ष्मा (तपेदिक), विसूचिका (हैजा) आदि उत्कट रोग पैदा करना इत्यादि अहितके कार्य हैं। कीटाणुतत्त्व जीवविज्ञानका एक प्रधान विभाग है, और उसके अनुशीलनसे कीटाणुओंसे होनेवाले हितकर कार्योंकी वृद्धि और अहितकर कार्योंका ह्रास हो सकता है।

यह कहनेकी विशेष आवश्यकता नहीं कि जीवविज्ञानका एक विभाग, चिकित्साशास्त्र, अति प्रयोजनीय विद्या है, और उसका कुछ ज्ञान हरएक मनुष्यको होना चाहिए।

नैतिक अर्थात् जीवके सज्ञानकार्यविषयक विज्ञानके विभागमें सबसे पहले भाषा साहित्य और शिल्पविज्ञानका उल्लेख किया गया है। वास्तवमें भाषा सज्ञान जीवकी एक अद्भुत सृष्टि है, और यद्यपि भाषाके विना सोचनेका काम चल सकता है या नहीं, इसके सम्बन्धमें पहले ही कहा जा चुका है कि मतभेद है, और उसकी यहाँ पर फिर आलोचना करना निष्प्रयोजन है, किन्तु यह बात सभीको स्वीकार करनी होगी कि विना भाषाके दर्शन-विज्ञान आदिकी चर्चा और ज्ञानका प्रचार अत्यन्त दुरूह होता। भाषाकी सृष्टि किस तरह हुई, इस प्रश्नका उत्तर देना सहज नहीं है। इस सम्बन्धमें बुद्धिमानों और विद्वानोंने अनेक मत प्रकट किये हैं। भाषाकी उन्नति और अवनति किस नियमके अधीन है और नई भाषा किस तरह सहजमें सीखी जा सकती है, इस सम्बन्धमें भी बहुत मतभेद है। किन्तु इन दोनों विषयोंका अनुशीलन बराबर सदासे हो रहा है, और वह कर्मक्षेत्रमें अत्यन्त आवश्यक भी है।

मनुष्यके स्वभावसिद्ध सौन्दर्यानुरागने सुन्दर भावोंको सुन्दर भाषामें और सुन्दर चित्र आदिमें प्रकट करनेकी चेष्टा करके साहित्य और शिल्पकी सृष्टि की

है । साहित्य और शिल्पसे हम अनेक प्रकारकी जानकारी प्राप्त करते हैं, उनसे हमें अनेक सत्कर्म करनेकी प्रेरणा मिलती है । वह साहित्य और शिल्प अगर कुरुचिपूर्ण रचना हुई तो उसके द्वारा अनेक समय हम कुमार्गगामी भी हो सकते हैं और कुकर्म भी कर सकते हैं ।

इतिहास मनुष्यके सज्ञान कार्यका विवरण है । किस जातिने कब कहाँ, क्या किया है, केवल इसीकी सूची रखना इतिहासका उद्देश्य नहीं है । उन सब कार्योंका कारण क्या है, और उनका फल क्या हुआ, और भिन्न भिन्न जातियोंका अभ्युत्थान, उन्नति और अवनति किस नियमसे हुई है, मनुष्य-जाति किस नियमसे किस मार्गमें आगे बढ़ रही है, इन सब तत्त्वोंका निर्णय करना ही इतिहासका उद्देश्य है ।

मनुष्य अकेले नहीं रह सकता; समाज बाँधकर रहता है । समाज जातिसे छोटा और परिवारसे बड़ा होता है । अनेक व्यक्तियोंको लेकर एक परिवारका संगठन होता है, अनेक परिवार मिलकर एक समाज होता है, और अनेक समाज मिलकर एक जाति बनती है । पारिवारिक बन्धनका मूल विवाह है, जातीय बन्धनका मूल एक भाषा, एक धर्म और एक राजाके अधीन होना, अथवा कमसे कम इन तीनोंमेंसे एक बात है । सामाजिक बन्धनका मूल है समाजबद्ध व्यक्तियोंकी इच्छा । परन्तु जैसे कोई भी व्यक्ति संपूर्णरूपसे अपनी इच्छाके अधीन नहीं है—सभी राजा या राजशक्तिके द्वारा स्थापित नियमोंके अधीन होते हैं, वैसे ही समाज भी उसी नियमके अधीन हुआ करता है । समाजका जो बन्धन है वह उसमें बँधे हुए व्यक्तियोंकी अपनी इच्छासे उत्पन्न है, पराई इच्छाके अधीन नहीं है । इसी कारण समाजका इतना आदर है और वह इतना हितकर है । समाजके शासनको एक प्रकारका आत्मशा-सन कहें तो कह सकते हैं । वह कठोर नहीं है, और उसके द्वारा लोग अनेक अन्याय कार्योंसे रोके जाते हैं । कोई कोई इस मर्मको न समझकर समाजका अपमान करते हैं, और आईन-अदालतके शासनको छोड़कर और किसी शासनको मानना नहीं चाहते । वे अत्यन्त भ्रान्त हैं । समाजनीति अति विचित्र विषय है । समाज जब समाजबद्ध व्यक्तियोंकी इच्छाके ऊपर प्रतिष्ठित है, तब किसी भी समाजकी नीति अवश्य ही उस समाजके व्यक्तियोंकी या उनमेंसे अधिकांशकी प्रकट या अप्रकट इच्छाके द्वारा

अनुमोदित है, ऐसा मानना पड़ेगा। अब प्रश्न उठता है कि उस इच्छाका मूल कहाँ है? इसके उत्तरमें कहा जा सकता है कि लोगोंकी इच्छाका मूल उनके पहलेके संस्कार शिक्षा और वर्तमान प्रयोजन है। कुछ सोचकर देखनेहीसे समझमें आजाता है कि हमारी इच्छा भी हमारी इच्छाके अधीन अर्थात् स्वाधीन नहीं है, वह कार्य-कारण सम्बन्धी नियमके अधीन है। पहले जिन कई एक मूलों या कारणोंका उल्लेख किया गया है, उन्हींसे हमारी इच्छा उत्पन्न है। समाज-नीतिका अनुशीलन और संशोधन करनेमें उस नीतिके मूल पर दृष्टि रखना आवश्यक है। अगर उस पर दृष्टि नहीं रक्खी गई तो उस अनुशीलन और संशोधनकी चेष्टा फलप्रद नहीं हो सकती।

अर्थनीति और एक प्रयोजनमें आनेवाली बहुत जरूरी विद्या है। कोई कोई इसे निकृष्ट विद्या कहते हैं; पर उनका यह कथन ठीक नहीं है। कोई विद्या अर्थात् ज्ञान निकृष्ट नहीं हो सकता। हाँ, अर्थनीतिका भ्रांत अनुशीलन और अर्थ (दौलत) का एकान्त अनुसरण निकृष्ट हो सकता है। यहाँ पर अर्थशब्दसे केवल रुपए-पैसेका बोध नहीं होता, उसका अर्थ मूल्यवान् सम्पत्तिमात्र समझना चाहिए। अगर यही बात है, तो कमसे कम अर्थनीतिका कुछ अनुशीलन तो मनुष्यमात्रके लिए अति आवश्यक है। कारण, देहधारी मनुष्यके शरीरकी रक्षाके लिए जिन सब वस्तुओंका अत्यन्त प्रयोजन है, वे प्रायः सभी मूल्यवान् हैं, कुछ भी बिना मूल्य नहीं मिलता। यहाँतक कि निर्मल वायु और उज्वल प्रकाश भी जनसमूहपरिपूर्ण और घनी बस्ती या असंख्य इमारतोंवाले नगरमें बिना मूल्य दुष्प्राप्य होता है। किस नियमसे वस्तुका मूल्य कम-ज्यादह होता है? कहाँतक धनी लोग श्रमजीवियोंसे अपने लाभके लिए मेहनत करा सकते हैं? राजशासन ही कहाँतक अर्थनीतिके क्षेत्रमें प्रयोजनीय या सुसंगत है?—इत्यादि प्रश्नोंका उत्तर कुछ कुछ जानना सभीके लिए कर्तव्य है।

राजनीति अत्यन्त गहन शास्त्र है। तत्त्वका निर्णय सर्वत्र ही दुरूह है, किन्तु अन्याय शास्त्रोंकी अपेक्षा इस शास्त्रके अधिक दुरूह होनेका कारण यह है कि जिन सब तत्त्वोंका निर्णय इस शास्त्रका उद्देश्य है वे अति जटिल हैं, और उनके अनुशीलनमें भ्रममें पड़ जाना बहुत सहज है। राजशक्तिका

प्रयोजन क्या है और उसका मूल कहाँ है, अर्थात् एककी स्वाधीनतापर अन्यके शासन करनेका प्रयोजन क्या है और वह अधिकार किस सूत्रसे है, किस प्रणालीसे वह शासन अच्छा होता है, इन सब तत्त्वोंका निर्णय राजनीतिका मूल उद्देश्य है। सभी मनुष्य स्वाधीनता-प्रिय और स्वाधीनताके अधिकारी हैं, साथ ही एककी पूर्ण स्वाधीनता अन्यकी पूर्ण स्वाधीनताका विरोध करती है। कारण, एक व्यक्ति अगर किसी रम्य स्थान या भली वस्तु पर अधिकार करना चाहे तो और कोई उस समय उस पर अपना अधिकार नहीं स्थापित कर सकता। इस तरहके परस्परकी स्वाधीनताके विरोधकी मीमांसा, अर्थात् स्वाधीनताका शासन, सहज मामला नहीं है। उसके ऊपर फिर मनुष्यगण नानादेशवासी हैं, और भिन्न भिन्न देशवासियोंका स्वार्थ भी विभिन्न और अनेक स्थलोंपर परस्परविरुद्ध है। एक देशके रहनेवालोंमें भी विभिन्न समाज, विभिन्न धर्म, विभिन्न जातीय भाव इत्यादि अनेक प्रकारके अलगावके कारण उनके स्वार्थमें परस्पर विरोध पाया जाता है। इन सब अनेक प्रकारके विरोधोंके घात-प्रतिघातसे इस पृथ्वीपर मनुष्योंका परस्परका सम्बन्ध असंख्य-विचित्र-आवर्तसंकुल और अतिजटिल हो रहा है। इसी लिए राजा और प्रजाके सम्बन्धका विचार और शासनप्रणालीके नियमोंका निरूपण एक अत्यन्त कठिन मामला है। अथच इस सम्बन्धविचार और नियमनिरूपणके कार्यके साथ जब हम लोगोंका परम प्रिय स्वार्थ, अर्थात् अपनी स्वाधीनता, जकड़ी हुई है, और उसके संकीर्ण होनेकी आशंका मौजूद है, तब मनुष्यकी स्वभावसिद्ध स्वार्थपरता हम लोगोंको मोहान्ध कर सकती है, और उसके द्वारा इस आलोचनामें पग पग पर हमारे भ्रान्त होनेकी अधिक संभावना है। फिर इस सम्बन्ध-विचार और नियम-निरूपणमें कोई गुरुतर भ्रम रहजानेसे बहुत कुछ अनिष्ट हो सकता है। राजा या राजशक्ति अगर न्यायके अनुसार कार्य नहीं करती तो प्रजामें असन्तोष पैदा हो जाता है। उधर प्रजा अगर न्यायानुमोदित राजभक्तिसे हीन होती है और राजशासनको नहीं मानती तो फिर राजा शान्तिरक्षाके नाम पर शासनको अधिकतर दृढ़ और कठोर कर देता है। बस, राजा और प्रजामें असद्भाव (मन-मोटाव) बढ़ता रहता है, और उसके कारण देशमें अनेक प्रकारकी अशान्ति पैदा होती रहती है। इन

सब कारणोंसे, राजनीतिके अत्यन्त गहन होने पर भी, उसके मूल तत्त्वोंको कुछ कुछ जानना सबके लिए उचित है। कमसे कम यह बात जानना सभीके लिए आवश्यक है कि राजा केवल देशकी शोभाके लिए या उसकी अपनी सुख-स्वच्छन्दता और अन्यके ऊपर हुकूमतका उपयोग करनेके लिए नहीं होता। देशकी शान्तिरक्षाके लिए ही उसका अस्तित्व है, और इसी लिए उसका प्रभाव अखण्डित रहना अत्यन्त आवश्यक है।

व्यवहारनीति (कानून) राजनीतिका एक अति प्रयोजनीय अंश है। प्रजामें परस्पर होनेवाले विवादकी मीमांसाके लिए व्यवहारशास्त्रकी सृष्टि हुई है। यह केवल व्यवहारजीवी (वकील-बैरिस्टर) लोगोंकी ही विद्या नहीं है। हरएक व्यक्तिको इस शास्त्रका कुछ ज्ञान रहना चाहिए। कारण, स्वत्व-अस्वत्वको लेकर हरएक व्यक्तिका औरके साथ झगड़ा होना संभव है।

धर्मनीति सब शास्त्रोंके ऊपरका शास्त्र है। जो लोग ईश्वरवादी हैं, अर्थात् ईश्वरको जगत्का आदिकारण मानते हैं, उनके मतमें ईश्वरकी प्राप्ति ही जीवका चरम लक्ष्य है। इसलिए धर्मनीतिके ही द्वारा उनके सब कार्य अनुशासित होते हैं।

जो लोग ईश्वरको नहीं मानते, उनके मतमें धर्मनीति और आचारनीति एक ही है। किन्तु वे जब सदाचार अर्थात् न्यायपरताको मनुष्यके सब कार्योंका श्रेष्ठ नियम मानते हैं, तब उनके मतमें भी धर्मनीति और आचारनीति सब शास्त्रोंके ऊपरका शास्त्र है।

धर्मनीतिका ईश्वरतत्त्व, ब्रह्मतत्त्व, अर्थात् ज्ञानविभागका एक अंश, अति कठिन है। किन्तु उसका दूसरा अंश अति सहज है। कौन कार्य उचित है और कौन कार्य अनुचित है, यह जानना अधिकांश स्थलोंमें ही अति सहज है। किन्तु उस ज्ञानके अनुसार कार्य करना अनेक स्थलोंमें ही कठिन है। इसका कारण यह है कि ज्ञानकी अपेक्षा कर्म कठिन होता है। ज्ञानको कार्यमें परिणत करनेके लिए अनेक दिनोंका अभ्यास आवश्यक हुआ करता है। एक साधारण दृष्टान्तमें यह बात स्पष्ट देखी जाती है। यह हम सब जानते हैं कि सरलरेखा किसे कहते हैं, और वह किस तरह खींची जाती है। किन्तु कुछ लंबी सरल रेखाको किसी यन्त्रकी सहायताके बिना कै आदमी खींच सकते

हैं ? इसी कारण मनुष्य जितनी जल्दी धर्मनीतिकी आलोचना और सत्कर्मका अभ्यास आरंभ कर सके उतना ही अच्छा।

(२) शिक्षाकी प्रणाली। शिक्षाके विषयके सम्बन्धमें ऊपर कुछ कहा गया है। शिक्षाके विषय असंख्य हैं; उनमेंसे केवल कई एक शास्त्र या विद्याके सम्बन्धमें दो-एक बातें कही गई हैं। अब शिक्षाकी प्रणालीके सम्बन्धमें कुछ आलोचना की जायगी।

शिक्षाके विषय जब इतने विस्तृत हैं, और उन अनेक विषयोंका कुछ कुछ ज्ञान प्राप्त करना जब सभीके लिए आवश्यक है, तब यह प्रश्न सभीके मनमें उठेगा कि किस प्रणालीसे शिक्षा देनेसे थोड़े समय और थोड़े श्रममें, सीखनेवाला अधिक विषय सीख सकता है ? इस प्रश्नका ठीक उत्तर पानेके लिए भी अवश्य ही सबके मनमें आग्रह उत्पन्न होगा। प्राचीन समयसे सभी देशोंमें इस प्रश्नकी आलोचना होती आरही है, और बुद्धिमान् लोगोंने समय समय पर इस विषय पर अनेक प्रकारके मत प्रकट किये हैं। उन सब मतोंकी अच्छी तरह आलोचना करना, या उनका पूरा ब्योरा लिखना, इस ग्रन्थका उद्देश्य नहीं है। इस जगह पर केवल संक्षेपमें उन सब मतोंका उल्लेख करके शिक्षाप्रणालीके संबन्धमें जिन जिन मूलतत्त्वों तक पहुँचा जाता है, वही लिखा जायगा।

प्राचीन भारतमें ब्राह्मणोंकी शिक्षा ही आदर्शशिक्षा गिनी जाती थी। उस शिक्षाका उद्देश्य, सीखनेवाले विद्यार्थीके हृदयमें धर्मभावका उद्रेक और उसे ब्रह्मज्ञानका लाभ होना ही था। और, उस शिक्षाकी प्रणाली थी कठोर ब्रह्मचर्यपालन द्वारा शिक्षार्थीके शरीर और मनको संयत करके और उसमें अटल गुरुभक्ति उत्पन्न करके उसे शिक्षालाभके योग्य बना लेना (१)। लौकिक विद्याओंकी आलोचना भी अवश्य होती थी (२), किन्तु वैदिक और आध्यात्मिक ज्ञानका लाभ ही शिक्षाका प्रधान उद्देश्य था। दैहिक उत्कर्षसाधन पर भी ध्यान अवश्य था। ब्रह्मचर्यपालन और संयमके अभ्याससे वह उद्देश्य आप ही बहुत कुछ सिद्ध हो जाता था। कर्मकी अपेक्षा ज्ञानकी श्रेष्ठता स्वीकृत

---

(१) मनुसंहिताका दूसरा अध्याय और छान्दोग्य उपनिषद् ५।३ देखो।

(२) मनुसंहिताका दूसरा अध्याय, ११७ वां श्लोक देखो।

होनेपर भी, कर्मफल अवश्य भोगना पड़ता है—इस समझके कारण, असत् कर्मका त्याग और सत्कर्मका आचरण शिक्षाका एक अंश था। ऐहिक सुखकी अनित्यताका बोध प्रबल होनेके कारण जड़जगत्के तत्त्वोंकी खोजके प्रति अवहेला और आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करनेमें एकाग्रता उत्पन्न हुई, और उसका फल यह हुआ कि भारतके बुद्धिमानोंने आध्यात्मिक तत्त्वके अनुशीलनमें असाधारण उन्नति कर ली, किन्तु देशकी आर्थिक और औद्योगिक अवस्था दिन दिन अवनत होती गई। चैतन्यजगत् जड़जगत्से श्रेष्ठ होने पर भी, ईश्वरकी सृष्टिकी एकताका नियम ऐसा विचित्र है कि उसके सभी अंश परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हैं और किसी भी अंशकी अवहेला करनेसे उसका प्रतिफल अवश्य ही भोगना पड़ता है।

प्राचीन ग्रीसमें, शिक्षार्थी जिसमें ज्ञानी हो सके उसी ओर प्रधानरूपसे शिक्षाका लक्ष्य था, और शिक्षाप्रणाली भी उसके उपयोगी थी। प्राचीन रोममें शिक्षार्थीको प्रधानरूपसे कर्मनिष्ठ बना लेना ही शिक्षाका उद्देश्य था।

यूरोपमें, मध्ययुगमें ग्रीस और रोमकी चलाई हुई प्रणाली, और ईसाई धर्मके अभ्युत्थानमें नवीन धर्मभावसे प्रेरित चिन्ताका स्रोत, इन दोनोंके मिलनेसे शिक्षा-प्रणालीने एक नया भाव धारण किया, और उसमें पहलेकी अपेक्षा आध्यात्मिक तत्त्वके अनुशीलनकी कुछ अधिकतर प्रधानता देख पड़ती है। किन्तु इस प्रणालीमें कई एक भारी दोष थे। एक तो शिक्षा प्रधानरूपसे शब्दगत थी, अर्थात् जितनी शब्दगत थी उतनी वस्तुगत नहीं थी। शब्दोंकी मारपेंच, व्याकरणके विधि-निषेध और न्यायके तर्क-वितर्कमें ही विद्यार्थीका अधिक समय बीत जाता था। यथार्थ वस्तु या पदार्थके ज्ञानकी ओर उतनी दृष्टि नहीं रक्खी जाती थी। दूसरे, बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् दोनोंके तत्त्वोंकी खोजमें पर्यवेक्षण तथा परीक्षाकी सहायता न लेकर केवल चिन्ता और तर्कके द्वारा ज्ञान प्राप्त करनेके प्रयासकी शिक्षा दी जाती थी, और वह प्रयास प्रायः निष्फल ही होता था। तीसरे, शिक्षाके वस्तुगत न होकर शब्दगत होनेसे, और पर्यवेक्षण तथा परीक्षाके बदले केवल चिन्ता और तर्कका साहाय्य लेनेसे, उसका फल यह हुआ था कि वह शिक्षा, नये नये ज्ञानके लाभसे उत्पन्न आनन्दकी खान न होकर, नीरस रटन्त और निष्फल चिन्ताके परिश्रमसे उत्पन्न कष्टका कारण हो उठी थी।

इन सब दोषोंको दूर करनेके लिए चिन्ताशील महात्मा लोगोंने समय समय पर अनेक उपाय निकाले हैं। राटिस और कमीनियसने शिक्षाको वस्तुगत और प्रकृतिके नियमके अनुरूप—अर्थात् जिस नियमसे प्रकृति पशुपक्षियोंको शिक्षा देती है उस नियमके अनुयायी—बनानेके लिए अनेक बातें कही हैं। राबेलस और मान्टेनूने शिक्षाका और भी जरा ऊँचा आदर्श दिखलाया है। वे कहते हैं, शिक्षाके द्वारा शिक्षार्थीके शरीर और मनको ऐसा गठित करना चाहिए कि उसके द्वारा वह एक यथार्थ मनुष्य बनाया जाय। इंग्लैंडके प्रसिद्ध कवि मिल्टन और प्रसिद्ध दार्शनिक लकने भी शिक्षाके इसी उच्च आदर्शका आश्रय लेकर अपने ग्रन्थोंमें शिक्षाके नियम लिखे हैं। रूसो, पेस्टालट्सी और फ्राबेल भी शिक्षाको मनुष्य तैयार करनेका, अर्थात् शिक्षार्थीके चरित्रगठनका, उपाय मानते हैं। शिक्षाकी कठोरता मिटानेके लिए इन लोगोंने विशेष यत्न भी किया है। महात्मा फ्राबेलके मतमें विद्यालयको बालोद्यानका रूप देना चाहिए। इनकी चलाई शिक्षाप्रणाली ' बालोद्यान ' * प्रणाली कहलाती है और इस देशमें भी प्रचलित हो चुकी है।

शिक्षाप्रणालीके सम्बन्धमें अनेक देशोंमें अनेक समयोंमें जो मत प्रकट किये गये हैं उनकी आलोचना करके और शिक्षाके उद्देश्य पर दृष्टि रख कर जिन कई एक स्थूल सिद्धान्तों पर पहुँचा जाता है वे यहाँ संक्षेपमें लिखे जाते हैं। यहाँ पर यह कह देना उचित है कि नीचे जो लिखा जाता है उसका कुछ अंश मेरी लिखी हुई ' शिक्षा ' नामकी पुस्तकसे उद्धृत किया गया है।

(१) शिक्षाप्रणालीका निरूपण करनेके लिए शिक्षाके उद्देश्यका निरूपण आवश्यक है। शिक्षाका उद्देश्य शिक्षार्थीके लिए प्रयोजनीय ज्ञानकी प्राप्ति और उसका सर्वाङ्गीन उत्कर्षसाधन है। केवल ज्ञानी होनेसे ही यथेष्ट न समझ लेना चाहिए; इस कर्मभूमिमें कर्मठ होना भी हमारे लिए वैसा ही प्रयोजनीय है। जीवनकी अवधि कम है, लेकिन ज्ञानके विषयोंकी सीमा नहीं है। सभी विषयोंका ज्ञान प्राप्त करना किसीके लिए भी साध्य नहीं है। इस कारण प्रयोजन भरका ज्ञान पाकर ही सन्तुष्ट होना होगा। और, कर्मठ बननेके लिए देह और मन दोनोंके सर्वाङ्गीन उत्कर्षका साधन आवश्यक है।

* Kindergarten शब्दका यही अर्थ है।

यहाँपर प्रयोजन भरके ज्ञान और सर्वाङ्गीन उत्कर्षके सम्बन्धमें दो-एक बातें कहना आवश्यक है।

कई एक विषयोंके सम्बन्धमें कुछ ज्ञान सभीके लिए प्रयोजनीय है। जैसे मोटे तौरपर हमारे शरीरकी भीतरी रचना और कार्य कैसे हैं, और किस नियमसे चलनेसे देहके स्वास्थ्यकी रक्षा और पुष्टिकी वृद्धि होती है, हमारी सब मानसिक क्रियाएँ मोटे तौरपर किस नियमसे चलती हैं, हम कहाँसे आये हैं और अन्तको कहाँ जायँगे, इत्यादि विषयोंका कुछ कुछ ज्ञान होना सभीके लिए आवश्यक है। फिर अनेक विषय ऐसे हैं जिनका समग्र होना सबके लिए आवश्यक नहीं। वे विषय ऐसे हैं कि जिसने जो पेशा स्वीकार कर रक्खा है उसे उसी विषयकी जानकारी हासिल करनेकी जरूरत है। जैसे वैद्यकका विषय वैद्यके लिए, आईन कानूनका विषय वकील-बैरिस्टरके लिए और कृषिशास्त्र किसानके लिए अवश्य जाननेकी चीज है।

सर्वाङ्गीन उत्कर्षसाधनके सम्बन्धमें एक कठिन प्रश्न उठ सकता है। एक ओरकी संपूर्ण उन्नतिकी चेष्टा करनेमें दूसरी ओरकी संपूर्ण उन्नति बहुधा असाध्य हो जाती है। जैसे, देहकी संपूर्ण उन्नतिका यत्न करो, तो मनकी संपूर्ण उन्नतिके लिए जो मानसिक श्रम आवश्यक है उसके लिए समय नहीं रहता, और वैसे ही मानसिक उन्नतिके लिए श्रम करो, तो देहकी संपूर्ण उन्नतिमें उसी कारणसे विघ्न पड़ता है। देह और मनकी उन्नति जब इस प्रकार परस्परविरोधी है तब क्या कर्तव्य है? इस प्रश्नका केवल एक ही उत्तर संभवपर है। ऐसे विरोधकी जगह वांछित उत्कर्षकी प्रधानताके तारतम्य और शिक्षार्थीके प्रयोजन, इन दोनों बातों पर दृष्टि रखकर प्रत्येक स्थलमें कार्य करना होगा। जैसे बाल्यकालमें देहको पुष्ट बनाना अत्यन्त आवश्यक है, और उधर ज्ञानोपार्जन और मानसिक उत्कर्षसाधनकी शक्ति थोड़ी होती है; अतएव उस समय दैहिक उत्कर्षसाधनके ऊपर विशेष दृष्टि रख कर शिक्षा देनी चाहिए। उसके क्रमशः कुछ कुछ करनेसे भी काम चल सकता है। और यह याद रखना चाहिए कि जिस शिक्षार्थीका शरीर दुर्बल है उसकी देहके बारेमें सबलदेह शिक्षार्थीकी अपेक्षा अधिक यत्न करनेका प्रयोजन है। असल बात यह है कि जैसे नियमसे चलनेमें शिक्षाका समग्रफल अधिक हो वही नियम स्वीकार करना चाहिए।

एक तरफ एकदम अयत्न करके दूसरी तरफ अत्यन्त अधिक यत्न करनेसे काम नहीं चल सकता; सब तरफ नजर रखकर चलना चाहिए।

ऐसी जगह पर गणितके गरिष्ठ-फल-निरूपणका नियम स्मरणीय है। उसका एक उदाहरण यहाँ पर दे देना एकदम अप्रासंगिक न होगा।

एक 'वृत्त' के बीच बहुत बड़ा 'त्रिभुज' खींचना हो तो बहुत बड़ा 'लंब' खोजनेसे काम नहीं चल सकता। कारण बृहत्तम लंब खोजा जायगा तो त्रिभुज एकदम गायब हो जायगा। बृहत्तम भूमि खोजनेसे भी कार्यसिद्ध न होगा। ठीक बृहत्तम त्रिभुज वृत्तमध्यस्थ समबाहु त्रिभुज होगा।

हमारे किसी भी विषयमें पूर्णता नहीं है; सभी विषयोंमें हम सीमाबद्ध वृत्तके भीतर कार्य करते हैं। हमारे जीवनकी अनेक समस्याएँ ही गणितके गरिष्ठफलनिरूपणकी समस्याकी तरह हैं। किसी एक ओर उच्च आकांक्षा करनेसे, अधिक फलका लाभ दूर रहे, कभी कभी एकदम निराश होना होता है। सभी तरफ दृष्टि रखकर आकांक्षाको शान्त या पूर्ण करनेसे ही यथासंभव फल पाया जाता है।

एक ओरका उत्कर्षसाधन जैसे दूसरी ओरके उत्कर्षसाधनका विरोधी है, वैसे ही शिक्षार्थीका उत्कर्षसाधन और ज्ञानलाभ इन दोनोंमें भी कुछ कुछ परस्पर विरोध हो सकता है। यथासंभव ज्ञानलाभके लिए जो यत्न और श्रम आवश्यक है, वह प्रायः शिक्षार्थीके मनके उत्कर्षको संपन्न करता है। सुतरां वहाँतक ज्ञानलाभ और मानसिक उत्कर्षसाधन साथ साथ चलता है। लेकिन दैहिक उत्कर्षसाधन भी उसीके साथ सर्वत्र होता है कि नहीं, यह ठीक नहीं कहा जा सकता। जहाँ पर वह नहीं होता वहाँपर यथासंभव देहके भी उत्कर्षसाधनके लिए अलग यत्न करना आवश्यक है, और उसके द्वारा ज्ञानलाभके लिए उपयोगी श्रमकी सहायता हो सकती है। किन्तु अधिक ज्ञानलाभके लिए जो यत्न और श्रम आवश्यक है वह अगर शिक्षार्थीकी स्मृतिशक्ति और श्रमशक्तिसे अतिरिक्त हो, तो उसके द्वारा उसके देह और मनका उत्कर्ष न होगा, बल्कि उलटे अनिष्टघटना ही हो सकती है। और, ऐसे स्थलमें उसको मिला हुआ ज्ञान व्यवहारयोग्य शस्त्र या शोभन भूषण न होकर भारस्वरूप हो जाता है और उसे पण्डितमूर्ख श्रेणीके अन्तर्गत बना देता है।

यह बात याद रखनेसे ही समझमें आ जायगा कि शिक्षाके विषय और पाठ्य पुस्तकोंकी संख्या बढ़ा देनेसे ही शिक्षाकी उन्नति नहीं होती।

उच्च परीक्षा या सम्मानलाभार्थ परीक्षामें शिक्षाके विषयों और पाठ्य पुस्तकोंकी संख्या अधिक होना उचित है। किन्तु निम्न परीक्षा या साधारण उपाधिलाभकी परीक्षामें ऐसा नियम करना युक्तिसंगत नहीं है। कारण, उस परीक्षाके लिए स्वभावतः अनेक लोग प्रार्थी होंगे, और चाहे जिस किसी प्रकारसे उस परीक्षामें पास होनेकी चेष्टा करेंगे, और पास भी होंगे। मगर शिक्षाके विषय अधिक होनेसे, उससे उनके लिए यथार्थ ज्ञानलाभ और उत्कर्ष साधनकी संभावना नहीं रहेगी।

कोई कोई कह सकते हैं कि मानवजातिकी उन्नतिके लिए क्रमशः शिक्षासे प्राप्त होनेवाले ज्ञानका परिमाण बढ़ाना उचित है। यह बात ठीक है। लेकिन उस परिमाणके बढ़ानेका काम क्रमशः और सावधानीके साथ होना चाहिए, और शिक्षालब्ध ज्ञानके परिमाणकी वृद्धि समाजके अनायासप्राप्त ज्ञानके परिमाणकी वृद्धिके साथ साथ होनी चाहिए। इस बातके ऊपर एक आपत्ति यह हो सकती है कि समाजके अनायासप्राप्त ज्ञानका परिमाण बढ़ानेके लिए कमसे कम उस बढ़े हुए परिमाणके ज्ञानका आकर समाजके भीतर रहना आवश्यक है, और शिक्षालब्ध ज्ञानका परिमाण बढ़ाए बिना वह आकर कहाँसे पाया जायगा? इस आपत्तिका खण्डन करनेके लिए यह बात कही जा सकती है कि समाजके अनायासलब्ध या साधारण ज्ञानकी वृद्धिके लिए यद्यपि शिक्षासे प्राप्त होनेवाले ज्ञानका परिणाम बढ़ाना आवश्यक है, किन्तु वह आवश्यकता सब शिक्षार्थियोंके लिए नहीं है। कारण, सबसे या अधिकांश शिक्षार्थियोंसे शिक्षाके पूर्ण फलकी आशा नहीं की जा सकती। कुछ एक तीक्ष्णबुद्धिसम्पन्न उच्च शिक्षाभिलाषी विद्यार्थी, उपयुक्त शिक्षा और यथेष्ट उत्साह मिलनेसे ही, स्वदेशीय सरल और सर्वसाधारणके समझने लायक भाषामें रचे गये अपने अपने ग्रंथ और अपने द्वारा संपादित पत्रपत्रिकाओंमें प्रकाशित अथवा सभासमितियोंमें पढ़े गये प्रबन्ध-निबन्ध आदिसे साधारण समाजके नानाविषयक ज्ञानकी उन्नति कर सकते हैं।

शिक्षार्थीका ज्ञानलाभ और उसके दैहिक तथा मानसिक उत्कर्षका साधन, इन दोनोंमें जब दूसरे उद्देश्य अर्थात् दैहिक और मानसिक उत्कर्षसाधनकी

प्रधानता अवश्य ही स्वीकार करनी होगी, तब उसीके ऊपर अधिक दृष्टि रखना सब जगह सबका कर्तव्य है। ऐसा होनेसे उपकारके सिवा कोई हानि नहीं होगी। कारण, देह और मनका उत्कर्ष प्राप्त हुए बिना शिक्षासे मिला हुआ ज्ञान काममें नहीं लगाया जा सकता। किन्तु उधर देह और मनका उत्कर्ष सिद्ध होजानेसे शिक्षालब्ध ज्ञानकी मात्रा थोड़ी होने पर भी उससे एक तरह काम चला लिया जा सकता है। यहाँ पर एक साधारण दृष्टान्त देकर यह बात समझाई जायगी। किसी दूरदेशको जानेवाले यात्रीके पास क्या सामान रहनेसे अच्छा होगा? पका हुआ अन्न-व्यंजन साथ होनेसे अच्छा होगा, या अन्न-व्यञ्जन आदि बना सकनेकी क्षमता, जरूरी वर्तन वगैरह और जरूरती सामान खरीदने लायक धन पास होनेसे अच्छा होगा? पकाया हुआ अन्न-व्यंजन साथ होनेसे वह कितने दिन चलेगा? तैयार भोजन वह अपने साथ ले ही कितना जायगा? किन्तु रसोई बना सकनेकी क्षमता और जरूरतके माफिक सामान खरीदने भरका धन सदा सब जगह उस यात्रीके काम आवेगा। उसी तरह यह आशा नहीं की जा सकती कि पहलेका मिला हुआ ज्ञान सदा सब जगह काम आवेगा, किन्तु सबल देह और परिमार्जित बुद्धि सदा सब जगह कामके समय तत्काल उपयुक्त उपायका आविष्कार करके कार्यको सुसंपन्न कर ले सकती है।

बुद्धि न होनेपर कोरी विद्यासे कुछ काम नहीं होता। इस सम्बन्धमें एक अच्छी कहानी सुन पड़ती है। एक मोटी बुद्धिका विद्यार्थी संपूर्ण ज्योतिषशास्त्र अच्छी तरह पढ़कर परीक्षा देनेके लिए किसी राजाकी सभामें पहुँचा। राजाने अपनी हीरेकी अँगूठी मुट्ठीमें लेकर दमभर बाद उस उस विद्यार्थीसे प्रश्न किया कि "बताओ, हमारी मुट्ठीमें क्या है?" विद्यार्थीको ज्योतिषशास्त्र कंठ था। उसने हिसाब लगाकर पलभरमें जान लिया कि राजाकी मुट्ठीमें जो चीज है वह गोल पत्थरसे युक्त है और उसके बीचमें छेद है। वह मोटी बुद्धिवाला छात्र तत्काल कह उठा—"महाराज, आपकी मुट्ठीमें चक्कीका पाट है।" ज्योतिषके हिसाबमें भूल नहीं हुई, परन्तु उसकी मोटी बुद्धिने सब मिट्टी कर दिया। उस अल्पबुद्धि पण्डित मूर्खने यह नहीं सोचा कि मुट्ठीके भीतर चक्कीका पाट कैसे आ सकता है।

(२) शिक्षाका उद्देश्य जब शिक्षार्थीके लिए प्रयोजनीय ज्ञानका लाभ और सब अङ्गोंके उत्कर्षका साधन है, तब शिक्षाप्रणालीके निरूपणके सम्ब-

न्धमें दूसरी बात " प्रयोजनीय और सर्वांगीन उत्कर्ष किसे कहते हैं ? " इस प्रश्नकी आलोचना है। इस प्रश्नका उत्तर क्या है, इसका कुछ आभास ऊपर दे दिया गया है। अब वही उत्तर और भी जरा स्पष्ट करके दिया जाता है।

प्रयोजनीय ज्ञानके विषय दो तरहके हैं। कुछ विषय ऐसे हैं, जिन्हें जानना सभीका कर्तव्य है, और कुछ विषय ऐसे हैं जो शिक्षार्थी जिस व्यवसाय (पेशे) को ग्रहण करना चाहता है उसके ऊपर निर्भर हैं।

पहले प्रकारके विषय ये हैं—शिक्षार्थीकी मातृभाषा और जिन अन्य जातियोंके साथ शिक्षार्थीका आगे चलकर संसर्ग होगा उनकी भाषा, गणित, भूवृत्तान्त, इतिहास, देहतत्त्व, मनोविज्ञान, जड़विज्ञान, रसायनशास्त्र और धर्मनीति। इन सब विषयोंका कुछ कुछ ज्ञान होना सभीके लिए अत्यन्त आवश्यक है। प्रथम विषय अर्थात् अपनी जातिकी मातृभाषा जाननेकी प्रयोजनीयता प्रमाणित करनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। मातृभाषा सीखनेमें किसीको अधिक कष्ट भी नहीं होता। और, कमसे कम एक विजातीय भाषा बिना जाने संसारका काम अच्छी तरह चलाया नहीं जा सकता। मगर हाँ, विजातीय भाषा और साहित्यमें सबके पाण्डित्यका प्रयोजन नहीं है। गणितका भी कुछ ज्ञान होना सबके लिए अति प्रयोजनीय है। कारण, गणितका कुछ ज्ञान हुए विना साधारण हिसाब किताब भी नहीं रक्खा जा सकता, भूमिके क्षेत्रफलका निरूपण नहीं किया जा सकता, साधारण विषयका लाभ या हानि भी समझमें नहीं आ सकती। इस स्थानपर गणितके गम्भीर या सूक्ष्म तत्त्वकी बात नहीं कही जा रही है। भूवृत्तान्त अर्थात् हम जिस पृथ्वीपर वास करते हैं उसका आकार-प्रकार किस तरहका है, उस पृथ्वीपर उपस्थित प्रधान प्रधान देश, नगर, पर्वत, सागर और नदियोंके नाम क्या हैं, और एक स्थानसे अन्य स्थानमें जानेकी राह कैसी है, इन सब विषयोंका कुछ ज्ञान भी सबके लिए आवश्यक है। किन्तु पृथ्वीके सब सूक्ष्म तत्त्व जानना भी सबके लिए आवश्यक है—यह कहना ठीक नहीं। इतिहास, अर्थात् बड़ी बड़ी जातियोंके प्रधान प्रधान कार्य और उन कार्योंके द्वारा वर्तमान अवस्था संघटित होनेमें कहाँतक सहायता पहुँची है, इसका विवरण भी अगर सब लोग जान लें तो अच्छा हो। हाँ, छोटे बड़े

सभी स्थानोंका इतिहास, सब देशोंके राजाओंके नामोंकी सूची, छोटे-बड़े सब युद्धोंकी मिती और तारीख इत्यादि सूक्ष्म विषयोंकी जानकारी हासिल करना अधिकांश लोगोंके लिए अनावश्यक है। देहतत्त्व और मनोविज्ञान अर्थात् हमारी देह और मन स्थूल रूपसे कैसे हैं और मोटे तौरपर उनके कार्य किस नियमसे चलते हैं, इस विषयका कुछ ज्ञान सभीके लिए अत्यन्त प्रयोजनीय है, इस बातको विशेष रूपसे समझानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। जड़विज्ञान और रसायनशास्त्र, अर्थात् जड़जगत्में माध्याकर्षण, ताप, बिजली, प्रकाश और रासायनिक शक्तिकी क्रियाका कुछ ज्ञान रहे बिना संसारके नित्यकर्म नहीं चल सकते। मगर सभी विषयोंके सूक्ष्मतत्त्व जानना अनेक लोगोंके लिए सहज या संभव नहीं है। सबसे बढ़कर धर्मनीति और उसके विषयका कुछ ज्ञान सभीके लिए अत्यन्त आवश्यक है। ईश्वरको माननेवालोंकी तो कोई बात ही नहीं, निरीश्वरवादियोंके सम्बन्धमें भी यह बात समानरूपसे लागू है। कारण, न्यायपरायण होनेकी आवश्यकतामें सबका मत एक है और न्यायपरायण होनेके लिए, चाहे जिस तरह हो, धर्मनीतिकी चर्चाका प्रयोजन है। जो लोग ईश्वरको मानते हैं उनकी दृष्टिमें क्या पारिवारिक नीति, क्या राजनीति, सभी नीतियोंका मूल धर्मनीति अर्थात् विश्वनियन्ताका नियम है। पर जो ईश्वरको नहीं मानते उनकी दृष्टिमें धर्मनीति अर्थात् ईश्वरका नियम सब नीतियोंका मूल नहीं है। वे पारिवारिक धर्म, सामाजिक धर्म, राजधर्म आदिको अपने अपने विषयकी नीतिका मूल मानते हैं। किन्तु सभीको सभी विषयोंमें न्यायमार्गका अनुसरण करना चाहिए। इसीलिए नीतिविषयक कुछ ज्ञान सभीके लिए प्रयोजनीय है।

कोई कोई यह आपत्ति कर सकते हैं कि ऊपर जितने विषयोंका उल्लेख किया गया, उन्हें अच्छी तरह जानना अनेकोंके लिए संभवपर नहीं है, और किसी विषयको अगर अच्छी तरह न जाना, तो उसे न जानना ही अच्छा, और अनेक विषयोंको थोड़ा थोड़ा जाननेकी अपेक्षा थोड़ेसे विषयोंको अच्छी तरह जानना अच्छा है। ऐसी आपत्ति कुछ ठीक है, लेकिन संपूर्ण संगत नहीं है। ऊपर जिन विषयोंका उल्लेख हुआ है उन सबको संपूर्ण रूपसे जानना या अच्छी तरह जानना, साधारण लोगोंकी कौन कहे, असाधारण बुद्धिमान् पुरुषके लिए भी संभव नहीं है। किन्तु यह कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि उन सभी विषयों-

का कुछ कुछ ज्ञान सबके लिए प्रयोजनीय है, और ऊपर जैसा आभास दिया गया है, उन सब विषयोंका उतना उतना साधारण ज्ञान प्राप्त करना सबके लिए साध्य है, इस बारेमें भी अधिक सन्देह करनेका कोई कारण नहीं है। जिस विषयकी जितनी बात जानी जाय उतनी बात अच्छी तरह जान लेनी चाहिए। किन्तु कोई विषय जानने बैठें तो उसके सब अति सूक्ष्म तत्वोंको भी जान लें, और अगर ऐसा न कर सकें तो उन विषयोंका बिल्कुल न जानना ही अच्छा, यह बात अपूर्ण अल्पबुद्धि मनुष्यके लिए संगत नहीं है। यह एक शास्त्रमें अपनेको पण्डित मानकर अभिमान करनेवालेकी बात है। संसारमें पूर्णता कहाँ है? सभी अपूर्ण है। उच्च आकांक्षा अच्छी है, किन्तु जहाँ वह आकांक्षा पूर्ण होनेकी संभावना नहीं है, वहाँ थोड़ेमें सन्तुष्ट न हो कर, अधिक पानेकी संभावना न होनेके कारण, जो कुछ थोड़ा पाया जाय उसे भी, अभिमान करके, न लेंगे कहना बुद्धिमानका कार्य नहीं है। अनेक विषयोंका अल्पज्ञान अर्थात् पल्लवग्राही होनेकी अपेक्षा अल्प विषयका गंभीर ज्ञान अच्छा है। किन्तु यह बात शिक्षाके शेष भागकी है। प्रथम भागमें सभी प्रयोजनीय विषयोंका कुछ कुछ ज्ञान प्राप्त करनेका प्रयत्न कभी निष्फल नहीं हो सकता। अनेक लोग कहते हैं कि जो मनुष्य जिस विषयको जानने-की इच्छा करे उसे शिक्षाकी प्रथम अवस्थासे ही उस विषयको अच्छी तरह जाननेकी चेष्टा करना उचित है, और ऐसा होगा तो अन्यान्य विषय सीखनेके लिए उसे समय ही नहीं मिलेगा। यह बात उतनी संगत नहीं जान पड़ती। पहले तो अनेक विषयोंका कुछ कुछ ज्ञान हुए विना विद्यार्थी प्रथम अवस्थामें ही यह ठीक नहीं कर सकता कि कौन विषय सीखना उसके लिए उपयोगी है। दूसरे, अनेक विषयोंको थोड़ा थोड़ा किन्तु अच्छी तरह अर्थात् विशुद्धरूपसे जाननेकी शिक्षाकी प्रथम अवस्थामें जो समय लगता है वह वृथा नहीं जाता। उस शिक्षामें जो बुद्धिका संचालन और अनेक विषयोंका सामान्य ज्ञानलाभ होता है, उसके द्वारा, बादको जो कोई विशेष शास्त्र सूक्ष्म-रूपसे सीखा जाता है उसके सीखनेमें सुविधाके सिवा असुविधा नहीं होती। उसी तरह पहले सीखे हुए अनेक विषयोंमें कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेनेवाले और उस शिक्षाके द्वारा परिमार्जित बुद्धिवाले विद्यार्थी लोग अन्तको अपनी अपनी अभीष्ट विद्यामें विशेष पारदर्शी होते हैं।

दूसरे प्रकारके प्रयोजनीय ज्ञानके विषयके सम्बन्धमें अधिक बातें कहनेका प्रयोजन नहीं है—दो-एक दृष्टान्त दे देना ही यथेष्ट होगा। जैसे, चिकित्सकके लिए जीवनी शक्तिकी क्रिया समझनेके वास्ते कुछ जीवतत्त्व—और औषध आदि पहचानने और द्रव्य आदिके दोष-गुण समझनेके वास्ते कुछ उद्भिज्ज और खनिज द्रव्योंके विषयका शास्त्र जानना परम आवश्यक है। वकील-बैरिस्टर आदिके लिए आईनकी संगति-असंगति और उसके शासनाधिकारकी सीमाका विचार करनेके लिए कुछ न्याय और राजनीति जानना अत्यन्त आवश्यक है। इत्यादि ।

सर्वाङ्गीन उत्कर्ष क्या है, यह जानना हो तो स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्यके देह, मन और आत्मा है, अर्थात् दैहिक शक्ति, मानसिक शक्ति और आध्यात्मिक शक्ति है। अगर कोई जड़वादी कहे कि मानसिक शक्ति और आध्यात्मिक शक्ति दोनों दैहिक शक्तिसे उत्पन्न और उसीके रूपान्तर हैं, तो उसके इस कथनसे यहाँपर कोई हानि नहीं है। कारण, ये तीनों तरहकी शक्तियाँ मूलमें एक ही हों और चाहे अलग अलग हों, इनके कार्योंकी परस्पर विभिन्नता अवश्य ही स्वीकार करनी होगी। कोई दैहिक शक्ति यथेष्ट धारण करता है,भारी बोझ उठा सकता है, बहुत दूरतक तेजीसे दौड़ सकता है, किन्तु अत्यन्त सरल विषयको भी सहजमें नहीं समझ सकता, और किसी न्यायसंगत कार्यके करनेमें यत्नशील नहीं हो सकता। कोई कोई बुद्धिमान होनेपर भी न्यायपरायण या सबल नहीं हैं। कोई सबल और बुद्धिमान होनेपर भी न्यायपरायण नहीं हैं। अतएव सर्वांगीन उत्कर्ष उसी स्थानपर सुसंपन्न हुआ समझना चाहिए जहाँ देहका बल, मनकी मार्जित बुद्धि और आत्माकी निर्मलता अर्थात् न्यायनिष्ठा है। जिस शिक्षाके द्वारा ये तीनों गुण प्राप्त होते हैं वही यथार्थ शिक्षा है।

(३) शिक्षाप्रणालीकी आलोचनामें पहले शिक्षाका उद्देश्य क्या है, और दूसरे उस उद्देश्यके अनुसार शिक्षामें अत्यन्त आवश्यक विषय क्या क्या हैं, इन दोनों बातोंके सम्बन्धमें कुछ कुछ कहा गया। शिक्षाप्रणालीके संबंधमें इनके सिवा तीसरी बात यह है कि शिक्षाको यथाशक्ति सुखदायिनी बनाना उचित है।

इस सुख-दुःखमय जगत्में सभी जीव सुखलाभ और दुःखनिवारणके लिए निरन्तर यत्न करते देखे जाते हैं—सदा इसीमें लगे रहते हैं, सुतराँ शिक्षा सुखदायिनी हो, इस विषयमें शिक्षार्थी और यथार्थ शिक्षा देनेवाला, दोनों यत्न करें तो कुछ विचित्र नहीं। बल्कि यही आश्चर्यकी बात है कि शिक्षक लोग समय समय पर इस बातको भूलकर समझने लगते हैं कि शिक्षाप्रणालीकी कठोरता बढ़ानेसे ही वह अधिक काम करनेवाली होजायगी। यह बात संपूर्णरूपसे भ्रमपूर्ण है। यह सच है कि कठोरता सहनेकी और सुख-दुःखको समानभावसे देखनेकी क्षमता जो है वह देह, मन और आत्माके चरम या परम उत्कर्षलाभका फल है, और वही उत्कर्षसाधन शिक्षाका उद्देश्य है। और यह भी सच है कि शिक्षार्थीको सुखाभिलाषी होने देना उचित नहीं। किन्तु इसी कारण शिक्षाको सुखकर न बनाकर कठोर बनाना होगा, यह ख्याल ठीक नहीं है। जरा सोचकर देखनेसे ही यह बात समझमें आजाती है। सुखके लिए अधिक लालसा अच्छी नहीं है, यह बात अगर ताड़नाके द्वारा छात्रको सिखाई जाय, तो यद्यपि शिष्य गुरुके भय या अनुरोधसे मुँहसे उसके उपदेशको भला कह कर स्वीकार कर ले, तथापि उसके मनके भीतर सुखकी लालसा बनी ही रहेगी। किन्तु वही बात अगर मधुरशब्दोंमें कारण दिखाकर और हृदयग्राही दृष्टान्तके द्वारा इस तरह समझा दी जाय कि शिक्षार्थी अपने ज्ञानसे समझ सके कि सुखकी अधिक लालसा सुखका कारण न होकर दुःखका ही कारण होती है तो वह लालसा उसके मनसे अवश्य दूर हो जायगी। जहाँ शिष्यके किसी विषयमें प्रवृत्त या निवृत्त होनेका कारण केवल गुरुकी आज्ञा है वहाँ वह प्रवृत्ति या निवृत्ति अन्यके अनुरोधका फलमात्र है, और वह संपूर्ण सुखकर न होकर कुछ कष्टकर हो जाती है। किन्तु यदि शिष्य समझ सके कि यह कार्य मुझे करना चाहिए या न करना चाहिए, और इसी बोधके अनुसार वह उसमें प्रवृत्त या निवृत्त हो तो उसकी वह प्रवृत्ति या निवृत्ति अपनी इच्छासे उत्पन्न होनेके कारण कष्टका कारण नहीं होती। यहाँ मनुका यह अमोघ वाक्य स्मरण रखना चाहिए कि—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥

[मनु ४।१६०।]

अर्थात् जो परवश है वह सब दुःख है, और जो अपने वश है वह सब सुख है । सुखदुःखका यह संक्षिप्त और सर्वव्यापी लक्षण समझना चाहिए ।

प्रथम तो हम लोगोंमें आदेश या विधि-निषेधका कारण विचारनेकी क्षमता रहती नहीं, और बाल्यकालमें गुरुके प्रति दृढ़ भक्ति और स्नेह और अविचलित तथा प्रफुल्ल चित्तसे उनकी आज्ञाका पालन करना शिक्षाका अवश्य कर्तव्य है, और वही शिक्षालाभका अनन्य उपाय है । इसी कारण कहता हूँ कि शिक्षामें कठोरताका रहना उचित नहीं है । कारण, शिक्षामें कठोरता रहनेसे गुरुके प्रति वह गहरी भक्ति और स्नेह और उनकी आज्ञाके पालनमें दृढ अविचलित और प्रफुल्लभाव पैदा ही नहीं हो सकता । शिक्षा जब कोमल भाव धारण करती है तभी शिक्षार्थीके मनमें उस तरहकी गुरुभक्ति और गुरुके उपदेश-आदेशका पालन करनेमें स्वतःप्रवृत्त तत्परता उत्पन्न हो सकती है ।

अगर यही ठीक हुआ कि शिक्षा सर्वथा सुखकर होना उचित है, तो प्रश्न यह उठता है कि किस तरह शिक्षा सुखकर बनाई जा सकती है ? यह प्रश्न बिल्कुल सहज नहीं है । एक तरफ, शिक्षाका उद्देश्य शिक्षार्थीका ज्ञानलाभ और उत्कर्षसाधन है, और वह उद्देश्य सफल बनानेके लिए शिक्षार्थीका श्रम और क्लेश स्वीकार करना और अपनी इच्छाको संयत करके अन्यकी अर्थात् गुरुकी इच्छाके अनुगामी होकर चलना आवश्यक है, अतएव दूसरेकी अधीनतासे उत्पन्न होनेवाला दुःख अनिवार्य है, दूसरी तरफ, शिक्षाको सुखकर बनानेमें शिक्षार्थीको अपनी इच्छाके अनुसार चलने देना आवश्यक है । इन दोनों विपरीत पक्षोंमेंसे किस पक्षकी रक्षा की जायगी ? संसारके अन्यान्य संकटस्थानोंमें यह शिक्षाके विषयका संकट बिल्कुल तुच्छ नहीं है, और इसी कारण इसके सम्बन्धमें इतना मतभेद है । दोनों तरफ दृष्टि रखकर जिसमें गरिष्ठ फलका लाभ हो उस राहमें चलना होगा । असल बात यह है कि ऊपर उद्धृत कियेगये मनुके वाक्यमें जो आत्मवश्यताका उल्लेख है वह हमारी अपूर्णताके कारण दुर्लभ है । जब यह अपूर्णता और उसके साथ साथ अपने-परायेके भेदका ज्ञान चला जायगा और 'सब कुछ ब्रह्ममय है' ऐसी धारणा हो जायगी तभी परवशका बोध और उससे उत्पन्न दुःखका नाश हो जायगा और सब कुछ सुखमय और आनन्दमय जान पड़ेगा किन्तु यह

ऊँचे दर्जेकी बात है, और यद्यपि प्रवीण शिक्षादाताको यह याद रखकर अपनेको उत्साहित करना चाहिए, किन्तु नवीन शिक्षार्थीके लिए यह बोधगम्य विषय नहीं है। उसके लिए दो उपायोंका आश्रय लेना चाहिए। एक तो श्रमकी कमी करना और दूसरे शिक्षाके द्वारा उसके मनमें आनन्द उत्पन्न करना।

उस श्रमलाघव और आनन्द उत्पन्न करनेके लिए जिन सब नियमोंका अनुसरण किया जा सकता है वे दो तरहके हैं। कुछ साधारण हैं और कुछ देश-काल पात्र और विषयके भेदसे परस्पर विभिन्न हैं।

शिक्षार्थीके श्रमलाघवका एक साधारण उपाय है—शिक्षाके विषयोंमें अनावश्यक जटिलताका त्याग। किन्तु इसी लिए आवश्यक जटिल बातको छोड़ देनेसे काम नहीं चल सकता। उस तरह शिक्षार्थीके श्रमको कम करना और जंगी जहाजकी तोपोंको फेककर उसे हलकी और तेज चलनेवाली बनाना बराबर है।

शिक्षार्थीका श्रम कम करनेके लिए आवश्यक है कि समझनेके विषयकी विशदरूपसे व्याख्या की जाय और प्रयोजनके अनुसार व्याख्याकी वस्तु या उसकी प्रतिमूर्ति शिक्षार्थीके सामने उपस्थित की जाय। शिक्षाका विषय अगर कोई कार्य हो तो उस कार्यको सहजमें सम्पन्न करनेकी राह दिखा देनी चाहिए। किसी पाठका अभ्यास सहजमें करनेके लिए, जिससे वह पाठ सहजमें याद रहे इस तरहका इशारा छात्रको बता देना चाहिए।

दो-एक दृष्टान्तोंके द्वारा ये बातें अधिक स्पष्ट हो सकती हैं। समझनेका विषय विशद व्याख्याके द्वारा कितना सहज कर दिया जासकता है यह बात नीचे लिखे दृष्टान्तसे स्पष्ट मालूम हो जायगी।

किसी पात्रमें क-संख्यक भिन्न भिन्न क्षुद्रवस्तु रहने पर, उससे प्रतिवार खसंख्यक वस्तुकी भिन्न रूपसे संगृहीत समष्टि लेनेसे, जितनी जुदी जुदी तरहकी समष्टि होंगी, प्रतिवार (क-ख) संख्यक वस्तु लेने पर भी ठीक उतनी ही जुदी जुदी तरहकी समष्टि होंगी। यह बीजगणितके मिश्रणअध्यायका एक तत्त्व है, और प्रमाणके द्वारा यह साबित किया जासकता है। किन्तु बीजगणित न पढ़ कर भी समझा जासकता है कि जितनी बार ख-संख्यक वस्तु ली जायगी उतनी ही बार (क-ख) संख्यक वस्तु पात्रमें पड़ी

रहेगी । बस, दोनों प्रकारकी भिन्नरूप समष्टिकी संख्या अवश्य ही समान होगी । इस पिछले ढंगसे समझाया जाय तो यह तत्त्व अत्यन्त मोटी बुद्धि-वाले विद्यार्थीकी भी समझमें अनायास आजायगा । दुःखका विषय यह है कि सब बातें इस तरह विशदरूपसे समझाई नहीं जा सकतीं । जो हो, प्र-त्येक विषयकी विशद व्याख्याका अनुसन्धान करना शिक्षकका एक कर्तव्य-कर्म है । इस तरहकी व्याख्याका जितना प्रचार होगा उतनी केवल शिक्षा ही नहीं सहज होगी , बल्कि अनेक विषयोंमें समाजके अनायासलब्ध ज्ञानका परिमाण भी बढ़ जायगा ।

शिक्षाका विषय सहजमें याद रखने और समझनेके इशारेका एक दृष्टान्त दिया जाता है ।

अक्षरके उच्चारणस्थानके निर्णयक सम्बन्धमें संस्कृत व्याकरणमें जो नियम हैं उन्हें समझने और याद रखनेमें बालकोंको बहुत परिश्रम करना पड़ता है । किन्तु कण्ठ, तालु, मूर्द्धा, दन्त, ओष्ठ, ये कई एक स्थान बता कर इन स्थानोंसे जिनका उच्चारण होता है उन अक्षरोंका स्पष्ट उच्चारण करके विद्या-र्थीको सुनानेसे व्याकरणका यह विषय बहुत ही सहजमें उसकी समझमें आ जायगा । इसके साथ साथ अगर उसे यह इशारा बता दिया जाय कि कण्ठ, तालु, मूर्द्धा, दन्त और ओष्ठ, ये पाँचों उच्चारणस्थान जिस तरह क्रमशः शरीरके भीतरसे बाहरकी ओर आते हैं, उन उन स्थानोंसे जिनका उच्चारण होता है वे अक्षर भी (दो-एक अतिक्रमोंको छोड़कर) उसी तरह वर्णमालामें उसी क्रमसे रक्खे गये हैं । जैसे—

कण्ठ	तालु	मूर्द्धा	दन्त	ओष्ठ
अ आ	इ ई	ऋ ॠ	ऌ ॡ	उ ऊ
कवर्ग	चवर्ग	टवर्ग	तवर्ग	पवर्ग
	य	र	ल	व
ह	श	ष	स	

इस तरह अगर बालकको शिक्षा दी जाय तो वह व्याकरणके इस प्रकर-णको बहुत ही सहजमें समझ लेगा और याद रक्खेगा, कभी नहीं भूलेगा ।

शिक्षामें आनन्द उत्पन्न करनेके लिए अनेक स्थानोंमें अनेक पद्धतियोंका सहारा लिया गया है । उसका मूलसूत्र है शिक्षाको खेलका रूप देना । यूरोपमें

यह पद्धति फ्राबेलका किण्डरगार्टन (अर्थात् बालोद्यान) इस नामसे पुकारी जाती है। वहाँ स्कूलकी गिनती बालकोंके क्रीड़ावनमें की जाती है। मोटे तौर पर यह पद्धति बुरी नहीं है। किन्तु वह अब क्रमशः इतने सूक्ष्म नियमोंसे भर गई है कि उसके द्वारा शिक्षा देनेका कार्य सुखकर न होकर कष्टकर ही हो उठता है।

शिक्षाकार्यको सुखकर करनेके लिए पहले तो विद्यार्थीको मारना या डराना धमकाना छोड़कर उसका आदर करना और उसे उत्साह देना उचित है। दूसरे, विद्यार्थीको इसका कुछ आभास देना चाहिए कि शिक्षाके द्वारा उसका उपकार होगा। तीसरे, शिक्षाका विषय, मीठी भाषामें, चित्तरञ्जन करनेवाले उदाहरण और सुन्दर चित्रोंके द्वारा समुज्ज्वल करके, इस तरह वर्णन करना चाहिए कि विद्यार्थीका हृदय उसकी ओर स्वयं ही आकृष्ट हो। चौथे, शिक्षाको एक असाधारण और दुरूह विषय समझकर गंभीर भावसे विद्यार्थीके आगे मत उपस्थित करो। शिक्षा भी आहार-विहारादि सामान्य सहज नित्यकर्मकी तरह और एक सुखदायक काम है, यों समझ कर आनन्दके साथ बालकको पढ़ने-लिखनेके काममें लगाना चाहिए। शिक्षा बड़ा विषय और भक्तिका विषय है, इसमें सन्देह नहीं, और उसे खेलका विषय कह कर छोटा करनेका हमारा उद्देश्य नहीं है। किन्तु स्मरण रहे, भयसे सच्ची भक्ति नहीं होती, प्यार और स्नेहसे ही भक्तिकी उत्पत्ति होती है। पिता-माता देवस्वरूप हैं। किन्तु बालक पहले स्नेहके साथ उनकी गोदमें चढ़ना सीखकर बादको भक्तिभावसे उनके चरणोंमें प्रणाम करनेके योग्य होता है।

(४) शिक्षाप्रणालीकी चौथी बात यह है कि शिक्षार्थीकी शक्तिके अनुसार उसे शिक्षा देनी चाहिए।

पहले तो छात्रके पाठ पढ़नेके समय और शक्तिके ऊपर दृष्टि रखकर पाठका परिणाम निर्दिष्ट करना उचित है। जैसे अतिभोजन शरीरको पुष्ट नहीं करता, वैसे ही अधिक पढ़नेसे मन भी पुष्ट नहीं होता। किन्तु दुःख और आश्चर्यका विषय यह है कि ऐसी एक सहज और मोटी बात भी अक्सर शिक्षक और छात्रोंके अभिभावक लोग भूल जाते हैं। बहुत लोग समझते हैं, जितने अधिक पुस्तकोंके पत्रे उलटे गये उतना ही अधिक पढ़ना लिखना हुआ। यह कोई नहीं सोचता कि जो विद्यार्थीने पढ़ा उसका मर्म भी वह समझा या नहीं, और एक एक नई बातका मर्मग्रहण करनेमें शिक्षार्थीको कितनी बार

मन लगाकर उसकी आलोचना करनेकी आवश्यकता है। फिर जहाँ भिन्न भिन्न विषयोंके जुदे जुदे शिक्षक हैं वहाँ और एक विषम विपत्ति उपस्थित होती है। हरएक शिक्षक महाशय अक्सर केवल अपने पढ़ानेके विषयपर ही दृष्टि रखकर पाठका परिणाम निर्दिष्ट करते हैं, और उससे यद्यपि एक एक विषयका पाठ पढ़ने और याद करनेके लिए यथेष्ट समय रहता है, परन्तु सब विषयोंका अभ्यास करनेके लिए समय नहीं रहता।

दूसरे, शिक्षार्थीकी शक्तिके अनुसार पाठके सब विषय निर्दिष्ट होने चाहिए। सब विषय समझनेकी शक्ति बालकके नहीं रहती। अवस्था बढ़नेके साथ साथ, और शिक्षाके द्वारा क्रमशः बुद्धिका विकास होता है, और बुद्धिके विकासके अनुसार सहजसे शुरू करके क्रमशः दुरूह विषयोंकी शिक्षा देनी चाहिए। शिक्षार्थीकी योग्यताके अनुसार भिन्न भिन्न विषयोंकी शिक्षा देनेके नियमपर प्राचीन भारतमें विशेष दृष्टि रक्खी जाती थी (१)। इसी नियमको अधिकारीके भेदके अनुसार शिक्षाभेदका नियम कहते हैं। जो अधिकारी नहीं है उसके हाथसे पवित्र ब्रह्मज्ञान देनेवाले भगवद्गीता ग्रन्थकी भी ऐसी व्याख्या हो सकती है कि वह एक हिंसाद्वेषप्रणोदित वैरका बदला लेनेमें प्रवृत्त करनेवाला ग्रन्थ प्रमाणित हो जाय।

शिक्षार्थीकी शक्तिसे अधिक विषयकी शिक्षा देना निष्फल है, इसका एक सुन्दर दृष्टान्त प्रसिद्ध शिक्षातत्त्वके ज्ञाता फ्रेंच पण्डित रूसोने अपने एमिली नामक ग्रंथमें दिया है। कोई देहाती शिक्षक एक कमसिन बालकको अलकजंडर (सिकंदर) और उसके हकीम फिलिपकी कहानीमें जो नीतिकी शिक्षा पाई जासकती है उसके बारेमें उपदेश दे रहे थे। वह कहानी संक्षेपमें यह है—"दिग्विजय करनेवाले सिकंदरके एक हकीम थे, उनका नाम फिलिप था। फिलिप राजाको अधिक प्रिय थे, इसी कारण डाहके मारे एक मुसाहबने सिकंदरको इस मजमूनका एक पत्र लिखा कि उनके चिरशत्रु फारिसके बादशाह दाराकी कुमंत्रणासे फिलिप दवाके साथ उन्हें जहर पिला देंगे। सिकंदरने देखसुनकर, सोच-समझकर फिलिपके ऊपर विश्वास स्थापित किया था। एक साधारण आदमीकी बातसे उस विश्वासको विचलित न होने देकर उन्होंने पत्र पानेके दूसरे दिन हँसते हँसते वह पत्र फिलिपके हाथमें दे दिया और

(१) मनु २।११२-११६ देखो।

फिलिपकी दी हुई दवाको रत्ती भर संदेह किये बिना एक साँसमें पी लिया। सिकंदरने इसके द्वारा अपने मनकी असीम दृढ़ता और साहसका परिचय दिया। " देहाती शिक्षक जब यह कहानी कहकर उपदेश दे चुके, तब रूसोने उनके उपदेशकी सफलताके संबंधमें सन्देह प्रकट किया। शिक्षकने रूसोसे परीक्षा करनेके लिए अनुरोध किया। रूसोने बालकसे पूछा कि उस कहानीमें किस तरह सिकंदरकी दृढ़ता और साहसका परिचय पाया गया? बालकने जवाब दिया—कटोरा भर दवाको बिना हिचकिचाहटके पी लेनेसे। तब शिक्षक महाशय समझ गये कि उन्होंने अच्छी तरह समझाया, लेकिन बालककी बुद्धिकी दौड़ जहाँतक थी वहींतक वह समझा।

(५) शिक्षाप्रणालीके सम्बन्धमें पाँचवीं बात यह है कि जो सिखाया जाय वह अच्छी तरह सिखाया जाना चाहिए।

जो सिखाया जाय वह अगर अच्छीतरह नहीं सिखाया जायगा तो उससे कोई फल नहीं होगा। जो विषय सिखाया जाय उसे शिक्षार्थीकी शक्तिके अनुसार संपूर्णरूपसे समझा देना शिक्षकका आवश्यक कर्तव्य है। अगर किसी कारणसे कोई विषय समझानेको बाकी रह जाय, तो यह बात शिक्षार्थीसे कह देना उचित है। कोई विषय अच्छी तरह नहीं सिखानेसे कैसा दोष आपड़ता है, सो नीचेके दृष्टान्तों से स्पष्ट समझमें आजायगा।

एकबार किसी मेरे आत्मीय पुरुषने अपने दस या ग्यारह वर्षके पुत्रकी परीक्षा लेनेके लिए कि वह कैसा पढ़ता-लिखता है, मुझसे कहा। उस बालकको उस समय एक भूगोल पढ़ते देखकर मैंने उससे पूछा—सूर्य पृथ्वीसे कितनी दूर है? उसने उसी दम उत्तर दिया—नव करोड़ पचास लाख मील। इसके बाद मैंने पूछा—तुम इस समय पृथ्वीसे कितनी दूर हो? इस प्रश्नका उत्तर वह शीघ्र नहीं दे सका। वह बालक एकदम निर्बोध नहीं था। किन्तु दूर और निकट किसे कहते हैं, और पृथ्वी कहाँ है, ये सब बातें उसे अच्छी तरह सिखाई नहीं गई थीं।

और एक बार कई छात्रोंसे मैंने पूछा—" किसी संख्याका ४ से भाग दिया जासकता है या नहीं, यह देखते ही कैसे जाना जा सकता है? " अनेक बालकोंने उत्तर दिया—" अगर उसके दहिनेओरकी पिछली दो संख्याओंका ४ से भाग किया जा सकता हो। " मगर यह उत्तर ठीक नहीं हुआ।

१२५६ इस संख्याका ४ से भाग दिया जा सकता है, किन्तु पिछली दोनों संख्या (५ और ६) ऐसी हैं कि उनका ४ से भाग नहीं दिया जा सकता है। उत्तरमें " पिछली दो संख्याओं " की जगह " पिछले दो अंकोंसे जो संख्या हो उसका" यह कहना चाहिए था।

(६) शिक्षाप्रणालीके सम्बन्धमें छठी बात यह है कि सभी कार्योंको यथानियम और यथासमय कर डालनेका अभ्यास होना आवश्यक है।

पहले ही कहा जा चुका है कि मनुष्यका केवल ज्ञानी हो जाना ही यथेष्ट नहीं है, इस कार्यक्षेत्रमें काम करनेवाला होना भी आवश्यक है। कर्मठ होनेके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि सब कामोंको यथानियम और यथासमय कर डालनेका अभ्यास हो। बहुत लोग समझते हैं, क्या कार्य हमें करना चाहिए और किस तरह वह कर्तव्य कार्य संपन्न होगा, इन दो बातोंका ज्ञान हो जाना ही यथेष्ट है। किन्तु यह बात ठीक नहीं। उक्त दोनों विषयोंका ज्ञान आवश्यक है, किन्तु यथेष्ट नहीं है। इस ज्ञानके साथ साथ कार्य करनेका अभ्यास होना अत्यन्त आवश्यक है। अभ्यास न रहनेसे साधारण काम भी सहजमें नहीं किया जा सकता। इस बारेमें पूर्वोक्त साधारण उदाहरण सबको याद रखना चाहिए। सरल रेखा किसे कहते हैं, यह हम जानते हैं, और किस तरह वह खींची जाती है, यह भी जानते हैं। लेकिन एक हाथ लंबी एक सीधी रेखाको, अगर खूब अभ्यास न हो, तो यन्त्रकी सहायताके बिना शायद कोई नहीं खींच सकता।

यथासमय यथानियम काम करनेका अभ्यास इस जीवनयात्राका महामूल्य संबल है। उसे प्राप्त करनेके लिए सभीको यत्न करना चाहिए। इस अभ्यासकी शिक्षा पहले कुछ कष्टकर होती है, और कुछ दिनोंतक शिक्षार्थी और शिक्षक दोनोंको सर्वदा सतर्क रहना होता है। किन्तु मंगलमयी प्रकृतिका ऐसा ही नियम है कि एक बार अभ्यास हो जाने पर फिर किसीको कुछ कहना नहीं पड़ता, आपहीसे शिक्षार्थी यथानियम अभ्यस्त कार्य करता है, उससे वह काम बिना किये रहा नहीं जाता।

(७) शिक्षाप्रणालीकी सातवीं बात यह है कि भ्रम हो जाने पर उसी घड़ी उसका संशोधन आवश्यक है।

यह नियम इससे पहले कहे गये नियमका एक प्रकारसे अनुसरण है। जिसका अभ्यास किया जाता है वह क्रमशः सहज हो आता है और उसे छोड़ देना कठिन हो जाता है। भ्रम एक बार हो जानेसे उसी घड़ी उसका संशोधन बहुत ही सहज होता है, लेकिन वारंवार वह भ्रम होते रहनेसे उसका अभ्यास हो जाता है और उसका संशोधन फिर उतना सहज नहीं होता।

यह नियम केवल मानसिक शिक्षासे ही संबंध नहीं रखता, शारीरिक और नैतिक शिक्षामें भी यह अत्यन्त प्रयोजनीय नियम है।

बहुत लोग समझते हैं कि साधारण भ्रम या सामान्य दोषके ऊपर दृष्टि रखनेका प्रयोजन नहीं है, केवल भारी भ्रम या गुरुतर दोषका संशोधन ही अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा समझना बड़ी भूल है। सामान्य भ्रम और साधारण दोषके संशोधनसे निवृत्त रहनेमें, अर्थात् उसकी उपेक्षा करनेमें, गुरुतर भ्रम और दोष सहज ही हो जाते हैं, और उनका संशोधन कष्टसाध्य हो उठता है।

(८) शिक्षाप्रणालीके सम्बन्धमें आठवीं बात यह है कि शिक्षा[illegible] आत्मसंयम आवश्यक है। क्योंकि प्रवृत्तिको संयत न कर पानेसे, [illegible]ा पालन तो दूर रहे, शिक्षालाभके लिए जो समय देना होता है[illegible] स्वीकार करना होता है, शिक्षार्थी वह समय नहीं दे सकेगा औ[illegible] स्वीकार कर सकेगा। पाठाभ्यासके समय अन्य प्रवृत्तियाँ उस[illegible] ओर ले जायँगी।

कोई पाठक यह आशंका न करें कि पूर्वोक्त इस नियमसे कि शिक्षा सु[illegible] कर होना उचित है, इस बातका विरोध है। सच है कि शिक्षाको सुखकर बनावें तो शिक्षार्थीकी इच्छाके विरुद्ध काम करनेसे काम नहीं चलेगा। किन्तु आत्मसंयम जिसे कहते हैं वह अपनी इच्छाके विरुद्ध कार्य नहीं है। बल्कि कर्तव्यपालनके लिए कभी जिसमें अपनी इच्छाके विरुद्ध न जाना पड़े, असत् इच्छा और प्रवृत्तिका दमन कष्टकर न हो, उस अवस्थाकी प्राप्ति ही संयम-शिक्षाका उद्देश्य है। न समझ कर पराई इच्छा और आज्ञाके अनुसार काम करना आत्मसंयम नहीं है; समझ कर अपनी इच्छासे अपनी प्रवृत्तिको दबानेका नाम आत्मसंयम है।

कोई कोई समझ सकते हैं कि आत्मसंयम जो है वह डरपोक और आलसीका काम है। मगर यह बात भ्रमसे भरी है। क्रोध, लोभ आदि मानसिक वृत्तियोंकी उत्तेजनासे काम करना मानसिक बलहीन मनुष्यके लिए स्वभावसिद्ध है। प्रवृत्तिका दमन करना ही यथार्थ मानसिक बलका कार्य है।

(९) शिक्षाप्रणालीके सम्बन्धमें और एक बात यह है कि शिक्षा पहली अवस्थामें वाचनिक (जबानी) और शिक्षार्थीकी मातृभाषामें होनी चाहिए।

शिक्षार्थी जबतक पढ़ना न सीखे और अन्य भाषा न जाने, तबतक उसकी शिक्षा अवश्य ही वाचनिक और उसकी मातृभाषामें हो। कोई कोई कहते हैं, इस तरह कुछ दिन शिक्षाका काम चलना अच्छा है। और कोई कोई कहते हैं, छात्रको शीघ्र पढ़ना और अन्य भाषा सिखाकर पुस्तककी और आवश्यकताके अनुसार अन्य भाषाकी सहायतासे शिक्षा दी जाय, तो थोड़े दिनोंमें अधिक शिक्षा प्राप्त की जा सकती है।

भाषाकी सहायताके बिना शिक्षाका काम चल नहीं सकता। भाषा भी एक शिक्षाका विषय है। और, पुस्तक पढ़नेके सिवा अनेक देशों और अनेक समयमें होनेवाले बुद्धिमानों विद्वानोंकी की हुई तत्त्वोंकी आलोचना हमारे ज्ञानगोचर नहीं हो सकती। अतएव भाषा शिक्षा और पुस्तक पाठ करनेकी शिक्षा ज्ञानलाभका प्रधान उपाय है। किन्तु कोई यह न समझ ले कि भाषा सीखना या पुस्तक पढ़ना सीखना ही शिक्षाका उद्देश्य है। शिक्षाका उद्देश्य, पहले ही कह दिया गया है कि, जगत्में अनेक वस्तुओं और विषयोंके ज्ञानका लाभ और शिक्षार्थीका अपना उत्कर्षसाधन है। भाषा सीखना और पुस्तक पढ़ना सीखना उसका उपायमात्र है। मगर ये दोनों उपाय शिक्षार्थीकी शक्तिके अनुसार जितनी जल्दी काममें लाये जा सकें उतना ही अच्छा है

मातृभाषाकी जबानी शिक्षासे शिक्षार्थीकी शब्दोंकी पूँजी और वस्तुविषयक ज्ञानकी पूँजी जब कुछ जमा हो जाय, तब उसके जाने हुए शब्दों और विषयोंवाली पुस्तकें पढ़नेकी और पुस्तकोंकी बातें तथा अन्य जानी हुई बातें लिखनेकी शिक्षा देना उचित है।

उच्चारण किये गये शब्दके भिन्न भिन्न वर्णोंका विश्लेषण, उन वर्णोंको चिह्नोंसे अंकित करना, और उन अंकित चिह्नों या अक्षरोंको मिलाकर फिर

शब्दका उच्चारण करना हमें अभ्यस्त होनेके कारण उसे हम जितना सहज समझते हैं, बच्चेके लिए वह उतना सहज नहीं होता। बच्चोंको शिक्षा देनेके समय यह बात याद रखकर शिक्षा देनी चाहिए। अगर ऐसा हो तो बच्चोंको ताड़ना न देकर उनकी उत्सुकता और कौतूहल बढ़ाकर शिक्षा सुखकर बनाई जा सकती है।

लिखनेकी शिक्षाके साथ साथ कुछ रेखागणित सिखाया जाय तो अच्छा हो।

यह बात सुनकर किसी शिक्षकके मनमें चिन्ता या शिक्षार्थीके मनमें भय न उत्पन्न होना चाहिए। उस चिन्ता और भयको मिटानेके लिए ही मैंने यह बात कही है। रेखागणित जो है वह जटिल रूप धारण करके सहसा उपस्थित होता है, इसी कारण उसका आना चिन्ता और भयका कारण होता है। किन्तु जो वह अपनी सरल मूर्तिसे क्रमशः हमारे साथ परिचित हो तो वह भाव नहीं होता। लिखनेकी शिक्षाके समय यदि सीधी रेखा, टेढ़ी रेखा, गोल रेखा, लंबी रेखा, समान्तर रेखा, कोण-समकोण ये कई विषय बिना आडम्बरके अंकित करके बच्चोंको दिखा दिये जायँ, तो वे अच्छी प्रणालीसे लिखनेके नियम और रेखागणितके कुछ स्थूल नियम एक साथ सहजमें सीख सकते हैं।

(१०) भाषा और रचमाप्रणालीके सम्बन्धमें कई एक खास बातें हैं, उन्हें इस जगह पर एक बार कह देना उचित है।

प्राचीन अप्रचलित भाषाएँ सीखनेके लिए सरल काव्य और कुछ व्याकरण पढ़ना ही प्रशस्त उपाय है। वर्तमानमें प्रचलित भाषा सीखनेके लिए उक्त उपायके साथ साथ उसी भाषामें बातचीत करते रहना चाहिए।

कोई कोई कहते हैं, बच्चा जिस ढंगसे मातृभाषा सीखता है, उसी ढंगसे अर्थात् बातचीतके द्वारा अन्य भाषाकी शिक्षा देना ही भाषा सीखनेका मुख्य उपाय है, और व्याकरण और कोषकी सहायतासे काव्य पढ़ कर भाषा सीखना भाषाशिक्षाका गौण उपाय है। किन्तु जरा सोचकर देखनेसे समझमें आ जायगा कि यह बात बिल्कुल ठीक नहीं है।

मातृभाषा सीखनेकी जगह स्वयं प्रकृति शिक्षक हो, शिशुका अत्यन्त प्रयोजन शिक्षाके लिए उत्तेजना देनेवाला हो, और विषयकी नवीनता यर

उससे उत्पन्न आनन्द शिक्षाके सहकारी हों। यह शिक्षा सुखकर अवश्य है, लेकिन सहज या अनायासलब्ध नहीं स्वीकार की जा सकती। कोई एक नई बात सुनकर उसे सीखनेके लिए बच्चे लगातार उसे रटते हैं; कभी शुद्ध उच्चारण करते हैं; कभी अशुद्ध उच्चारण करते हैं; कभी भूल जाते हैं तो फिर सुन लेते हैं; स्वयं प्रयोग करनेमें कितनी असंलग्नता दिखाते हैं और उसके लिए " अमृतं बालभाषितं " कह कर लोग उनका बहुत आदर और प्यार करते हैं। बच्चे कितनी ही बार खुद प्रयोग करते हैं, और कितनी ही बार दूसरेके किये प्रयोगको सुनते हैं। इस तरह बहुत कुछ अभ्यासके बाद वे ठीक तौरसे वह बात सीखते हैं। किसी कठोर शिक्षकने अगर अनुचित ताड़ना की, अथवा अविवेक और शुभाकांक्षी अभिभावकने समय बचानेके लिए वृथा यत्न किया तो उससे इस शिक्षामें कोई रुकावट नहीं पड़ती। अन्य भाषा सीखनेके समय इन सब बाधाओंको दूर कर देना चाहिए, और ऐसा हो भी सकता है। किन्तु ऊपर कहे गये सब सुयोग पाना असंभव है। इन सुयोगोंको कुछ कुछ पानेका एक मात्र उपाय यही है कि जो भाषा सिखानी हो उस भाषामें बोलनेवालोंमें शिक्षार्थी रक्खा जाय। जहाँ इस उपायका अवलम्बन असंभव है, वहाँ शिक्षार्थीको सिखानेकी भाषाके लिखने-पढ़ने और बोलनेका अभ्यास कराना ही श्रेष्ठ उपाय है।

किसी किसीके मतमें यद्यपि काव्य पढ़ना भाषाशिक्षाका उपाय हो सकता है, लेकिन प्रथम अवस्थामें व्याकरण पढ़ना निष्प्रयोजन और कष्टकर है। वर्त्तमानमें प्रचलित जिन भाषाओंका व्याकरण अतिसहज है, शब्दरूप और धातुरूप स्वल्प और सरल हैं (जैसे अँगरेजी भाषा), उन्हें सीखनेमें, प्रथम अवस्थामें, व्याकरण पढ़ना अनावश्यक भी हो सकता है। लेकिन जिन प्राचीन अप्रचलित भाषाओंके व्याकरण सहज नहीं हैं, जिनमें शब्दरूप और धातुरूप अतिविस्तृत और एक जटिल व्यापार हैं (जैसे संस्कृत भाषा), उन्हें सीखनेमें कुछ व्याकरण पढ़ना अर्थात् कमसे कम अधिक व्यवहृत शब्दों और धातुओंके रूप कंठ करना, श्रमसाध्य होने पर भी अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि उनके सीखनेका यही एक मात्र उपाय है। जरा सोचकर देखनेहीसे समझमें आजायगा कि व्याकरण पढ़ना निकाल देनेसे असलमें वह श्रम कुछ कम नहीं होता। पहले देखनेमें श्रम कुछ कम हुआ जान पड़ सकता है, किन्तु

अन्तको परिणाममें देखा जायगा कि व्याकरण न पढ़ाकर केवल काव्यपाठके द्वारा भाषा सिखानेमें सब मिलाकर अधिक समय और श्रम लगता है।

तत्त्वनिर्णय या ज्ञानके प्रचारार्थ ग्रन्थ लिखना, लोगोंके मनोरञ्जन या लोगोंको इच्छानुसार चलानेके लिए वक्तृता करना, अथवा रोजमर्राके साधारण काम करना इत्यादि सभी तरहके कामोंके लिए रचनाशिक्षा अर्थात् अच्छे ढंगसे संक्षेपमें सरल भाषामें मनके भाव प्रकट करनेके लिए भाषाके प्रयोगकी शिक्षा अत्यन्त प्रयोजनीय है। रचनाप्रणाली संक्षेपमें दो तरहकी होती है–वैज्ञानिक और साहित्यिक। वैज्ञानिक प्रणालीमें, वर्णित विषयको भिन्न भिन्न भागोंमें बाँटकर प्रत्येक भागकी यथानियम क्रमशः व्याख्या की जाती है। साहित्यिक प्रणालीमें, वर्णित विषयकी कुछ चुनी हुई बातें, नियमका बन्धन न रखकर जिसके बाद जो कहनेसे सुविधा हो उस तरह, ऐसे कौशलके साथ, कही जाती हैं कि उनसे पाठक न कही हुई सब बातोंको भी, कमसे कम वर्णन किये गये विषयमें जो कुछ जाननेके योग्य है, उसे भी एक तरहसे समझ ले सकते हैं।

एक दृष्टान्तके द्वारा इन दोनों प्रणालियोंका भेद स्पष्ट समझमें आ जायगा। मान लीजिए किसी एक छोटे जिलेका ब्यौरा लिखना किसी रचनाका उद्देश्य है। वैज्ञानिक प्रणालीसे लिखे तो उस देशका आकार, आयतन, ऊसर, नदी, पहाड़, वन, उपवन, गाँव, नगर, उद्भिद्, जीवजन्तु, शिल्प, वाणिज्य, शिक्षा, शासनप्रथा इत्यादिका ब्यौरा क्रमशः लिखना पड़ेगा। उसीको साहित्यिक प्रणालीसे लिखें तो उक्त विषयोंमेंसे कुछ प्रधान प्रधान बातें ऐसे कौशलसे वर्णन की जायँगी कि उसके द्वारा सारे प्रदेशका एक चित्र पाठकोंके मनमें अङ्कित हो सके। वैज्ञानिक प्रणालीका लेखक पाठकको साथ लेकर वर्णित प्रदेशके सब भागोंमें घूमता है। साहित्यिक प्रणालीका लेखक पाठकको लेकर किसी निकटस्थ ऊँचे पहाड़की चोटीपर चढ़ जाता है और उँगली उठाकर वर्णित प्रदेशको एक साथ पाठकके सामने उपस्थित कर देता है। इस पिछली प्रणालीका आश्रय सुखकर है, किन्तु सबके लिए साध्य नहीं है। पहले कही गई प्रणाली कष्टकर होने पर भी सबके लिए साध्य है। पाठकको साथ लेकर सारे प्रदेशमें घूमना कष्टकर होने पर भी सबके लिए साध्य है, किन्तु ऊँचे पहाड़की चोटी पर चढ़ना, सो भी अकेले नहीं, पाठकको लेकर, विशेष शक्तिकी अपेक्षा रखता है। वह शक्ति जिसके नहीं है, उसके लिए उस ऊँचे

स्थान पर चढ़नेकी आशा दुराशामात्र है। रचना सीखते-सिखाते समय यह बात याद रखनी चाहिए।

(११) शिक्षाप्रणालीकी जिन कई एक बातोंको कहनेकी इच्छा थी उनमें ग्यारहवीं और अंतिम बात जातीयशिक्षाके सम्बन्धकी है।

बहुत लोग कहते हैं, जातीय भाषामें जातीय साहित्य-दर्शनके उच्चआदर्शके अनुसार शिक्षा देनी चाहिए। फिर कोई कहते हैं, शिक्षामें जातीय भाव लाना विधिविरुद्ध है। शिक्षा सार्वभौमिक भावसे चलनी चाहिए। ऐसा नहीं होता तो शिक्षार्थीके मनमें उदारताके बदले तंगदिली अपना डेरा जमा लेती है। ये दोनों ही बातें कुछ कुछ सच हैं, लेकिन संपूर्ण सत्य कोई नहीं।

जहाँतक हो सके, शिक्षार्थीकी जातीय भाषामें शिक्षा दी जाय। यह किया जायगा तो शिक्षाके विषय थोड़ी ही मेहनतमें संपूर्णरूपसे शिक्षार्थीकी समझमें आजायँगे। उस विद्यार्थीको विजातीय भाषा सीखेनका श्रम और समझनेकी असुविधा नहीं भोगनी पड़ती, और जातीय साहित्य-दर्शनके उच्च अदर्शके अनुसार शिक्षा भी उसी तरह सहजमें फलप्रद होती है। कारण, पूर्वसंस्कारवश शिक्षार्थीका चरित्र और मन कुछ परिमाणमें उसी आदर्शके अनुसार गठित होता है। बस, उसके अनुसार शिक्षा देनेमें उसे फिर तोड़ फोड़ कर गढ़ना नहीं पड़ता। किन्तु केवल इसीलिए विजातीय भाषा सीखनेकी अवहेला और विजातीय साहित्यदर्शनके उच्च आदर्शपर अनास्था, कभी युक्तिसंगत नहीं हो सकती। विजातीय भाषामें भी ऐसी अनेक ज्ञानगर्भ बातें रह सकती हैं जो छात्रकी जातीय भाषामें न होंगी। और, यह न होने पर भी, वह भाषा हमारी ही तरहके एक जातिके मनुष्योंकी भाषा है, और उसके द्वारा हमारी ही तरहके एक जातिके मनुष्य अपने सुख दुःख आदि मनके भाव और सरल और जटिल ज्ञानकी बातें, प्रकट करते हैं—इसी लिए विजातीय भाषा मनुष्यके अनादर या उपेक्षाकी चीज नहीं है। और विजातीय उच्च आदर्श अगर स्वजातीय उच्च आदर्शके अनुरूप हो तब तो अवश्य ही आदरणीय है, और अगर वैसा न हो तो भी आदरणीय और यथासंभव अनुकरणीय है। विजातीय उच्च आदर्श और सद्गुणका अनादर वृथा और भ्रान्त जातीय अभिमानका कार्य है। यहाँ पर यह प्रसिद्ध मनु भगवान्‌का वाक्य याद रखना चाहिए—

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥ [२।२३८]

अर्थात् श्रद्धालु आदमी निकृष्टसे भी शुभ विद्या और परमधर्म ग्रहण कर ले, और वैसे ही स्त्रीरत्नको भी नीचकुलसे ले लेना चाहिए।

शिक्षा सार्वभौमिक और उदार भावकी होनी चाहिए, इसमें कुछ संशय नहीं। किन्तु यह नियम शिक्षाकी ऊँची तहका नियम है; इसका प्रयोग निचली तहमें न करना चाहिए। शिक्षार्थी जो है वह निःसंग और निर्लिप्त भावसे संसारमें नहीं आता, और न रहता ही है। नियमित शिक्षाका आरंभ होनेके पहले ही प्रकृति उसको जातीय भाषा सिखा देती है, कुछ जातीय संस्कारोंमें दीक्षित कर देती है, और उसके हृदयमें कुछ जातीय भावोंका विकास कर देती है। उन संस्कारों और भावोंके उत्कृष्ट भागोंको बद्धमूल करने और बढ़ानेकी गरजसे प्रथम अवस्थामें उसी जातीय भाषाकी सहायतासे शिक्षाका काम चलाया जाता है तो उस शिक्षासे शीघ्र सुफल प्राप्त होता है। और, अगर वह न करके उन सब संस्कारों और भावोंको शिक्षार्थीके मनसे पोछ डालकर नवीन आदर्शके अनुसार उसे शिक्षा देनेकी चेष्टा की जाती है तो उससे शिक्षाका फल शीघ्र नहीं मिलता और परिणाममें सुफल फलनेकी संभावना भी अधिक नहीं रहती। शिक्षाकी ऊँची तहमें, शिक्षार्थीको विजातीय भाषामें शिक्षित और विजातीय उच्च आदर्शके यथासंभव अनुकरणमें प्रवृत्त करना उचित है।

जातीय भाव और स्वदेशानुराग उच्च सद्गुण हैं और उनके द्वारा पृथिवीका बहुत कुछ हित हुआ है। किन्तु जातीय भाव और स्वदेशानुरागका अन्य जाति और अन्य देशके प्रति विद्वेषके भावमें परिणत होना कभी उचित नहीं है। सच है कि प्राचीन ग्रीसमें जातीय भाव और स्वदेशानुरागने यही भाव धारण कर लिया था और ग्रीसकी प्रतिभाके बलसे पाश्चात्य साहित्य कुछ कुछ इसी भावसे रचा गया है। किन्तु प्राचीन ग्रीसके उस समयको पाश्चात्य जातियोंका बाल्यकाल अगर कहें तो कह सकते हैं। और बाल्यकालका झगड़ालू स्वभाव और परस्पर विद्वेषभाव प्रौढ़ अवस्थामें नहीं शोभा पाता।

(३) शिक्षाके सामान। अब शिक्षाके सामानोंके बारेमें कुछ कहना आवश्यक है।

शिक्षाके सामान कई तरहके हैं, जैसे (१) शिक्षक, (२) स्कूल, (३) कालेज, (४) पुस्तक, (५) पुस्तकालय, (६) यन्त्र और यन्त्रालय, और (७) परीक्षा ।

इन सातोंमेंसे हरएकके सम्बन्धमें दो-चार बातें कही जायँगी ।

(१) **शिक्षक** ही शिक्षाका प्रथम और प्रधान उपकरण है । मैं आशा करता हूँ, शिक्षाका सामान कहनेसे शिक्षकोंकी मर्यादाकी कोई हानि न होगी ।

उपयुक्त शिक्षकके कुछ विशेष लक्षण रहना आवश्यक है। शारीरिक गुणोंमें स्पष्ट और उच्च स्वर, सूक्ष्म दृष्टि और तीव्र श्रवणशक्तिका प्रयोजन है । बहुतसे छात्रोंको एक जगह एक साथ शिक्षा देनेके लिए इन गुणोंका होना बहुत जरूरी है—इनके बिना काम नहीं चल सकता । मानसिक और आध्यात्मिक गुणोंमें पहले तो धीर बुद्धिका प्रयोजन है । बुद्धि सूक्ष्म होकर भी अगर चञ्चल हुई तो शिक्षाका कार्य अच्छी तरह सम्पन्न नहीं होता । एक ही समय अनेक विद्यार्थियोंको समझाना होगा, अनेक लड़कोंके संशय दूर करने होंगे । अत-एव शिक्षकको अपनी बुद्धि धीर स्थिर रखनेकी आवश्यकता है ।

दूसरे शिक्षकके लिए इसकी बड़ी जरूरत है कि उसने अनेक शास्त्र देखे हों और वह किसी एक शास्त्रमें पूरा पण्डित हो । अनेक शास्त्र देखनेका प्रयोजन यह है कि सब शास्त्रोंका परस्पर सम्बन्ध है और एक शास्त्रकी बातका उदाहरण अन्यान्य शास्त्रोंमें दिया रहता है। इस कारण अनेक शास्त्र देखे हुए रहने पर शिक्षक जिस शास्त्रका पण्डित है उसकी विशद व्याख्यामें विशेष निपुणता दिखा सकता है । किसी एक शास्त्रमें प्रगाढ पण्डित्यकी आवश्यकता यह है कि उसके रहे बिना यह नहीं जाना सकता कि प्रगाढ़ पाण्डित्य क्या है, और उसे जाने बिना उसके ऊपर अपना वैसा अनुराग नहीं उत्पन्न होता, और शिक्षार्थीके मनमें भी उसके प्रति अनुराग उत्पन्न करना संभव नहीं है । और एक कारणसे भी प्रगाढ़ पाण्डित्यकी आवश्यकता है । यद्यपि पहलेके बुद्धि-मानों और विद्वानोंका उपार्जित ज्ञान, जिसे हमने उत्तराधिकारसूत्रसे पाया है, बहुत अधिक है, किन्तु ज्ञानका अन्त नहीं है, अतएव नये नये तत्त्वोंका आविष्कार करके ज्ञानकी सीमा फैलाना या बढ़ाना शिक्षकका एक प्रधान कर्तव्य है, और किसी खास शास्त्रमें प्रगाढ़ पाण्डित्य हुए बिना उस शास्त्रके

नये तत्त्वोंके आविष्कारकी शक्ति नहीं प्राप्त होती। उच्च श्रेणीके शिक्षकोंमें इस शक्तिके रहनेकी आवश्यकता है, और जिसमें उच्च श्रेणीके छात्रोंमें यह शक्ति पैदा हो वैसी ही शिक्षा देना उनका कर्त्तव्य है।

यह कहनेकी जरूरत नहीं कि शिक्षकमात्रके लिए शिक्षाशास्त्रमें अभिज्ञताका अत्यन्त प्रयोजन है। शिक्षाविषयक प्रधान प्रधान ग्रन्थ या ग्रन्थोंके अंश (जैसे मनु, प्लेटो, रूसो, लक, स्पेन्सर, बेन इत्यादिके लिखे या रचे हुए ग्रन्थ) पढ़ना उनके लिए आवश्यक है।

सहिष्णुता और पवित्रता ये दोनों शिक्षकके प्रयोजनीय सद्गुण हैं। इनके न रहने पर शिक्षक जो है वह अपने चित्तको स्थिर और शिक्षार्थीके चित्तको श्रद्धायुक्त और अपनी ओर आकृष्ट नही रख सकता।

शिक्षाकार्य और शिक्षार्थीके ऊपर अनुराग रहना भी शिक्षकके लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह अनुराग अगर नहीं हुआ तो निर्जीव कलकी तरह शिक्षाका काम चलेगा, शिक्षक जो है वह सजीव आग्रहके साथ शिक्षार्थीके अन्तःकरणमें नवजीवनका सञ्चार नहीं कर सकेगा। इसी अनुरागके कारण अनेक प्रसिद्ध शिक्षक लोग छात्रकी तरह नित्य पाठाभ्यास करके पढ़ानेके कार्यमें लगे रहते हैं, और इस तरह किस बातके बाद क्या बात कहनेसे अच्छा होगा यह पहलेहीसे ठीक कर आनेके कारण ही वे थोड़े समयमें अधिक बातें सिखा सकते हैं।

शिक्षकको छात्रके मनमें भक्तिका उद्रेक करना चाहिए; भय पैदा करना विधिविरुद्ध, और अनिष्टकर है। प्रसिद्ध शिक्षातत्त्वके ज्ञाता लकने (१) यथार्थ ही कहा है कि "हवासे हिल रहे पत्ते पर स्पष्ट लिखनेकी चेष्टा और भयसे काँप रहे छात्रके मनमें स्थायी उपदेश अंकित करनेकी चेष्टा दोनों समान हैं।"

छात्रके साथ सहानुभूति शिक्षकके लिए अत्यन्त आवश्यक है। सहानुभूति होनेसे छात्रके अभाव और अपूर्णताको शिक्षक समझ सकता है और खिझलाए बिना उस अभाव और अपूर्णताकी पूर्ति करनेमें भी समर्थ होता है। शिक्षकको अगर अपने विद्यार्थीसे सहानुभूति है तो उसका फल यह होता है

---

(१) Some Thoughts on Education देखो।

कि विद्यार्थीके मनमें भक्ति उत्पन्न होती है, वह शिक्षककी ओर आकृष्ट होकर उसके उपदेशको ग्रहण करनेमें अधिक आग्रह दिखाता है। लेकिन वह सहानुभूति न होने पर, एक ओर तो यह होता है कि शिक्षक जो है वह छात्रकी कमीको पूरा करनेका यथायोग्य यत्न नहीं करता, और दूसरी ओर यह होता है उस यत्नके न होनेके कारण विद्यार्थी भी शिक्षकका उपदेश ग्रहण करनेमें वैसी तत्परता नहीं दिखाता। और एक बात भी याद रखनी चाहिए। शिक्षक अगर विद्यार्थीको जातिमें हीन या मंदबुद्धि समझता है, तो दुरूह शिक्षाके कार्यमें जिस दृढ यत्न की जरूरत है, उसका प्रयोग करनेमें उसे अधिक उत्तेजना नहीं रहती। क्योंकि वह सोचता है, उसके शिक्षा-कार्यकी निष्फलताका कारण उसकी अपनी अयोग्यता नहीं बल्कि विद्यार्थीकी अयोग्यता है।

उपदेश देने और लेनेवाले दोनोंके बीच सहानुभूतिके बारेमें एक सुंदर कहानी है। कोई गरीब मुसलमान अपने पुत्रको लेकर हजरत महम्मदके पास आया और उसने कहा—" मेरा यह लड़का बहुत शक्कर खाता है, लेकिन मैं उतनी शक्कर लाकर खिलानेकी हैसियत नहीं रखता; बताइए, मैं क्या करूँ ? " महम्मदने कहा—एक पखवारेके बाद आना। पंद्रह दिन बाद वह मुसलमान फिर अपने लड़केको लेकर महम्मदके पास आया। महम्मदने उस लड़केको बड़ी खूबीके साथ तेजस्वी भाषामे शक्कर खाना छोड़ देनेका उपदेश दिया। पिता और पुत्र दोनोंने उस आज्ञाको शिरोधार्य किया। लेकिन पितासे न रहा गया, उसने पूछा, यह साधारण उपदेश देनेके लिए खुद पैगंबर साहबने एक पक्षका समय क्यों लिया ? महम्मद साहबने हँसकर कहा—मैं खुद शक्कर बहुत खाता था, सो जबतक खुद शक्कर खाना न छोड़ लेता तबतक औरको शक्कर खाना छोड़ देनेकी आज्ञा देना अन्याय होता। मैंने पंद्रह दिनमें शक्कर खाना एकदम छोड़ दिया, तब औरको वैसा करनेकी आज्ञा दी। अब मेरी आज्ञाका असर तुम्हारे लड़के पर पड़ेगा। अगर मैं न छोड़ता और उसे छोड़नेका उपदेश देता तो कभी असर नहीं पड़ सकता था।

विद्यार्थियोंको आज्ञा देनेके पहले शिक्षकोंको यह सुंदर भावपूर्ण कहानी याद कर लेनी चाहिए।

कोई कोई कहते हैं, कुछ कड़े या कठोर हुए बिना, विद्यार्थीके मनमें थोड़ा भय पैदा किये बिना, विद्यार्थी कभी शिक्षकको नहीं मानेगा, और सुश्रृंखला के साथ शिक्षाका काम भी नहीं होगा। यह कोरा भ्रम है। शिक्षा और शासन अगर एक ही चीज होते तो यह बात ठीक होती। किन्तु शिक्षा और शासनमें बड़ा अंतर है। शासनका उद्देश्य यह है कि शासित आदमी, उसके हृदयमें चाहे जो हो, बाहर किसी खास कामको करे, या उससे निवृत्त हो। शिक्षाका उद्देश्य यह है कि शिक्षित आदमीके भीतरके दोषोंका संशोधन होकर उसे उत्कर्ष प्राप्त हो। सुतरां शासन जो है वह भय दिखाकर होता है और शिक्षा भक्ति उत्पन्न हुए विना सफल नहीं होती।

(२) बहुतसे विद्यार्थी एकत्र एक विषयको सीख सकें तो शिक्षाके कार्यमें जो श्रम और समय लगता है वह बहुत कुछ कम हो सकता है। एक शिक्षक एक श्रेणीके बीस-पचीस विद्यार्थियोंको एक साथ एक विषयकी शिक्षा अनायास दे सकता है। इसी तरह अनेक शिक्षक एक जगह पर भिन्न भिन्न श्रेणीके छात्रोंको शिक्षा देते हैं तो एक ही जगहमें बहुत दूर तक शिक्षा दी जा सकती है। इसी लिए विद्यालय, अर्थात् एक जगह पर भिन्न भिन्न अनेक छात्रोंकी शिक्षाका स्थान, शिक्षाका एक उत्कृष्ट उपकरण (सामान) है। लेकिन अनेक विद्यार्थियोंको एकत्र शिक्षा देनेमें जैसे सुविधा है, वैसे ही असुविधा भी है। एक स्थानपर अनेक छात्रोंको बहुत देरतक रोक रखनेसे उन्हें शारीरिक कष्ट हो सकता है। एक दर्जेके सभी लड़कोंकी बुद्धि समान नहीं होती। कोई शीघ्र समझ लेता है, कोई देरमें समझता है, कोई एक विषयको सहजमें समझ जाता है, कोई दूसरे विषयको समझता है, कोई सर्वदा पढ़ने लिखनेमें मन लगाता है, कोई कभी कभी मन लगाता है और कभी कभी नहीं भी लगाता। इसके सिवाय भिन्न भिन्न श्रेणीके छात्रोंको शिक्षा देनेके लिए भिन्न भिन्न शिक्षकोंका प्रयोजन होता है, और उनके एकमत होकर काम करनेकी आवश्यकता हुआ करती है।

इस तरह भिन्न भिन्न प्रकृतिके और भिन्न भिन्न श्रेणीके छात्र तथा भिन्न भिन्न शिक्षक लेकर एक जगहपर बहुत अच्छी तरह काम चलानेके लिए विद्यालयके सम्बन्धमें कुछ नियम प्रयोजनीय हैं। जैसे—

१ विद्यालयका घर स्वास्थ्यकर होना चाहिए।

२ नित्य प्रति पाठकालमें, बीचमें, लड़कोंको विश्राम और खेलके लिए समय देना चाहिए ।

३ नित्यके पाठ (सबक) का परिमाण इतना होना चाहिए कि लड़के घरमें उसे याद करके विश्राम करनेका समय पा सकें ।

४ किसी शिक्षकके ऊपर तीससे अधिक विद्यार्थियोंको एक साथ शिक्षा देनेका बोझ न डालना चाहिए ।

५ किस समय कौन शिक्षक किस दर्जेमें किस विषयकी शिक्षा देगा—इस ब्यौरेके साथ एक दैनिक नियमपत्र भी रहना चाहिए ।

६ हरएक दर्जेकी शिक्षाके विषयों और पाठ्यपुस्तकोंका निर्देश यथाक्रम होना चाहिए । पाठ्यपुस्तकें भी यथाक्रम पढ़ी जानी चाहिए ।

७ हरमहीने, अथवा दो-तीन महीनेके बाद, शिक्षाकार्यका परिदर्शन (इन्स्पेक्शन) और विद्यार्थियोंकी परीक्षा होनी चाहिए । उस परीक्षामें हर-एक विद्यार्थीका, और औसत हिसाबसे हर एक दर्जेका परीक्षा-फल दिखलाया जाना चाहिए ।

८ छात्रोंके चरित्र और बरतावका संक्षिप्त ब्यौरा हरमहीने उनके अभिभावकोंको बताना उचित है ।

इस जगहपर छात्रनिवास (बोर्डिंग हाउस) के संबंधमें कुछ कहना आवश्यक है । जो सब छात्र दूरसे आये हों, और जिनका कोई अभिभावक निकट न हो, उनके रहनेके लिए विद्यालयके पास, विद्यालयके कर्तृपक्ष (सुपरिंटेंडेंट इत्यादि) की देखरेखमें, छात्रनिवास रहनेसे, और वहाँ छात्र और शिक्षक दोनोंके एकत्र रहनेसे, सुविधा होती है, इसमें सन्देह नहीं । किन्तु सुविधाके साथ साथ असुविधा भी होती है । बहुतसे विद्यार्थियोंका एकत्र रहना सुश्रृंखलाके साथ होना अत्यन्त कठिन बात है और देखरेखमें जरा भी त्रुटि होनेसे अनेक अनिष्ट होनेकी संभावना होती है । अपने स्वजनोंके बीचमें रहनेसे विद्यार्थीके चित्तकी वृत्तियोंका जैसा विकास हो सकता है वैसा छात्रनिवासमें शिक्षकके निकट रहनेपर भी होना असंभव है । विद्यार्थी लोग अगर अपने घरमें रहें तो स्वतन्त्रताका और संसारके सब पहलुओंको देखने-सुननेका अभ्यास कर सकते हैं; किन्तु छात्रनिवासमें रहनेसे वह बात नहीं हो सकती । सुशासित छात्रनिवासमें विद्यार्थीलोग एक मेशीनकी तरह चलाये

जा सकते हैं, किन्तु इसमें सन्देह है कि वे स्वतःप्रवृत्त होकर मनुष्यकी तरह चलना सीखते हैं कि नहीं। अतएव अत्यन्त प्रयोजन हुए विना, और देखरे-खका विशेष सुयोग हुए विना, विद्यार्थियोंका छात्रनिवासमें रहना वाञ्छनीय नहीं जान पड़ता। कोई कोई समझते हैं कि छात्रनिवासमें शिक्षक और विद्या-र्थीका सर्वदा समावेश हो सकता है, और इसी लिए विद्यार्थियोंका छात्रनिवा-समें रहना, प्राचीन भारतमें गुरुगृहके निवासकी तरह, सुफल देनेवाला होता है। किन्तु यह बात ठीक नहीं है। कारण, पहले तो छात्रनिवास गुरुगृह नहीं हैं, वहाँ गुरु सपरिवार नहीं रहते, और अपने या गुरुके स्वजनोंके बीचमें रह-कर विद्यार्थी जिस तरह पालित और शिक्षित हो सकता है, उस तरह छात्रनि-समें नहीं हो सकता। दूसरे, प्राचीन समयमें शिष्य जो होते थे वे गुरुको भक्तिका उपहार देते और उनसे स्नेहका प्रतिदान पाते थे। भक्ति और स्नेह, केवल ये ही दोनों देने-लेनेकी चीजें थीं, और इन दोनोंका विनिमय ही एक अपूर्व शिक्षा देता था। वर्त्तमान समयमें विद्यार्थी जो है वह छात्रनिवासमें कुछ धन देकर उसीके माफिक रहनेको स्थान और खाने-पीनेकी सामग्री आदि पाता है, जितना धन देता है उसीके माफिक स्थान और खाद्यसामग्री प्राप्त कर लेता है, या प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है। यह धन देने और स्थान तथा खाद्यपदार्थ देने-लेनेका मामला किसी तरह उस प्राचीन कालके भक्ति और स्नेहके देने-लेनेके साथ तुलनीय नहीं हो सकता।

(३) जैसे अनेक शिक्षकोंके एकत्र संमिलनसे एक विद्यालयकी स्थापना होती है, वैसे ही अनेक विद्यालयोंके एकत्र मिलनसे एक विश्वविद्यालयकी स्थापना होती है। प्रसिद्ध पण्डितोंके द्वारा शिक्षादान, योग्य व्यक्तियोंके द्वारा विद्यार्थियोंकी परीक्षा लेना और उसके फलके अनुसार उपाधि और सम्मान देना, इन कार्योंके द्वारा विश्वविद्यालय शिक्षाकी पूर्णरूपसे उन्नति कर सकता है। किन्तु विश्वविद्यालयका कार्य बहुविध और जटिल नियमोंसे पूर्ण होना उचित नहीं।

(४) पुस्तकें शिक्षाकी एक अत्यन्त प्रयोजनीय सामग्री है।

जब जिस वस्तुके विषयकी शिक्षा दी जाती है तब वह वस्तु विद्यार्थीके सामने रक्खी जा सकनेसे ही अच्छा होता है। प्रकृति जो है वह इसी प्रणा-लीसे पहले बच्चोंको शिक्षा देती है। किन्तु ब्रह्मसे लेकर तृणपर्यन्त सभी

जगत् जब शिक्षाका विषय है, तब यह बात सर्वत्र संभव नहीं। अनेक जगह वस्तुके अनुकल्प या प्रतिकृतिसे ही सन्तुष्ट होना पड़ता है। उन प्रतिकृतियोंमें शब्दरचित विवरण सबकी अपेक्षा सुलभ और अधिक व्यवहृत है। वस्तुओं-के ये शब्दमय रूप पुस्तकोंमें अंकित रहते हैं।

शिक्षोपयोगी पुस्तकोंमें कुछ गुणोंका रहना आवश्यक है। जैसे—

१ विद्यार्थीके धन, समय और शक्तिको बचानेके लिए पाठ्यपुस्तकका आकार यथासंभव छोटा होना चाहिए। उसमें वर्णित विषय यथाशक्ति संक्षेपमें किन्तु पूर्णताके साथ, सरल रीतिसे किन्तु विशुद्ध भाषामें, विशद रूपसे किन्तु थोड़ी बातोंमें लिखा जाना चाहिए।

२ शिक्षाको सुखद बनानेके लिए पाठ्यपुस्तक सुन्दर रूपसे छपी हुई, बीच बीचमें वर्णित विषयके चित्रोंसे सुशोभित और मधुर भाषामें सरल भावसे रचित होनी चाहिए।

३ भाषा सीखनेकी प्रथम पाठ्यपुस्तकोंमें नवीन शब्द और नवीन विषय बहुत थोड़े थोड़े और क्रमक्रमसे रक्खे जाने चाहिए। दुरूह शब्द और कठिन विषय तो एकदम न होने चाहिए।

४ व्याकरण, भूगोल, इतिहास और विज्ञानकी प्रथम पाठ्यपुस्तकोंमें केवल उन उन विषयोंकी मोटी बातें रहनी चाहिए।

५ गणितकी प्रथम पाठ्यपुस्तकोंमें अति कठिन या दुरूह उदाहरण न होने चाहिए।

ये सब पाठ्यपुस्तकोंके विशेष प्रयोजनीय गुण हैं। इनके सिवा हरएक पुस्तकमें साधारण रूपसे कुछ गुणोंका रहना आवश्यक है, कमसे कम कुछ दोषोंका वर्जन वाञ्छनीय है, और शायद उनका यहाँ पर उल्लेख असंगत नहीं होगा। वे सब दोष-गुण तीन भागोंमें बाँटे जा सकते हैं। १—पुस्तकके आकारसे सम्बन्ध रखनेवाले, २—पुस्तककी भाषा और रचनाप्रणालीसे सम्बन्ध रखनेवाले, ३—पुस्तकके विषयसे सम्बन्ध रखनेवाले।

इस आलोचनामें बड़ी-छोटी, भली-बुरी, सब तरहकी पुस्तकोंके सम्बन्धमें कहा जायगा। इसी लिए सबसे पहले ग्रन्थकार महाशयोंसे मेरा विनीत निवेदन यह है कि उनकी रचनाके सम्बन्धमें कुछ कहनेका मेरा यही एकमात्र अधिकार है कि उन सब रचनाओंसे मैं भी अन्य साधारण पाठकोंकी तरह

ज्ञानलाभकी आकांक्षा रखता हूँ, और साधारण पाठकोंकी ओरसे ग्रन्थके सम्बन्धमें जो बातें कहनी हैं उन्हें प्रकाशित करनेसे सर्वसाधारणका उपकार हो सकता है—इसी आशासे मैं इस दुस्साहसके कार्यमें प्रवृत्त होता हूँ।

१ पुस्तकका आकार। सभी पुस्तकोंका आकार यथासंभव छोटा होना चाहिए, अर्थात् पृष्ठसंख्या थोड़ी होनी चाहिए। सभी पाठकोंको समय या अवकाश कम होता है और अधिकांश पाठकोंके पास बड़ी पुस्तक खरीदनेके लिए यथेष्ट धन नहीं होता। इस कारण बड़े आकारकी पुस्तकको खरीदना या पढ़ना प्रायः सभीके लिए सुविधाजनक नहीं होता। बड़ी पुस्तककी रचना करना ग्रन्थकारके लिए भी सुविधाजनक नहीं होता। कारण, बड़ी पुस्तक लिखनेमें अधिक समय लगनेके सिवा उसे छपानेके लिए भी बहुत धनकी जरूरत होती है। फिर जो प्रयोजनके बिना भी बड़े आकारकी पुस्तकें लिखी जाती हैं, उसका भी कारण है। पहले तो प्रयोजनकी सब बातें विशदभावसे किन्तु संक्षेपमें कहना बहुत ही परिश्रम-साध्य होता है। बस इसीसे सहज ही ग्रन्थका कलेवर बढ़ जाता है। दूसरे, हम इतना वृथाका अभिमान रखते हैं कि बिना सोचे भी अनेक समय बड़ी चीजका आदर करते हैं, इसीसे क्या ग्रन्थकार और क्या पाठक सभी सहज ही बड़ी पुस्तकका आदर करते हैं।

पहले जिस समयमें छापनेकी मेशीन नहीं निकली थी, पुस्तकें हाथसे लिखी जाती थीं, और वह लिखना स्वभावसे ही कष्टकर होता था, उस समय वह कष्ट कम करनेके लिए, और पाठकोंको ग्रन्थ स्मरण रखनेमें सुभीता हो इसलिए भी, इस देशमें अनेक ग्रन्थ सूत्रोंके रूपमें, अर्थात् अत्यन्त संक्षिप्त वाक्योंमें, रचे जाते थे। सूत्रोंका लक्षण यह लिखा है—

स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

अर्थात् "सूत्रज्ञ लोगोंने सूत्रके लक्षण ये बताये हैं कि जिसमें थोड़े अक्षर हों, जो असन्दिग्ध हो, सारयुक्त हो, सब ओरकी दृष्टिसे युक्त हो, वृथाशब्दोंसे शून्य और निर्दोष हो, वही सूत्र है।"

स्वल्प अक्षर हों पर असन्दिग्ध हो, अर्थात् संक्षिप्त और विशद हो, ये दोनों गुण कुछ परिमाणमें परस्पर-विरोधी हैं; एकके रहनेपर उसके साथ दूसरेका मिलना कठिन है। इन दोनों विरुद्ध गुणोंको एकत्र करना भी संसा-

रके अन्यान्य कठिनतर कामोंमेंसे एक काम है। ऐसी जगहपर दोनों ही गुणोंको यथासंभव एकत्र करनेकी चेष्टा करना, अर्थात् दोनों ओर दृष्टि रखकर चलना ही कर्तव्य है। यह बात न होनेसे, हमारे सूत्र-ग्रन्थोंमेंसे अधिकांशका ही यह हाल है कि उनमें अक्षर या शब्द तो स्वल्प अवश्य हैं; लेकिन वे असन्दिग्ध नहीं हो सके—भाष्यकारोंने एक एक सूत्रके अनेक परस्पर-विरुद्ध भाष्य किये हैं।

प्राचीन सूत्र-ग्रन्थोंकी तरह आधुनिक पुस्तकोंके संक्षिप्त होनेकी भी जरूरत नहीं है, और आजकलके अति-विस्तृत ग्रन्थोंकी तरह बड़ा होना भी वांछनीय नहीं है। मँझोला आकार होना ही अच्छा होगा।

एक बात बार बार कहकर ग्रन्थका कलेवर बढ़ाना युक्तिसंगत नहीं है। एक बातको एक बार स्पष्ट करके कह देनेसे जो फल होता है; बहुत बार अस्पष्ट भावसे कहनेमें भी वह फल नहीं होता। ऊँचे स्वरसे एक बार पुकारनेसे जिसे पुकारो वह सुन लेता है, किन्तु धीरे धीरे उसे दस बार पुकारनेसे भी वह कभी नहीं सुन पावेगा। जो अच्छी तरह कह सकता है, वह कहनेकी बातको एक बार कह कर ही सन्तुष्ट हो जाता है। जो अच्छी तरह कह नहीं सकता, वह एक बातको घुमा फिरा कर दस बार कहता है और फिर भी सन्तुष्ट नहीं होता, उसे यही जान पड़ता है कि वह अपने वक्तव्यको अच्छी तरह नहीं कह पाया।

जान पड़ता है, दो-एक तरहकी पुस्तकोंका आकार बड़ा होना अनिवार्य है। जैसे—चिकित्साशास्त्रकी और आईन कानूनकी पुस्तकें। रोग इतने प्रकारके हैं; और एक ही रोग इतने विभिन्न रूप धारण करता है, दवाएँ भी इतनी तरहकी हैं; और अवस्था-भेदके अनुसार उनके प्रयोगके भी इतने विभिन्न प्रकार हैं कि उनका संपूर्ण सूक्ष्म विवरण देनेमें अवश्य ही पुस्तकका कलेवर बहुत बढ़ जायगा। लेकिन उस विवरणको सुशृंखलाबद्ध करनेसे वह पुस्तक कहाँतक संक्षिप्त हो सकती है, यह बात चिकित्सक महाशय ही कह सकते हैं।

आईन-कानूनके विषयका भी चाहे जो विभाग ले लीजिए, वह इतना विस्तृत है, और उसकी एक एक बात इतने भिन्न भिन्न भावोंसे भिन्न भिन्न स्थलोंमें उपस्थित हो सकती है, और उसके सम्बन्धकी नजीरें क्रमशः इतनी

अधिक होती आ रही हैं कि उन सबकी आलोचना करनेसे आईनकी पुस्तक बड़ी हुए बिना काम नहीं चल सकता। लेकिन सब विषयोंको श्रेणीबद्ध करनेसे और वक्तव्य बातोंका और प्रयोग करने योग्य नजीरोंका सारांश सुश्रृंखलाके साथ विवृत्त करनेसे पुस्तक यथेष्ट संक्षिप्त हो सकती है।

२ पुस्तककी भाषा और रचनाप्रणाली। विषय-भेद तथा ग्रन्थकारकी प्रकृति और रुचिके भेदसे अवश्य ही पुस्तककी भाषा अनेक प्रकारकी होगी। भाषा अनेक प्रकारकी न होकर अगर सर्वत्र एक ही प्रकारकी होती तो ग्रन्थपाठका सुख, एक ही व्यंजनके साथ आहार करनेके सुखकी तरह, संकीर्ण हो जाता।

लेकिन उन सब वांछनीय विषमताओंके बीचमें एक तुल्य-वांछनीय समता सर्वत्र रहनी चाहिए। वह समता है भाषाकी सरलता और स्वाभाविकता। ग्रन्थकारकी प्रकृति और रुचि चाहे जैसी हो, किन्तु सभी ग्रन्थकार यह चाहते हैं कि उनकी भाषा सुन्दर और हृदयग्रहिणी हो। किन्तु भाषाके लिए उसका सरल होना भी आवश्यक है। कारण, इस जगहपर सरलता ही सौन्दर्यका मूल है। और, अलंकारकी अधिकतासे भाषाका सौन्दर्य घटनेके सिवा बढ़ता नहीं है। भाषा वही हृदयग्राहिणी होगी जो स्वाभाविक होगी। भाषा अगर स्वाभाविक नहीं है, वह सजावट और भावभंगीसे परिपूर्ण है, तो वह कौतुक बढ़ानेवाली भले ही हो, किन्तु हृदयको नहीं स्पर्श कर सकती। मनुष्योंमें परस्पर प्रकृति और रुचिका भेद चाहे जितना क्यों न हो, वह सब एक प्रकारका बाहरी भेद है। इस प्रकारकी सब विषमताओंके बीचमें, भीतर सभी मनुष्योंके एक प्रकारकी समता है। हमारे अन्तर्निहित गंभीर भाव उसी साम्यमें स्थापित हैं। इसके सिवा भाषा और भाव दोनोंमें परस्पर विचित्र रूपका सम्बन्ध है। भाषा जो है वह भावका एक प्रकारसे स्फुरणमात्र है। अतएव जो भाषा मनुष्यके अन्तर्निहित उसी गंभीर भावका स्फुरण है, वह मनुष्यमात्रके हृदयको स्पर्श करती है, अर्थात् उसपर असर डालती है। वह भाषा ही यथार्थ मन्त्र है। वही मनुष्यको मन्त्र-मुग्ध बना देती है। वैसी भाषा लिखनेकी योग्यता प्रतिभाके ही बलसे उत्पन्न होती है। शिक्षा, अभ्यास और यत्नसे भी कभी कभी वह योग्यता उत्पन्न हुआ करती है। किन्तु जिसे उस मन्त्रसदृश भाषापर अधिकार नहीं प्राप्त होता, अर्थात् वैसी

भाषा लिखनेकी योग्यता नहीं प्राप्त होती, उसे वृथा आडम्बरसे शून्य सरल भाषा ही लिखनी चाहिए।

पहले ही कहा जा चुका है कि रचना दो तरहकी होती है, वैज्ञानिक और साहित्यिक। थोड़ा यत्न करनेसे वैज्ञानिक प्रणालीकी रचना करना सभीके लिए साध्य है। किन्तु विशेष प्रतिभाशाली व्यक्तिके सिवा अन्यके लिए साहित्यिक प्रणालीसे रचना करनेकी चेष्टा वृथा है। किन्तु अनेक लोग अभिमानके वश होकर वही वृथा चेष्टा करते देखे जाते हैं।

रचनाप्रणालीके सम्बन्धमें और भी दो-एक बाते हैं। जान पड़ता है, अनेक लोग अपनी बुद्धिमत्ता या पाण्डित्य दिखानेके लिए, अथवा पाठकोंकी बुद्धिमत्ता जाँचनेके लिए, वक्तव्य विषयको स्पष्ट करके नहीं कहते; वे अपने वक्तव्यको इशारेसे प्रकट करना पसंद करते हैं। वे इशारे अगर सार्थक और सरल होते हैं तो क्षति नहीं होती, बल्कि उससे पाठकोंको आनन्द मिलता है। किन्तु वे यदि निरर्थक या कष्टकल्पनासे दूषित होते हैं, तो उनसे रचनाकी स्पष्टता नष्ट हो जाती है।

फिर कभी कभी देखा जाता है कि रचनामें उज्ज्वल पाण्डित्यकी छटा दिखानेका प्रयास करके, प्रयोजन हो या न हो, संलग्न हो या असंलग्न हो, लोग अपरिचित और सर्वसाधारणके न जाने हुए उदाहरणोंके द्वारा सरल बातको भी जटिल बना देते हैं।

३ पुस्तकका विषय। जैसे ज्ञानकी सीमाका अन्त नहीं है, वैसे ही विषयोंकी भी संख्या नहीं है। परन्तु उपस्थित आलोचनाके लिए पुस्तकोंको दो भागोंमें बाँट सकते हैं। पुस्तकें विज्ञानविषयक और साहित्य-विषयक हैं।

विज्ञान-विषयक पुस्तकोंके दोष-गुणके सम्बन्धमें यहाँपर अधिक कुछ कहनेका प्रयोजन नहीं है। इस श्रेणीकी पुस्तकें सर्वसाधारण पाठकोंके लिए नहीं, खास खास पाठकोंके लिए होती हैं। उनके दोष-गुणोंका विचार करनेमें उनके पाठक ही समर्थ हैं। और, उन दोषगुणोंका फलाफल, कमसे कम साक्षात् सम्बन्धमें, सर्वसाधारणको नहीं भोगना पड़ता किन्तु साहित्यिक पुस्तकें वैसी नहीं होतीं। वे सर्वसाधारण पाठकोंके लिए हैं। अनेक स्थलोंमें पाठकगण उनके दोष-गुणोंका विचार करनेमें असमर्थ होते हैं। मगर इस श्रेणीके ग्रन्थोंमें

जो दोष-गुण होते हैं उनका फल साक्षात् सम्बन्धमें सर्वसाधारणको ही भोगना पड़ता है। एक साधारण उपमा देकर यह बात स्पष्ट की जाती है। वैज्ञानिक ग्रन्थकी रचना करनेवालेकी तुलना यन्त्र आदि बेचनेवालेके साथ होनी चाहिए, और साहित्यिक ग्रन्थकी रचना करनेवालेकी तुलना खाद्यपदार्थ बेचनेवालेके साथ करनी चाहिए। यन्त्रविक्रेताकी चीजको व्यवसायी खरीदार दोष गुणोंका विचार करके खरीदता है, और ठगे जाने पर भी प्रायः आर्थिक हानिके सिवा उसकी और किसी तरहकी क्षति नहीं होती। किन्तु खाद्यविक्रेताकी चीजको रोजगार करनेवाला और न रोजगार करनेवाला, बुद्धिमान् और निर्बोध, सभी खरीदते हैं। उनमेंसे अनेक लोग ऐसे होते हैं जो उसके दोष-गुणका विचार करनेकी सामर्थ्य अथवा योग्यता नहीं रखते, और ठगे जाने पर उन्हें केवल आर्थिक क्षति ही नहीं, बल्कि शारीरिक अनिष्ट भी सहना पड़ता है। और विज्ञान-विषयक ग्रन्थको एक आदमी समझकर पढ़ता है, तो साहित्यविषयक ग्रन्थको सौ आदमी बिना सोचे-समझे पढ़ते हैं, और उस ग्रन्थपाठके द्वारा उनकी रुचि, प्रवृत्ति और कार्य परिचालित होते हैं। अतएव वैज्ञानिक ग्रन्थ रचनेवालेकी अपेक्षा साहित्यसम्बन्धी ग्रन्थ रचनेवालेकी जिम्मेदारी सौगुनी अधिक गुरुतर है। अच्छे साहित्यिक ग्रन्थ सुरुचि और अच्छी प्रवृत्तिको उत्तजना देकर जितना सर्वसाधारणका हितकर सकते हैं, बुरे साहित्यिक ग्रन्थ कुरुचि और कुप्रवृत्तिको उत्साहित करके, उतना ही नहीं बल्कि उससे कहीं अधिक सर्वसाधारणका अनिष्ट कर सकते हैं। इसका कारण यही है कि दुर्भाग्यवश उन्नतिके मार्गकी अपेक्षा अवनतिके मार्गमें मनुष्योंकी गति अति सहज होती है। इन सब बातोंको सोचनेसे जान पड़ता है, पृथ्वी परके अनेक साहित्यिक ग्रन्थोंकी रचना अगर न होती तो कोई नुकसान न था, बल्कि लाभ ही होता।

साहित्यविषयक ग्रन्थ अगर सुरुचिसंपन्न, सुप्रवृत्तिके उत्तेजक और सत् उपदेश देनेवाले नहीं हैं तो उनके लिखे जानेका कोई प्रयोजन नहीं है। प्रायः सभी सभ्यजातियोंकी भाषाओंमें ही इतने उत्कृष्ट काव्यग्रन्थ हैं कि लोग उन्हीं सबको जिंदगी भरमें पढ़ नहीं पाते। ऐसी अवस्थामें नवीन निकृष्ट ग्रंथोंके रचे जानेकी जरूरत क्या है ?

इस प्रश्नके उत्तरमें साहित्यसे अनुराग रखनेवाले लोग अवश्य ही कह सकते हैं कि " समाज स्थितिशील नहीं है, सर्वदा गतिशील है; सामा-

जिक रीतिनीतियाँ निरन्तर परिवर्तित होकर क्रमशः उन्नतिकी ओर बढ़ रही हैं। मानवकी विचार शक्तिने अतीतकालमें जो सब उच्च आदर्श दिखाये हैं उनसे भी अधिक उच्च आदर्शको वह भविष्यमें दिखा सकती है। अतएव विचार-प्रवाहको रोकना और नवीन काव्योंकी रचनाको बंद करना कभी युक्तिसिद्ध नहीं है। काव्य-रचना होनेमें ऐसी आशा नहीं की जासकती कि सभी काव्य उत्कृष्ट होंगे। कोई अच्छा, कोई बुरा, और उनमेंसे अधिकांश न भले और न बुरे बनेंगे। यही प्राकृतिक नियम है। दस ग्रन्थोंमें एक भी अच्छा होनेसे उसे यथेष्ट समझना चाहिए।" ये सब बातें सत्य हैं, और उत्कृष्ट ग्रन्थके सिवा अन्य ग्रन्थोंकी रचना करना एकदम अनुचित नहीं कहा जासकता। नवीन बालुकामय भूमिमें जैसे पहले घास-फूस निकलता है और वह सड़कर उस भूमिमें खादका काम करता है, जिससे वह भूमि उपजाऊ होकर अन्न और अच्छे वृक्ष पैदा करनेके योग्य होती है, वैसे ही नई भाषामें नये विषयकी निकृष्ट पुस्तकें ही पहले रचित होकर एक प्रकारसे अच्छी भूमि बनाती हैं, जिससे बुद्धिमान् लेखकगण उस भाषामें या उस विषयमें उत्कृष्ट ग्रन्थोंकी रचना करनेके लिए प्रेरित होते हैं। निकृष्ट पुस्तकोंके द्वारा इस तरहका उद्देश्य साधित हो तो उनका रचा जाना एकदम अनुचित नहीं कहा जासकता। और, इस समय जिन सब बातोंकी आलोचना हो रही है उनके अनुसार जिस पुस्तकके द्वारा उक्त उद्देश्यके सिद्ध होनेमें सहायता हो उसकी रचनाको मैं निष्फल नहीं समझूँगा। किन्तु जो पुस्तकें केवल निकृष्ट नहीं, स्पष्ट रूपसे अनिष्ट करनेवाली हैं, और सर्व साधारणकी कुरुचि और कुप्रवृत्तिको उत्तेजित करके लोगोंको कुपथगामी बनाती हैं, समाजको कुशिक्षा देती हैं, वे उत्कृष्ट पुस्तकोंकी रचनाके लिए क्षेत्र तैयार करें या न करें, अपनी दुर्गन्धसे चारोंओरकी हवाको दूषित करके समाजमें संपूर्ण मानसिक और अध्यात्मिक व्याधियाँ अवश्य उत्पन्न करती हैं, इसमें सन्देह नहीं। इसीलिए उस तरहके ग्रन्थोंकी रचना अत्यन्त अनुचित है।

(५) पुस्तकालय भी शिक्षाके लिए प्रयोजनीय है। एक ओर जैसे कहा गया है—

पुस्तकस्था तु या विद्या परहस्तगतं धनम्।
कार्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या न तद्धनम्॥

अर्थात् प्रस्तककी विद्या और पराये हाथमें दिया हुआ धन, दोनों ही चीजें समय पड़ने पर काम नहीं आतीं ।

वैसे ही दूसरी ओर यह भी कहा है कि—**ग्रन्थी भवति पण्डितः ।**

अर्थात् ग्रन्थसंचय करनेवाला पण्डित होता है ।

वास्तवमें दोनों ही बातें कुछ कुछ सत्य हैं । कुछ ऐसे आवश्यक विषय हैं जिनके पुस्तकगत होनेसे काम नहीं चलता, वे कण्ठस्थ या हृद्गत होने चाहिए। किन्तु बहुतसे विषय ऐसे भी हैं जिन्हें संपूर्ण रूपसे सर्वदा याद रखना असाध्य और अनावश्यक भी है । मगर समय समय पर उनमेंसे कोई कोई विषय जानना आवश्यक है, और इसके लिए यह जाने रहना उचित है कि उनमेंसे कौन विषय किस पुस्तकमें कहाँ पर है । उन सब पुस्तकोंको अपने पास जमा कर रखनेकी भी इसी लिए जरूरत है । इसी लिए पुस्तकालय भी शिक्षाका एक प्रधान उपकरण है । परन्तु ऐसी आशा भी नहीं की जा सकती कि सब पुस्तकालयोंमें सभी पुस्तकें रहें । जहाँ जिन विषयोंकी शिक्षा दी जाती है वहाँ उन सब विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रधान प्रधान ग्रन्थ रहनेसे काम चल सकता है ।

(६) **यन्त्र और यन्त्रालय** भी शिक्षाके लिए आवश्यक हैं । ऐसे अनेक जटिल और कठिन विषय हैं, जिन्हें समझानेके लिए वस्तुके शब्दमय विवरण अथवा पुस्तकमें छपेहुए चित्र यथेष्ट नहीं होते । उनकी अन्य प्रकारकी प्रतिकृति, जो यंत्रादिके द्वारा दिखलाई जासकती है, विद्यार्थीके सामने उपस्थित रहनेकी आवश्यकता होती है । विज्ञान और शिल्पकी शिक्षाके लिए यन्त्र आदि सामग्री अत्यन्त प्रयोजनीय है । लेकिन इस बारेमें एक बात याद रखना उचित है । सम्पूर्ण रूपसे सुसज्जित यन्त्रालय यद्यपि वाञ्छनीय है, पर उसके लिए अधिक खर्चकी जरूरत होती है । कम खर्चमें और सहजमें बने हुए यन्त्र आदिके द्वारा ही जितना शिक्षाका काम चले उतना ही शिक्षक और छात्र दोनोंका गौरव है ।

(७) **परीक्षा** । अर्थात् वैध परीक्षा शिक्षाका एक प्रयोजनीय उपकरण है । किन्तु अवैध परीक्षाको शिक्षाके लिए बाधा भी कहें तो कह सकते हैं। जिस परीक्षाका उद्देश्य यह देखना है कि शिक्षाका काम किस तरह चल रहा है और विद्यार्थी लोग कहाँतक क्या सीख रहे हैं, वह परीक्षा शिक्षाका उप-

कार करती है। किन्तु जिस परीक्षाका उद्देश्य यह नहीं है, बल्कि प्रश्नोंकी विचित्रताके द्वारा विद्यार्थियोंकी अज्ञता दिखाना और उनको अप्रतिभ करना है, वह परीक्षा शिक्षाका उपकार न करके अपकार ही करती है। कारण उस तरहकी परीक्षाके लिए तैयार होनेमें विद्यार्थी लोग ज्ञानके उपार्जन और मानसिक उत्कर्ष-साधन पर लक्ष्य नहीं रखते; इसी चिन्तामें डूबे रहते हैं कि किस उपायसे विचित्र विचित्र प्रश्नोंका उत्तर दे सकेंगे।

परीक्षाके सम्बन्धमें निम्नलिखित बातें याद रखना उचित है—

१—परीक्षा जो है वह शिक्षाका फल निरूपण करनेके लिए हो, और शिक्षाकी अनुगामिनी हो। शिक्षा जो है उसका प्रयोजन परीक्षाका फललाभ नहीं है और वह परीक्षाकी अनुगामिनी न होनी चाहिए।

२—मासिक, वार्षिक या अन्यप्रकारकी सामयिक परीक्षाके सिवा नित्य परीक्षा, अर्थात् शिक्षा-लब्ध विषयकी नित्य आलोचना, आवश्यक है।

३—अति दुरूह अथवा संख्यामें अत्यन्त अधिक प्रश्न पूछना अनुचित है। किन्तु प्रतिभाका परिचय प्राप्त करनेके लिए बीच बीचमें दो-एक कठिन प्रश्न भी रहने चाहिए।

अनुशीलन।

पहले कहा जा चुका है कि ज्ञान-लाभके लिए अपना यत्न और अन्यकी सहायता, दोनोंका प्रयोजन है, और अन्यकी सहायताको शिक्षा कहते हैं, तथा अपने यत्नको **अनुशीलन** कहेंगे। शिक्षाके सम्बन्धमें कुछ आलोचना की जा चुकी है। अब अनुशीलनके सम्बन्धमें दो-एक बातें कह कर यह अध्याय समाप्त किया जायगा।

ज्ञानके विषयोंके भेदसे अनुशीलनकी प्रणाली भी कई तरहकी है। बहिर्जगत्के विषयोंके सम्बन्धमें पर्यवेक्षण और परीक्षाके द्वारा अनुशीलनका काम चलता है। अन्तर्जगत्के विषयोंके सम्बन्धमें अन्तर्दृष्टिके द्वारा अपने आत्मासे जिज्ञासा और अन्यकी आत्माके बाहरी कामोंका पर्यवेक्षण ही अनुशीलनका उपाय है। बहिर्जगत्से सम्बन्ध रखनेवाले अनुशीलनमें अनेक जगह पर्यवेक्षण और परीक्षा दोनों ही बातें साध्य होती हैं। जैसे जीवदेहके तत्त्वानुशीलनमें देहके कार्योंका पर्यवेक्षण किया जा सकता है, और जीवकी इच्छानुसार अवस्था बदलकर उस बदली हुई अवस्थाके फलकी परीक्षा भी की जा

सकती है। किन्तु किसी किसी जगह पर्यवेक्षण ही एकमात्र उपाय है, परीक्षा असाध्य है। जैसे, सूर्यके भीतरके काले धब्बे क्या हैं, यह जाननेके लिए सूर्यमण्डलको नित्य अच्छी तरह देखने और सर्वग्रास-ग्रहणके समय उसकी अवस्थाको दूरबीन आदिके द्वारा देखनेके सिवा यह साध्य नहीं है कि हम अवस्था-परिवर्तन-पूर्वक सूर्यमण्डलकी परीक्षा कर सकें।

अनुशीलनके उद्देश्य अनेकविध हैं। जैसे, कभी नवीन तत्त्वका आविष्कार, कभी पहले जिनका आविष्कार हो चुका है उन तत्त्वोंके परस्पर-सबन्धका निर्णय, कभी अनुशीलनकर्ताका और साथ साथ सर्वसाधारणका ज्ञानलाभ, कभी जनसाधारणके लिए सुखदायक वस्तु पैदा करना अथवा सर्वसाधारणके लिए हितकर कार्यका अनुष्ठान, इत्यादि। कोई यश पानेके लिए साहित्यका अनुशीलन और काव्यकी रचना करता है, कोई यश और धनकी प्राप्तिके लिए वैज्ञानिक तत्त्वोंका अनुशीलन करता है, कोई जीवोंको रोगमुक्त करनेके उद्देश्यसे जीव-तत्त्वके अनुशीलनमें लगा हुआ है, कोई इन सब पार्थिव विषयोंको छोड़कर मुक्तिलाभके लिए ब्रह्मज्ञानका अनुशीलन करता है। ये सब बातें अनेक हैं, और यहाँपर इनकी आलोचना भी अनावश्यक है। जिन कई एक विषयोंका अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक जान पड़ता है, केवल उन्हींका उल्लेख यहाँपर किया जाता है।

(१) ज्ञानोपार्जनके लिए स्मृतिशक्तिका अत्यन्त प्रयोजन है। उस शक्तिको बढ़ानेके लिए कोई यथार्थ उपाय है कि नहीं, शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञानके ज्ञाता पण्डितोंके द्वारा इस विषयका अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि उसका फल शिक्षार्थी लोगोंके लिए अत्यन्त उपकारक हो सकता है। इसीके साथ और एक विषयका अनुशीलन वाञ्छनीय है। वह विषय यह है कि स्मृतिशक्ति और विवेकशक्ति परस्पर विरोधी हैं कि नहीं? कोई कहते हैं—" जहाँ स्मृति प्रबल है वहाँ बुद्धि क्षीण है, और जहाँ बुद्धि-उज्ज्वल है वहाँ स्मृतिशक्ति मलिन है। *" फिर कोई कोई इस बातको संपूर्णरूपसे अस्वीकार करते हैं, और यह दिखाते हैं कि अनेक असाधारण बुद्धिमान् पुरुष प्रबल स्मृतिशक्ति-सम्पन्न थे।

(१) Pope's Essay on Criticism कविताकी चार पंक्तियोंका यह अनुवाद है।

(२) भाषा-शिक्षाके सम्बन्धमें कौन प्रणाली प्रशस्त है, अर्थात् बातचीतके साथ साथ काव्य आदिकी पुस्तकें और व्याकरण पढ़ना भाषा सीखनेकी श्रेष्ठ और सहज प्रणाली है, अथवा बातचीतके ही द्वारा सहजमें भाषा सीखी जा सकती है, इस विषयका अनुशीलन भी शिक्षा-तत्त्वज्ञ पण्डितोंके द्वारा निरपेक्ष भावसे होनेका अत्यन्त प्रयोजन है। क्योंकि उस अनुशीलनका फल बहुदूरव्यापी है। ऐसे लोगोंकी एक बहुत बड़ी संख्या है, जिन्हें अनेक कारणोंसे मातृभाषाके सिवा अन्य दो-एक भाषाएँ भी सीखनी पड़ती हैं, और उसमें उनका बहुत समय खर्च होता है, श्रम भी बहुत करना पड़ता है। यदि इतने लोगोंका वह समयका व्यय और श्रम शिक्षाकी अच्छी और सहज प्रणालीके आविष्कारसे कुछ भी बचाया जा सके तो कुछ कम लाभ न हो। इस बारेमें जैसा मतभेद है, उसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। युक्ति, तर्क और थोड़ी बहुत परीक्षाके ऊपर निर्भर करके वे सब मत प्रकट किये जाते हैं, और यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे युक्ति, तर्क, परीक्षा आदि हमारे आत्माभिमान दोषसे दूषित नहीं हैं। थोड़ा देख–सुनकर पहले जिस आनुमानिक सिद्धान्त पर हम पहुँचते हैं, वह तत्त्वानुसन्धानके लिए पथप्रदर्शक हो सकता है, और स्थिर सिद्धान्त मानकर उसे ग्रहण करनेसे वह तत्त्वानुसन्धानकी राहको बन्द कर देता है। किन्तु आत्माभिमानवश अपने अनुमानके ऊपर हमारे हृदयमें ऐसा अनुराग उत्पन्न होता है कि उसकी यथार्थताके ऊपर सन्देह नहीं होता, और परीक्षाका फल उसके विपरीत होनेपर उस परीक्षाको दूषित कहकर उड़ा देनेकी इच्छा होती है। इसी लिए भाषाशिक्षा-प्रणालीकी उत्कृष्टताका निर्णय करनेके लिए जो अनुशीलन हो वह निरपेक्ष भावसे होना चाहिए, यह बात ऊपर कही गई है। यह न होगा तो जिन्होंने पहले ही यह राय जाहिर कर दी है कि जिस प्रणालीसे मातृभाषा सीखी जाती है वही प्रणाली सभी भाषाएँ सीखनेमें काम आ सकती है, उनका वह मत बदलना अत्यन्त कठिन है।

(३) गणितशास्त्रके, और अन्य शास्त्रोंके भी, सब तत्त्वोंको जटिल तर्क और प्रमाणके द्वारा सिद्ध न करके, पहले दिखलाये जा चुके मिश्रण-सम्बन्धी दृष्टान्तकी तरह सरल और सब आदमियोंकी समझमें आनेवाले प्रमाणके द्वारा जिससे उसका निर्णय हो सके उस विषयका अनुशीलन बहुत ही उपकारक

है। वह अनुशीलन जितना सफल होगा, उतना ही विद्यार्थियोंके लिए ज्ञानका उपार्जन सहज होगा, और साधारण समाजके भी ज्ञानका घेरा फैलता रहेगा। कारण, शास्त्रका तत्त्व सहजमें बोधगम्य होनेसे ही वह फिर केवल शिक्षितोंकी खास सम्पत्ति नहीं रहेगा, उस पर सर्वसाधारणका भी अधिकार होगा।

(४) वैद्यों और हकीमोंकी अनेक दवाएँ इस देशमें इस्तेमाल की जाती हैं। उनकी यथार्थ कार्यकारिता और दोष-गुणके सम्बन्धमें अनुशीलनके होनेकी बड़ी ही जरूरत है।

वैद्यों और हकीमोंका चिकित्साशास्त्र चाहे भ्रान्तिरहित हो और चाहे भ्रांत हो, उनकी दवाएँ जब अनेक जगह फलदायक होती हैं, तब पाश्चात्य प्रणालीसे सुशिक्षित चिकित्सकों (डाक्टरों) के द्वारा कमसे कम उनकी उपयुक्त परीक्षा होना उचित है। अगर वे दवाएँ इस देशके लिए विशेष उपयोगी और उपकारक सिद्ध हों, तो लोगोंका उस उपकारके लाभसे वञ्चित रहना युक्तिसंगत नहीं है। पाश्चात्य प्रदेशोंमें नित्य नई दवाओंका आविष्कार होता है, तो भी आश्चर्य और दुःखका विषय यह है कि इस देशमें पुरातन और बहुत दिनोंकी जाँची हुई दवाओंकी पुनःपरीक्षा पाश्चात्य प्रणालीसे शिक्षित चिकित्सकोंके द्वारा नहीं होती।

(५) दुष्कर्मके कारण दण्ड पाये हुए लोगोंका संशोधन किसी तरहकी शिक्षा अथवा चिकित्साके द्वारा हो सकता है या नहीं, इस विषयका अनुशीलन भी लोकहितके लिए अत्यन्त प्रयोजनीय है।

समाज और सभ्यताकी आदिम अवस्थामें जिसकी हिंसा की जाती थी उसकी प्रतिहिंसा-प्रवृत्तिको चरितार्थ करनेके लिए हिंसकको दण्ड दिया जाता था (१)। बादको यह निकृष्ट इच्छा कम होने लगी और दण्डविधानके उच्चतर उद्देश्यपर दृष्टि पड़ी। वह उद्देश्य—हिंसक और उसके मार्गपर उसके पीछे चलनेवाले अन्य व्यक्तियोंको दण्डका भय दिखाकर दुष्कर्मसे निवृत्त करना, स्थलविशेषमें हिंसित व्यक्तिकी क्षतिको यथासंभव पूर्ण करना और यथासाध्य हिंसकका संशोधन था। यह अंतिम उद्देश्य अगर संपूर्णरूपसे पूरा

(१) Salmond's Jurisprudence P. 82; Holmes' Common Law, Lecture II; Bentham's Theory of Legislation, Part II Ch. 16; Deuteronomy XIX 21 देखो।

हो सके, तो हिंसक और उसके समान प्रकृतिवाले व्यक्ति आप ही दुष्कर्मसे निवृत्त होंगे; दण्डका भय दिखानेकी जरूरत फिर नहीं रहेगी। अतएव दण्डनीय व्यक्तिके संशोधनमें एक साथ उसका हित करना और समाजके अनिष्टका निराकारण, दोनों ही फल पाये जाते हैं। इसी कारण कहा जाता है कि अगर किसी तरहकी शिक्षा या चिकित्साके द्वारा दण्डनीय व्यक्तिका संशोधन संभव हो, तो वह शिक्षा या चिकित्सा कैसी है, इसके निर्णयके लिए विशेष यत्न करना शरीरविज्ञान और मनोविज्ञानके ज्ञाता पण्डितोंका परम कर्तव्य है (१)।

---

(१) Dr. Wines's Punishment and Reformation देखो।

सातवाँ अध्याय।

ज्ञान-लाभका उद्देश्य।

कोई कहते हैं, ज्ञान-लाभका उद्देश्य ज्ञानलाभसे उत्पन्न होनेवाला विशुद्ध आनन्दका अनुभव है; और कोई कहते हैं, उसका उद्देश्य हमारी अवस्थाकी उन्नति करना है। जान पड़ता है, वास्तवमें इन दोनोंको ही ज्ञानलाभका उद्देश्य कहा जा सकता है। ज्ञानलाभकी, अर्थात् सब विषयोंका निगूढ़ तत्त्व जाननेकी प्रवृत्ति मनुष्यके लिए स्वभावसिद्ध है। और, प्रवृत्तिमात्रका चरितार्थ होना आनन्दका कारण है, और वह आनन्द प्राप्त करनेहीके लिए प्रवृत्तिको चरितार्थ करनेकी चेष्टा होती है। अतएव इसमें संदेह नहीं कि ज्ञानलाभका एक उद्देश्य उससे उत्पन्न आनन्दका लाभ है। फिर हमारा अभाव और अपूर्णता इतनी अधिक है कि उसे पूर्ण करनेके लिए हम सदा चेष्टा करते रहते हैं। ज्ञानलाभके साथ साथ उस अभाव और अपूर्णताकी अधिकतर उपलब्धि होती है, और उसे पूर्ण करनेका उपाय भी अधिकतर अपने वशमें जान पड़ता है। अतएव यह कहना भी सुसंगत है कि अपनी अवस्थाकी उन्नति करना भी ज्ञानलाभका और एक उद्देश्य है।

संक्षेपमें कहा जा सकता है कि सब प्रकारके दुःखकी निवृत्ति और सब प्रकारके सुखकी वृद्धि ही ज्ञानलाभका उद्देश्य है। और, दुःख और सुख क्या है, इस प्रश्नके उत्तरमें संक्षेपमें कहा जा सकता है कि अभाव और अपूर्णता ही दुःख है और उसकी पूर्ति ही सुख है। यह बात इस मनुवाक्यके भी विरुद्ध नहीं है कि " परवश सभी विषय दुःख हैं, और आत्मवश सभी विषय सुख हैं।" (सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्। मनु ४।१६०)।

क्योंकि अभाव और अपूर्णता ही हमारे परवश होनेमें कारण है और पूर्णता प्राप्त होनेसे ही हम आत्मवश हो सकते हैं।

ज्ञानलाभके द्वारा जो दुःखकी निवृत्ति और सुखकी वृद्धि होती है वह इसी तरह होती है। पहले तो ज्ञानलाभके साथ साथ, जो हम नहीं जानते थे वह जान लिया, यह समझकर जो अपूर्व आनन्द होता है, वह थोड़े सुखका कारण नहीं है। यह सुख ही विश्वनियन्ता ईश्वरके शुभकर नियमके अनुसार विद्यार्थीके ज्ञानोपार्जनके लिए होनेवाले श्रमको कम करता है। दूसरे, ज्ञानके द्वारा हमारे दुःखका कारण जो सब तरहका अभाव और अपूर्णता है उसे हम जान सकते हैं और उसको दूर करनेका उपाय निकाल सकते हैं। अभाव और अपूर्णतासे उत्पन्न दुःखका अनुभव ज्ञानी और अज्ञानी सभी करते हैं; किन्तु उस दुःखके कारणका निर्देश और उसे दूर करनेका उपाय खोज निकालनेके लिए उपयुक्त ज्ञान-लाभका प्रयोजन है। तीसरे, जहाँ दुःख अनिवार्य है वहाँ पर भी ज्ञानके द्वारा उस दुःखके अनिवार्य होनेकी उपलब्धि होनेसे उस दुःखकी सम्पूर्ण निवृत्ति भले ही न हो, उसमें बहुत कुछ कमी हो जाती है। जो दुःख अनिवार्य जाना जाता है उसे दूर करनेके लिए पहले वृथा चेष्टा, या दूर करनेकी चेष्टा नहीं हुई—यह सोचकर वृथा पश्चात्ताप करके क्लेश पाना नहीं होता। चौथे, यथार्थ ज्ञान प्राप्त होनेपर ये दो बातें हृदयंगम हो जाती हैं कि संसार और सांसारिक सुखदुःख अनित्य हैं, और आत्माकी उन्नति करना ही नित्य सुखका एकमात्र कारण है। इसीसे क्रमशः सब दुःखोंका विनाश होता है, और सभी अवस्थाओंमें परम आनन्दका अनुभव करनेका अधिकार उत्पन्न होता है।

ज्ञानलाभके द्वारा ऊपर कहे गये चार तरहके फलोंकी प्राप्तिमें अनेक बाधाएँ हैं, और उसीके लिए अनेक स्थलोंमें उक्त फलोंकी प्राप्ति नहीं होने पाती। अब उन सब बाधाओंके और उनके कारण यथार्थ फल-लाभकी रुकावटके बारेमें कुछ बातें कही जायँगी।

ज्ञानलाभके साथ साथ जो आनन्दलाभ होना चाहिए, उसके सम्बन्धमें तीन प्रधान बाधाएँ हैं। जैसे १—शिक्षा-विभ्राट्, २—परीक्षा-विभ्राट् और ३—उद्देश्यविपर्यय।

. शिक्षाविभ्राट् अनेक प्रकारका है । जैसे शिक्षार्थीकी सीखनेकी शक्ति और अधिकारसे अधिक शिक्षा, शिक्षककी सिखानेकी शक्तिसे अधिक शिक्षा, शिक्षार्थीके लिए जो विषय अनावश्यक हैं उनकी शिक्षा, अकारण कठोर प्रणालीके द्वारा शिक्षा, इत्यादि । इस विषयमें पहले अनेक बातें कही जा चुकी हैं; इस समय यहाँपर फिर अधिक कहनेका प्रयोजन नहीं ।

परीक्षा-विभ्राट् प्रधानरूपसे यह है कि परीक्षार्थीने पढ़े हुए विषयको कहाँ-तक जान पाया है—इसकी परीक्षा न लेकर इस बातका परिचय लेनेकी चेष्टा कि वह कहाँतक नहीं जान सका, और परीक्षक तथा परीक्षा देनेवालेके बीचमें एक प्रकार परस्पर-विरुद्ध सम्बन्धकी सृष्टि करना । परीक्षार्थी जैसे पग पग पर परीक्षकको धोखा देनेके लिए तयार है, इस तरह समझकर, सरल प्रश्न छोड़कर कूटप्रश्न करनेसे, परीक्षार्थी भी सरलभावसे ज्ञान प्राप्त करनेमें प्रवृत्त न होकर, जिसमें वह कूटप्रश्नका उत्तर देनेको समर्थ हो उसी राहमें फिर पड़ता है ।

इन दोनों विभ्राटों (गोलमाल) का फल यह होता है कि ज्ञानलाभ आनन्ददायक नहीं होता, बल्कि कष्टकर हो उठता है ।

उद्देश्य-विपर्यय जो है वह ज्ञानलाभजनित आनन्दके अनुभवकी एक प्रधान बाधा है; शिक्षार्थी मनुष्य अगर निष्पाप चित्तसे-निर्दोष भावसे ज्ञानके उपार्जनमें प्रवृत्त हो, तभी उसे ज्ञान-लाभमें आनन्द होगा । ऐसा न होकर अगर वह किसी कु-अभिसन्धिको सिद्ध करनेके लिए किसी विषयका ज्ञान प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है, तो उसे शंकित भावसे ज्ञानोपार्जन करना होता है, और उस ज्ञानलाभके साथ ज्ञानका कुछ भी संसर्ग नहीं रह सकता । ऐसी जगह पर केवल यही बात नहीं होती कि ज्ञानका उपार्जन ज्ञान-प्रार्थीके लिए आनन्ददायक न हो, बल्कि वह सर्व साधारणके गुरुतर अनिष्टका कारण भी हो सकता है । उस भावी अनिष्टको रोकनेके लिए पूर्वकालमें शिक्षक लोग वह विद्या सत्पात्र विद्यार्थीके सिवा और किसीको नहीं देते थे, जिसका प्रयोग अन्यका अनिष्ट करनेमें हो सकता है । वर्तमान समयमें यह बात संभव नहीं है । इस समय शिक्षाका प्रचार बढ़ गया है । इस समय केवल गुरुमुखसे पढ़कर ही विद्या नहीं प्राप्त की जा सकती, पुस्तक पढ़कर भी सीखी जा सकती है । इस समय अनिष्टसाधनमें जिनका प्रयोग किया जा सकता है

उन वस्तुओंका क्रय-विक्रय आईन और राजशासनके द्वारा शासित करनेके सिवा उक्त प्रकारके अनिष्टको रोकनेका और उपाय नहीं है।

ज्ञानोपार्जनके साथ आनन्दलाभकी जिन तीन बाधाओंका उल्लेख किया गया है, उनमेंसे अन्तिम बाधा ज्ञानकृत पापसे उत्पन्न है, और इस तरहकी बाधा साधारणतः सब तरहके शुभ फलोंको नष्ट कर देती है। अतएव उसके बारेमें विशेष कुछ कहनेको नहीं है। वह सब धर्मोंके विरुद्ध और सर्वत्र घृणित है। अन्य जिन दो बाधाओंका उल्लेख हुआ है वे वैसी नहीं हैं। उनका मूल भ्रान्ति है, ज्ञानकृत पाप नहीं। शिक्षाका जो फल होनेका नहीं, उसे जटिल और कठिन नियमोंके द्वारा संघटित करनेकी दुराकांक्षा ही उस भ्रमकी जड़ है। वह एक प्रकारका वृथा अभिमान है। और जैसे अन्यत्र वैसे ही इस जगह भी वृथा-अभिमान अनेक अनिष्टोंकी जड़ है।

जो अभाव और अपूर्णताएँ हमारे दुःखकी जड़ हैं उन्हें ज्ञानलाभके द्वारा जान सकनेपर भी जो अनेक जगह उनकी पूर्तिके उपयुक्त उपाय काममें नहीं लाये जाते, उसका कारण खोज कर देखनेसे जान पड़ता है कि वह कारण कभी भ्रम, कभी अभिमान, कभी लोभ और कभी किसी अन्य असाधु प्रवृत्तिकी उत्तेजना हुआ करती है। इस विषयके दो-एक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

मादक-द्रव्य-सेवन।

प्रायः सभी जानते हैं और स्वीकार करते हैं कि केवल दवाके लिए छोड़कर अन्य किसी कारणसे नशीली चीजोंका सेवन, कमसे कम ग्रीष्म-प्रधान देश (जैसे भारत) में अत्यन्त अनिष्टकर होता है। अर्थनाश, स्वास्थ्यनाश, दुष्कर्ममें प्रवृत्ति आदि अनेक प्रकारके घोर अनिष्ट नशीली चीजोंके सेवनसे होते हैं। किन्तु उन सब अनिष्टोंको रोकनेके लिए हम किन उपायोंको काममें लाते हैं? यह सच है कि जगह जगह मद्यपाननिवारिणी सभाएँ हैं और उन सब सभाओंके मेंबर लोग बीच बीचमें मदिरापानके विरुद्ध तर्क-वितर्क करते हैं और राजकर्मचारियोंके निकट मद्यपान रोकनेके लिए अनेक उपायोंका प्रयोग करनेकी प्रार्थना करते हैं। किन्तु प्रायः किसी भी सुसभ्य राज्यमें सुरापाननिवारणके लिए कार्य करनेवाली नियमप्रणाली नहीं देख पड़ती।

बहुत लोगोंका खयाल है कि मद्यपाननिवारणके लिए कठोर राजशासन विधिविरुद्ध और निष्फल है। वे समझते हैं, सुरापान इतने दोषकी आदत

नहीं है कि राजशासनके द्वारा उसे रोकना उचित समझा जाय। वे कहते हैं, खाने--पीनेके बारेमें लोगोंकी स्वाधीनताके ऊपर हस्तक्षेप करना अन्याय है। वे यह भी कहते हैं कि लोगोंकी मादक-सेवनप्रवृत्ति इतनी प्रबल है कि उसे राजशासनके द्वारा बंद करनेकी चेष्टा किसी तरह भी सफल नहीं हो सकती। इसलिए उनके मतमें मादक पदार्थ तैयार करनेपर और उसकी 'खरीद फरोख्त' के ऊपर 'कर' बाँधकर उसका मूल्य बढ़ा दो। बस, इस तरह उसके बननेको और इस्तेमालको अनुशासित करके जहाँतक उसका चलन रोका जा सकता है रोको। इससे अधिक चेष्टा करना वृथा है। किन्तु मुझे ये सब बातें संपूर्णरूपसे अकाट्य नहीं जान पड़तीं।

अगर मादकपदार्थका सेवन गुरुतर दोषका कारण न हो तो राजशासनके द्वारा उसका प्रचार रोकनेकी चेष्टा वाञ्छनीय नहीं हो सकती। किन्तु मादक पदार्थके सेवनसे जो सब घोरतर अनिष्ट होते हैं उनपर दृष्टि डालनेसे यह बात किसी तरह नहीं कही जा सकती कि वह गुरुतर दोषका कारण नहीं है।

खाने-पीने और अन्य अनेक विषयोंके सम्बन्धमें लोगोंकी स्वाधीनतामें हस्तक्षेप करना अन्याय है, इसमें कोई सन्देह नहीं। मगर किसी तरहके बल-प्रयोग द्वारा मादक पदार्थ सेवन करनेवालोंकी स्वाधीनताके ऊपर हस्तक्षेप करना, अत्यन्त प्रयोजनीय स्थलके सिवा अन्यत्र, कोई नहीं चाहता और न कोई उसका अनुमोदन ही करता है। तो भी मादक पदार्थको पैदा करना या बनाना और उसका क्रय-विक्रय, केवल कर लगाने और बढ़ानेके द्वारा अनुशासित न होना चाहिए, वह विष तैयार करने और बेचने-खरीदनेकी तरह, अधिकतर कठिन राजनियमके द्वारा रोका जाना चाहिए। कमसे कम ऐसा करना अत्यन्त वाञ्छनीय जान पड़ता है। केवल कर लादने या बढ़ानेसे एक तरफ दाम बढ़ जानेके कारण मादक द्रव्य गरीबोंके लिए कुछ दुर्लभ अवश्य हो जाते हैं, लेकिन धनीके लिए इसका कुछ फल नहीं होता। और दूसरी तरफ सरकारी खजाना भरनेके लिए अनेक राजकर्मचारी मादक पदार्थको सर्वसाधारणके लिए सुलभ करनेका यत्न कर सकते हैं।

स्वाधीनताके ऊपर हस्तक्षेपके बारेमें और एक बात है। एककी स्वाधीनता जब दूसरेके लिए अनिष्टकर होती है तब उस स्वाधीनताके ऊपर हस्त-

क्षेप करना समाज और राजाके लिए प्रयोजनीय हो उठता है। अगर कहा जाय कि मादक पदार्थ सेवन करनेवाला अन्यका अनिष्ट नहीं करता, केवल अपना ही अनिष्ट करता है, तो उसका उत्तर यह है कि पहले तो यही बात ठीक नहीं कि मादक पदार्थ सेवन करनेवाला मनुष्य केवल अपना ही अनिष्ट करता है। वह कमसे कम अपने परिवार और परोसीके लिए अनिष्ट और अशान्तिका कारण तो अवश्य ही बन जाता है। इसमें रत्ती भर सन्देह नहीं। इसके सिवा अगर यह स्वीकार कर लें कि वह केवल अपना ही अनिष्ट करता है तो भी यह नहीं कहा जासकता कि उसके कार्यमें हस्तक्षेपका अधिकार दूसरेको नहीं है। अगर आत्महत्या करनेवालेकी स्वाधीनताको रोकना अन्याय नहीं है तो जो नशेबाज अपने स्वास्थ्य और ज्ञानको नष्ट करनेमें लगा हुआ है उसे उस कार्यसे निवृत्त करनेमें जो कुछ उसकी स्वाधीनतामें हस्तक्षेप हो उसे अन्याय नहीं कह सकते।

मादक पदार्थ सेवन करनेकी प्रवृत्ति अतीव प्रबल हुआ करती है; अतएव उसको रोकनेके कठिन नियम निष्फल हो जानेकी संभावना है, यह आपत्ति अवश्य ही विचार करनेकी बात है। जो नियम निश्चय ही तोड़ा जायगा, उसे चलाना केवल निष्फल नहीं, अनिष्टजनक भी है। कारण, दोषको रोकना जो उसका उद्देश्य था वह तो रह ही गया, उसके ऊपर नियमलंघनके कारण और एक दोषकी उत्पत्ति हुई। इतना ही नहीं, नियमलंघनापराधके दण्डसे बचनेके लिए झूठ-फरेब आदि और भी अनेक प्रकारके दोष बढ़ गये।

अतएव लोगोंकी असाधु-प्रवृत्तिको पहले उपदेशके द्वारा कुछ-कुछ संशोधित करके उसके बाद कठिन नियमकी स्थापनाके द्वारा उसके निवारणकी चेष्टा युक्ति-सिद्ध है। किन्तु दूसरी ओर यह भी स्मरण रखना होगा कि जहाँ प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल है वहाँ केवल उपदेश-वाक्यके अधिक फलप्रद होनेकी संभावना नहीं रहती। ऐसे स्थल पर उस प्रवृत्तिको चरितार्थ करनेमें जिससे बाधा हो, ऐसे नियमकी सहायता आवश्यक है। उस नियमके एकदम निष्फल होनेकी कुछ भी आशंका नहीं है। कारण, प्रबल प्रवृत्ति जैसे अपनेको चरितार्थ करनेके लिए लोगोंको उत्तेजित करती है, वैसे ही उपयुक्त पदार्थके अभावमें चरितार्थ न हो सकने पर धीरे धीरे क्षीण भी हो जाती है। मगर हाँ, ऊपर कहे गये नियमको अत्यन्त सावधान और सतर्क हो कर

ठीक करना आवश्यक है। जिससे सहजमें उसका लंघन न किया जाय, और लंघन करने पर वह सहज ही पकड़ लिया जाय, ऐसे नियमका प्रयोजन है।

अभाव और सुख।

ज्ञान-लाभके द्वारा हमारी आवश्यकताओंकी और अपूर्णताओंकी पूर्ति होकर जिससे सच्चा सुख बढ़े, वही वांछनीय है। किन्तु दुःखका विषय यह है कि ऐसा न होकर अनेक जगह ज्ञानलाभके द्वारा नवीन अभावोंकी सृष्टि होती है। एक साधारण दृष्टान्तके द्वारा यह बात स्पष्ट समझमें आ जायगी। पचीस-तीस वर्ष पहले, जब चायकी खेतीको इस देशके लोग अच्छी तरह नहीं समझते थे, तब चायका चलन भारतवासियोंमें बहुत ही कम था। लेकिन इस समय इस देशमें चाय पीना इतना प्रचलित हो गया है कि क्या अमीर और क्या गरीब, सबमें अधिकांश लोग ऐसे हैं कि वे चाय पिये बिना नहीं रह सकते; यद्यपि चाय अनेकोंके लिए पुष्टिकारक न होकर अपकार करनेवाली ही है (१)। और, अनेक लोगोंकी अवस्था ऐसी है कि चाय पीनेमें जो खर्च होता है वह प्रयोजनीय आहारकी चीजोंका खर्च कम करके उससे करना पड़ता है। जब चायकी खेतीको हम नहीं जानते थे तब चायका अभाव ही नहीं जान पड़ता था। इस समय चायकी खेती जानकर हमने चाय पीनेकी स्पृहासे उत्पन्न एक नये अभावकी सृष्टि कर ली है, और चाय पीनेके द्वारा उत्पन्न असुस्थता हमारे अपूर्ण शरीरकी अपूर्णताको और भी बढ़ा रही है। फिर आश्चर्यका विषय यह है कि शिक्षित समाजमें चाय पीनेका अभ्यास भी सभ्यताका एक लक्षण गिना जाता है। बहुत लोग समझते हैं कि अभावका कम होना सभ्यताका लक्षण या सुखका कारण नहीं है। मनुष्यकी उन्नतिके साथ साथ अभावोंकी और उसकी पूर्तिमें सुखकी वृद्धि होती है। एक पाश्चात्य कविने कहा है—" जिसके अभाव कम हैं उसको सुख भी थोड़ा मिलता है। अभावसे आकांक्षा बढ़ती है, और अभावकी पूर्तिसे सुख होता है।" (२)

यह बात सच है कि ज्ञानवृद्धि तथा शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नतिके साथ साथ हमारा अभावबोध और उसे पूर्ण करनेकी

(१) Dr. Weber's Means for the Prolongation of Life, P.51

(२) Goldsmith's Traveller, Lines 211—214 देखो।

क्षमता बढ़ती है । मनुष्य आदिमें असभ्य अवस्थामें सुसज्जित निवास-स्थान, स्वादयुक्त आहार और सुन्दर.पोशाकके अभावका अनुभव नहीं करता, और अनुभव करने पर भी उसकी पूर्ति करनेमें असमर्थ रहता है । क्या बच्चा और क्या असभ्य मनुष्य, सभी अनुभव करनेकी शक्तिके अनुसार जो सुखदायक है उसे पानेकी इच्छा करते हैं, और उसे न पाने पर उसके अभावका अनुभव करते हैं । किन्तु कौन पदार्थ सुखदायक है, इस विषयकी अनुभवशक्ति ज्ञान बढ़नेके साथ साथ परिवर्तित और परिवर्द्धित होती रहती है, और सुख तथा सुखदायक पदार्थोंका आदर्श भी क्रमशः उच्चसे उच्चतर होता जाता है । किन्तु केवल इसी लिए यह बात नहीं स्वीकार की जा सकती कि भोगकी लालसा बढ़ाना और बहुत संख्यामें भोग्य वस्तुएँ तैयार करना, या उन्हें भोग करना सभ्यताका लक्षण अथवा सुखका कारण है । पहले तो यह याद रखना चाहिए कि भोगजनित सुख क्षणिक होता है, और उसके द्वारा जो भोगकी लालसा बढ़ती है वही फिर सुखके विनाशका कारण हो उठती है । मनु भगवानने सत्य ही कहा है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

(—मनु २।९४)

अर्थात् भोगकी वासना भोग करनेसे कभी शान्त नहीं होती । घीकी आहुति पड़नेसे अग्निकी तरह वह उससे और भी अधिक प्रज्वलित हो उठती है ।

दूसरे, अनेक प्रकारके अभाव अनुभव करनेकी, उत्तम उत्तम पदार्थोंका उपभोग करनेकी, आर वे सब वस्तुएँ तैयार करनेकी शक्तिका रहना वाञ्छनीय है सही, लेकिन उस शक्तिका निरन्तर व्यवहार कभी वाञ्छनीय नहीं है । अच्छे खाद्यका अभाव अनुभव करनेकी, और चखकर बुरे खाद्यको त्याग करनेकी, और खाद्य पदार्थके रसका सामान्य प्रभेद जाँचनेकी शक्ति रहना वाञ्छनीय है, किन्तु केवल इसी लिए दिनरात अच्छे खाने-पीनेके पदार्थोंके खाने-पीनेमें ही लगे रहना वांछनीय नहीं है । यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि अच्छे खाद्य पदार्थ तैयार करनेकी शक्तिके निरन्तर व्यवहारमें दोष क्या है ? इसका उत्तर यह है कि

रसनाको तृप्ति देनेवाले खाद्य पदार्थको आवश्यकतासे अधिक मात्रामें तैयार करनेसे एक प्रकारसे लोगोंका लोभ बढ़ाया जाता है, धनीको अति भोजनका प्रश्रय दिया जाता है, निर्धनके लिए प्रयोजनीय आहारका अभाव खड़ा किया जाता है। अगर कोई कहे कि सुखदायक पदार्थके उपभोगकी वासना समाजमें न रहनेसे अच्छे पदार्थ तैयार करनेके लिए कोई यत्न नहीं करेगा, और शिल्प आदि कलाविद्याओंकी उन्नति न होगी, तो इसका उत्तर यह है कि कोई वासनाओंको एकदम त्याग करनेके लिए नहीं कहता; कहनेसे भी यह बात हो नहीं सकती। तो भी वासनाका संयत होना उचित है, और वह संयतभाव धारण करनेसे जितनी मात्रामें भोगकी वासना रहेगी वही शिल्प आदि कलाविद्याओंकी उन्नति करनेमें यथेष्ट उत्साह देगी। और एक बात है। लोग अपने भोग करनेके लिए व्याकुल न होकर भक्तिभाजन और प्रीतिपात्र लोगोंके भोगके लिए अगर उत्तम पदार्थोंकी खोज करें, तो उत्तम वस्तुके प्रति अनुराग दिखाना और उसे तैयार करनेके लिए उत्साह देना, दोनों काम यथेष्टरूपसे हों, और साथ ही लोग विलासी न होकर स्वार्थत्यागका पाठ भी पढ़ें। पूर्वसमयमें हिन्दू समाज और अन्य अनेक शिक्षित समाजोंमें यही भाव प्रबल था। उस समय लोग सुशोभित और सुसज्जित घर बनवानेकी इच्छको देवमन्दिर और सर्वसाधारणके कामोंके लिए समर्पित भवन बनवा कर पूर्ण करते थे, और अपने रहनेके लिए साधारण लेकिन साफ-सुथरा हवादार घर बनवाकर सन्तोष प्राप्त करते थे और उसीको यथेष्ट समझते थे। वे लड़के-लड़कियोंको सुन्दर पोशाक पहना कर आप साधारण लेकिन सुरुचिसंगत शुद्ध वस्त्र पहनते और उसीमें सन्तुष्ट होते थे। और, इस तरह जो धन बचाया जा सकता था वह जलाशय खुदवानेमें, अतिथिशाला (धर्मशाला) स्थापित करनेमें, अर्थात् इसी तरहके सर्वसाधारणके लिए हितकर कामोंमें खर्च किया जाता था। सभीको बड़े और सुसज्जित महलमें रहना चाहिए, चटोरी जीभको तृप्त करनेवाला भोजन करना चाहिए, शौकीनीकी बढ़िया पोशाक पहननी चाहिए, ऐसा न हुआ तो हममें सभ्यता ही क्या आई, ये ही तो सभ्यताके लक्षण हैं; ये बातें उन लोगोंकी नहीं है जो समाजका हित चाहते हैं और यथार्थ ज्ञानी हैं। स्वार्थसाधनमें तत्पर और पेशेदार लोग ही ऐसी बातें कहते हैं।

तीसरे, ज्ञानवृद्धिके साथ साथ सुखका और सुखदायक वस्तुका आदर्श क्रमशः उच्च होता रहता है, कमसे कम यह कहा जा सकता है कि उच्च होना चाहिए, किन्तु भोग और भोग्य वस्तुकी अधिकता ही उस आदर्शकी उच्चताका लक्षण नहीं है। उच्च आदर्शका सुख वही कहा जा सकता है, जो क्षणिक या अन्यका अनिष्ट करनेवाला न हो, और उच्च आदर्शकी भोग्य वस्तु वही कही जा सकती है जो उस उच्च आदर्शके सुखका कारण हो, और जिसे प्राप्त करनेमें पराई प्रत्याशा या अन्यका अनिष्ट न करना पड़े। इन्द्रिय-सुख जितने हैं सभी क्षणिक हैं। जब तक इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तुका भोग किया जाता है तभी तक उस सुखका अनुभव होता है, उसके बाद फिर वह सुख नहीं रहता, और उस बीते हुए सुखकी स्मृति सुखदायिनी न हो कर दुःख ही देती है। किन्तु सत्कर्म करनेसे उत्पन्न सुख उस तरहका क्षणिक नहीं होता और उसकी स्मृति भी सुख देनेवाली होती है। इसके सिवा इन्द्रियोंकी भोगशक्ति भी सीमाबद्ध है। इन्हीं कारणोंसे इन्द्रिय-सुख कभी उच्च आदर्श-का सुख नहीं हो सकता। इन्द्रिय-सुखके उपयोगमें आनेवाली वस्तु भी कभी उच्च आदर्शकी भोग्यवस्तु नहीं है। उसे प्राप्त करनेके लिए दूसरेकी प्रत्याशा करनी पड़ती है—औरका मुँह ताकना पड़ता है। इसके सिवा पृथ्वीका परिमाण बहु विस्तृत होने पर भी अच्छे दर्जेकी भोग्य वस्तुका परिमाण असीम नहीं है। अतएव एक आदमी अगर अधिक परिमाणमें अच्छी वस्तुका भोग करेगा तो साक्षात् सम्बन्धसे अथवा प्रकारान्तरसे अन्यकी भोग्य वस्तुका परिमाण संकीर्ण करना होता है, और इसी कारण अन्यका अनिष्ट भी उसके द्वारा होता है। इस तरहकी भोग्यवस्तु उच्च आदर्शकी भोग्य वस्तु कभी नहीं हो सकती।

कुग्रन्थ-प्रचार।

कभी कभी ज्ञानकी वृद्धिके साथ साथ अशुभका निवारण न होकर उसके विपरीत फल होता है। इसका एक सामान्य दृष्टान्त है कुरुचिसे प्रेरित होकर लिखे गये उन साहित्य-ग्रन्थोंका अपरिमित प्रचार जिनसे कुप्रवृत्तियोंको उत्तेजना मिलती है। जिस समय सृष्टि नहीं हुई थी और शिक्षित लोगोंकी संख्या अल्प थी, उस समय ग्रन्थोंका प्रचार भी थोड़ा था। इसी कारण बुरी पुस्तकें पढ़नेके द्वारा लोगोंका अनिष्ट होनेकी सम्भावना भी कम थी।

इस समय प्रेसोंके द्वारा ग्रन्थोंके प्रचारमें सुभीता हो गया है, और लिखे पढ़े लोगोंकी संख्या भी बढ़ गई है। इस कारण जो ग्रन्थ प्रकाशित होते हैं उन्हें अनेक लोग पढ़ते हैं, और यह सुखका विषय है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु यह लगातार सुखहीका विषय नहीं है, इसमें दुःख भी शामिल है। कारण, अनेक ऐसे ग्रन्थ लिखे जाते हैं जिनको लिखे जानेका कारण केवल कुरुचिकी प्रेरणा है, और जिनसे कुप्रवृत्तियोंको उत्तेजना मिलती है और सहज ही समझमें आनेवाली तथा शुरूमें आनन्द देनेवाली होनेके कारण ऐसी ही पुस्तकें अधिक पढ़ी जाती हैं। जिनमें स्पष्टरूपसे अश्लीलता भरी है वे पुस्तकें राजशासनके अधीन हैं, और सभ्य समाज प्रकाश्यरूपसे उन्हें पढ़ नहीं सकता। स्पष्ट कुष्ठरोगग्रस्त आदमीकी तरह लोगोंके द्वारा वे परित्यक्त होती हैं। लेकिन जिन पुस्तकोंमें अश्लीलता प्रच्छन्न भावसे रहती है, वे अलक्षित कुष्ठरोगीकी तरह परित्यक्त न होकर, सबके पास आ-जासकती हैं, और अन्तको उनकी संक्रामक व्याधि सर्वत्र फैलकर तरह तरहके अनिष्ट करती है।

सामाजिक और राजनीतिक विप्लव।

ज्ञानवृद्धिके साथ साथ अशुभकी वृद्धिका और एक उदाहरण उद्धत उच्छृंखलता और सामाजिक व राजनीतिक विप्लव है।

जन-समाजमें जितने दिन ज्ञानकी चर्चा थोड़ी रहती है उतने दिन सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन भी कम ही रहता है, और विशेष गुरुतर कारण उपस्थित हुए विना सामाजिक तथा राजनीतिक विप्लव घटित नहीं होता। ज्ञानवृद्धिके साथ साथ लोग अपने अपने स्वार्थ, अपने अपने अधिकार और देशके लिए क्या शुभ है और क्या अशुभ है—इन सब विषयोंके आन्दोलनमें प्रवृत्त होते हैं, साथ ही अपना और देशका मंगल करने तथा अमंगल मिटानेके उपाय सोचते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ये सब ज्ञानलाभके सुफल हैं। किन्तु इनके साथ ही अति अनिष्ट करनेवाले कुफल भी मिले हुए हैं। कुछ अल्पबुद्धि, अस्थिरचित्त, उद्धत, अविवेचक लोग समझते हैं कि वर्तमान अवस्थामें जो कुछ असुखकर है उसे एकदम समाज या राजतन्त्रसे छलबल-कौशलसे, चाहे जिस तरह हो, दूर करके, उसके बदलेमें, उनकी कच्ची समझमें जो कुछ सुखकर है उसके स्थापनाकी चेष्टा ही समाजसंस्कारक और

स्वदेशानुरागीका श्रेष्ठ धर्म है । वे नहीं समझते कि पुरानेके संस्कार और नयेकी सृष्टिमें कितना बड़ा अन्तर है । नई भूमिमें नई इमारत बनाना सहज है । पुरानी इमारतको तोड़कर गिराकर उस भूमिको साफ करके उसके ऊपर नई इमारतको खड़ा करना, कुछ अधिक श्रम और धनव्ययसे साध्य होने पर भी, कठिन नहीं है । लेकिन पुरानी इमारतको बिल्कुल न गिराकर केवल उसके टूटे और जीर्ण भागकी मरम्मत करना और उस समय उसी घरमें रह-कर वह मरम्मत करना अत्यन्त कठिन कार्य है और यह काम करनेके लिए अत्यन्त सावधानीकी जरूरत है । पुराने समाज और प्रचलित राजतन्त्रका संस्कार भी वैसा ही कठिन कार्य है, और उसमें भी वैसी ही सावधानताकी जरूरत है । समाज और राजतकको अच्छा बनानेके लिए उसे बलप्रयोगके द्वारा अगर बिल्कुल गिरा देनेकी चेष्टा की जाती है तो उसका फल यह होता है कि जितने दिनतक नवीन समाज या नया राजतन्त्र संगठित नहीं होता, उतने दिनतक उस नवीन संगठनकी अनिश्चित आशामें स्वेच्छाचार और अराजकता आदि निश्चित अशुभ फल भोगने पड़ते हैं । यह और भी दुःखका विषय है कि इस श्रेणीके राजनीतिक संस्कार करनेवाले लोग अपने उद्देश्यको अच्छा बताकर उसे सिद्ध करनेके लिए बुरे उपायोंको भी काममें लाते नहीं हिचकते । सुना जाता है, अनेक सुशिक्षित लोग यूरोपमें गुप्त विप्लवकारियों (Anarchi-sts) के दलमें शामिल हैं, और वे बिना किसी संकोचके भयानक हत्या-काण्डोंमें प्रवृत्त होते हैं । और, व्यथित चित्तसे देखना पड़ता है कि धर्मभीरु और स्वभावहीसे करुण-हृदय भद्र हिन्दुओंकी सन्तानोंमें भी कोई कोई ऐसे अत्यन्त निन्दित नीच कार्यमें लिप्त हो रहे हैं । वे कहते हैं, " अमंगलको बिल्कुल त्याग कर देनेसे मंगलकी आशा भी छोड़ देनी पड़ती है । अशुभसे शुभकी उत्पत्ति होना ही प्रकृतिका नियम है । जो प्रचण्ड आँधी बड़े-बड़े वास्तु-वृक्षोंको गिरा देती है, उसीसे वायुमण्डल साफ होता है । जो भीषण बहिया (बाढ़) निवासस्थानसहित जीवजन्तुओंको बहा ले जाती है, उसीके द्वारा पृथ्वीके ऊपरकी मलिनता (गंदगी) धुल जाती है और उपजाऊ शक्ति बढ़ती है । " ये सब बातें सच हैं । और, यह भी सच है कि कोई भी विप्लव अकारण नहीं होता । देशकी अवस्था और देशकी शिक्षा-प्रणालीमें अवश्य ही ऐसा कोई दोष होगा, जिसके कारण विप्लवकारी लोग विप्लव कर-

नेके लिए उत्तेजित होते हैं। किन्तु केवल इसी लिए यह कभी नहीं कहा जासकता कि विप्लव अच्छी चीज है। अन्धप्रकृति (Nature) के कार्यसे आंधी और बढ़िया आदि आती हैं। अज्ञ जनसाधारणकी उत्तेजित और असंशय प्रवृत्तिकी प्ररोचनासे विप्लव होता है। आर, उन सब अशुभोंसे शुभ भी होता है। लेकिन उसी तरह अशुभसे शुभसंघटनकी ज्ञानकृत चेष्टा कभी अनुमोदनके योग्य नहीं है। ज्ञानका कार्य है अन्धशक्तिको सुमार्गमें चलाना। अज्ञ जीव केवल प्रवृत्तिकी प्ररोचनासे कार्य करता है, ज्ञानी जीव ज्ञानके द्वारा प्रवृत्तिको संयत और शासित करके काम करता है। जो अपनेको ज्ञानी समझकर अभिमान करते हैं, समाज और शासनप्रणालीके संस्कारक होना चाहते हैं, वे कभी अन्ध प्रकृतिकी दोहाई देकर, अशुभके द्वारा शुभको लावेंगे–यह कहकर, उनका उद्देश्य चाहे जितना अच्छा क्यों न हो, बुरे उपायके अवलंबनको उचित नहीं कहा जा सकता। अगर कोई कहे कि अन्ध प्रकृतिके परिचालक वही अनन्त ज्ञानमय चैतन्य हैं, किन्तु तो भी प्रकृतिके कार्यमें अशुभके द्वारा शुभ होता है, तो इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि अनन्त ज्ञान अभ्रान्त है, उसके द्वारा संचालित प्रकृतिके अशुभ कार्यसे ऐसा कोई शुभ फल निश्चय ही होगा जो हमारी अल्पबुद्धि नहीं जान सकती। किन्तु यही कहकर भ्रान्त अदूरदर्शी मनुष्यके लिए अनिश्चित शुभ फलकी आशासे निश्चित अशुभकर कार्यमें प्रवृत्त होना कभी उचित नहीं हो सकता। हम सब अपने कामके लिए जिम्मेदार हैं, कर्मका फल हमारे वशमें नहीं है। अच्छे उपायके द्वारा शुभ फल घटित करनेमें असमर्थ होने पर बुरे उपायके द्वारा उसे पानेकी चेष्टा छोड़कर चुप रहना ही हमारा एक मात्र कर्तव्य है।

जातीय विवाद—युद्ध।

ज्ञानकी वृद्धि होने पर भी सब स्थलोंमें पृथ्वीका दुःख दूर नहीं किया जा सकता। इस बातका एक और दृष्टान्त देंगे। यह बात बहुत बड़ी है, इस लिए वह कुछ संक्षेपमें संकोचके साथ ही कही जायगी।

व्यक्तिगत नीतिके अनुसार पराया धन छीनना और दूसरेको सताना, दोनों ही दोषकी बातें हैं। यह सिद्धान्त सर्ववादिसम्मत है। जातीय नीतिमें भी इस बातकी सचाईको सब लोग स्वीकार करते हैं। किन्तु दो जातियोंमें परस्पर विवाद होने पर; युद्ध अर्थात् परस्पर सताना और या पर-

धन छीनना इस समय भी सर्वत्र अनुमोदित है। युद्धके अनुकूल पक्षमें अवश्य ही यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति व्यक्तिमें विवाद उपस्थित होने पर राजा या राजप्रतिनिधि उसका फैसला कर देते हैं, किन्तु जाति जातिमें विवाद उपस्थित होने पर कोई भी राजा उसका फैसला करनेवाला नहीं हो सकता। उसकी अंतिम मीमांसा युद्ध ही करता है। दो जातियोंमें परस्पर विवाद उपस्थित होने पर युद्धके सिवा और उपाय नहीं है। अतएव युद्ध भला हो या बुरा, समय समय पर वह अनिवार्य होता है। सभ्य जाति और असभ्य जातिमें परस्पर विवाद होने पर, जान पड़ता है, इस बातको सत्य ही मानना पड़ेगा। तो भी उस अवसर पर अगर सभ्य जाति कुछ विवेचनासे काम ले, तो युद्धकी भयानकता बहुत कुछ कम हो सकती ह। कारण, वर्तमान सभ्य और असभ्य जातियोंकी अवस्थाको विवेचनापूर्वक देखनेसे समझ पड़ता है, सभ्य और असभ्यका युद्ध, सबल और दुर्बलका संग्राम, सबल और सभ्यके कुछ सदय-भाव धारण करने पर, शीघ्र ही समाप्त होना संभवपर है। किन्तु दो सभ्य जातियोंमें परस्पर विवाद होने पर उस जगह युद्धके सिवा और दूसरा उपाय नहीं है—यह बात स्वीकर करते चित्तको व्यथा होती है। कारण, यह बात स्वीकार करनेके साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि जो लोग सभ्य और सुशिक्षित हैं वे भी अपने विवादकी जगह स्वार्थ या अभिमानके मोहमें अंधे होकर न्यायके मार्गको नहीं देख पाते। ऐसी जगह पर कमसे कम एक पक्ष मोहसे अंधा न हो, तो विना युद्धके झगड़ा मिटनेमें किसी बाधाका रहना संभव नहीं। दो सभ्य जातियोंके शीर्षस्थानीय पुरुषोंमें न्यायमार्ग निश्चित करनेके लायक विद्या, बुद्धि और सत्-विवेचनाका अभाव नहीं रह सकता। अतएव जो वे निःस्वार्थ भावसे झगड़ेका फैसला करनेके लिए यत्न करें और अपनी दुराकांक्षाको छोड़ दें, तो युद्धका प्रयोजन नहीं रह सकता। समय समय पर अवश्य ऐसा हो सकता है कि अत्यन्त सूक्ष्म भावसे देखने पर दोनों प्रतिद्वन्द्वियोंमेंसे किसका कथन कहाँतक न्यायसंगत है, यह ठीक करना कठिन होता है। किन्तु वैसे अवसरों पर युद्धसे होनेवाले भयानक अनिष्टको रोकनेके लिए दोनों पक्षोंका, कुछ हानि स्वीकार करते हुए जरा स्थूल सिद्धान्त मान लेना ही क्या बुद्धिमत्ताका काम नहीं है?

यह बात नहीं है कि युद्धमें अनास्था और युद्ध-निवारणके लिए व्यग्रता, केवल इस समय युद्धका अभ्यास न रखनेवाले कोमल-प्रकृति भारतीयोंका ही

गुण या दोष है। युद्धका अभ्यास रखनेवाले दृढ़-प्रकृति यूरोपियनोंमें भी यह बात देखी जाती है, और इसीसे कुछ कुछ आशाका संचार होता है कि अंतको एक दिन पृथ्वी परसे यह भयंकर अमंगल (युद्ध) एकदम उठ जायगा। सुप्रसिद्ध काउंट टाल्सटाय और महात्मा स्टेड साहबने युद्ध-निवारणके लिए अनेक युक्तिसंगत बातें लिखी और कही हैं। उन्हें एकदेशदर्शी असंयतचित्त आन्दोलनकारी कहकर अगर कोई उनकी बातोंको उड़ा देना चाहे, तो सुप्रसिद्ध अनेकशास्त्रज्ञ धीरमति अध्यापक ह्वेलकी बातें उस तरह अग्राह्य नहीं की जा सकतीं। उन्होंने किसी विवादके अवसर पर या किसी पक्षका समर्थन करनेके लिए वैसी बातें नहीं कही हैं। अपने विल (वसीयतनामे) में वे उन बातोंको लिख गये हैं, और केवल लिख ही नहीं गये, बल्कि अपने कहनेके अनुसार उन्होंने काम भी किया। उन्होंने अपने विलमें लिखा है कि उनकी दी हुई जायदादकी आमदनीसे सालाना ५०० पाउंड (७५०० रुपए) वेतन देकर केंब्रिज विश्वविद्यालय एक जातीय विधानका अध्यापक नियुक्त करे और वह अध्यापक जातीय व्यवहारशास्त्रके अनुशीलनमें नियुक्त रह कर " ऐसे नियमके निर्द्धारणका यत्न करे, जिसके द्वारा युद्धके अमंगलका ह्रास हो और अन्तको जातियोंमें परस्पर होनेवाला युद्ध एकदम बंद हो जाय। " (१)

युद्धके सम्बन्धमें एक और दुःखकी बात यह है कि प्राचीनकालमें शत्रुके प्रति धर्मयुद्धमें जिस वीरोचित व्यवहारकी विधि थी, उसका ज्ञानकी उन्नतिके साथ साथ उत्कर्ष नहीं हुआ, बल्कि जान पड़ता है कुछ अवनति ही हुई है (२)। इस समय किसी किसीके मतमें युद्धमें कपट-व्यवहार करना निषिद्ध नहीं है (३)। विज्ञानकी चर्चा और अनुशीलनके द्वारा जो सब भयानक शस्त्र-अस्त्र तैयार करनेके उपाय निकाले जा रहे हैं उनका जहाँ तहाँ प्रयोग होता है। इतने दिन तक पृथ्वी और सागर ही युद्धस्थल थे। इस समय आकाशको

(१) Cambridge University Calendar for 1903-4, Page 556 देखो।

(२) महाभारतके शान्तिपर्वका ९५ अध्याय देखो।

(३) Wheaton's International Law, 3rd Ed. Pt. 4, ch. 11, और Sidgwick's Politics, P. 255 देखो।

भी युद्धभूमि बनाने कर उद्योग हो रहा है। यह उद्योग सफल होने पर उसका परिणाम जैसा भयानक होगा, उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

युद्धके अनुकूल पक्षमें कोई कोई यह बात कहते हैं कि युद्धहीके द्वारा अधिकांश पृथ्वी क्षमताशाली और सभ्य जातियोंके हाथमें आई है, असभ्य जातियोंने सभ्य जातियोंके अधीन होकर अपनी उन्नति की है, और जहाँ किसी असभ्य जातिको वशीभूत करना असाध्य या अतिकठिन जान पड़ा है वहाँ खूनी जानवरोंकी तरह उनको विनष्ट करके पृथ्वी पर सभ्य जातिकी निवासभूमिका परिमाण बढ़ाया गया है। यह बात कुछ कुछ सत्य है सही, लेकिन संपूर्ण सत्य नहीं है। प्राचीन इतिहास इसकी पूर्ण सत्यताको नहीं प्रमाणित करता। अनेक स्थलोंमें सभ्य और असभ्यमें नहीं, सबल और दुर्बलमें युद्ध हुआ है। उसमें दुर्बल सभ्य जातिने परास्त होकर तरहतरहके कष्ट सहे हैं। पाश्चात्य पण्डितोंमें जो मत प्रचलित है उसके अनुसार "जगत्में संग्राममें योग्यतमकी जय होना ही प्राकृतिक नियम है और इसी नियमके फलसे योग्यतम जीवोंकी संख्या बढ़ कर अशुभकर जीवन-संग्रामसे जीवजगत्की उन्नति होनेका जो शुभ फल है वह उत्पन्न हो रहा है।" यह बात भी संपूर्ण सत्य कहकर स्वीकार नहीं की जा सकती।

अज्ञान जीवजगत्में यह अवश्य सत्य है, किन्तु सज्ञान जीवजगत्में संग्राम और मैत्री, विद्वेष और प्रीति, इन दोनोंकी क्रिया एकत्र चलती है। जीवकी प्रथम अवस्थामें, ज्ञानोदयके प्रारंभमें, क्षुद्र स्वार्थकी प्ररोचनासे आत्मरक्षाके लिए सब जीव परस्पर विद्वेषभावसे संग्राममें लगे रहते हैं और योग्यतमकी ही विजय होती है, किन्तु क्रमशः मनुष्यजातिकी परिणतअवस्थामें ज्ञानवृद्धिके साथसाथ एक ओर जैसे हम समझ पाते हैं कि केवल अपने स्वार्थका मुँह देखनेसे परस्परके विरोधमें किसीका भी स्वार्थ साधित नहीं होता, और असंयत स्वार्थकी उत्तेजना घटनेसे संग्रामकी प्रवृत्ति शान्त होती है, दूसरी ओर वैसे ही देख पाते हैं कि अन्यके स्वार्थ पर कुछ लक्ष्य रखनेसे परस्परकी सहायताके द्वारा अपना अपना स्वार्थ भी बहुत कुछ सिद्ध होता है, और मित्र भावका उदय भी होता है। एक ओर जैसे अत्यन्त स्वार्थपरताका अपकार समझा जा सकता है, दूसरी ओर वैसे ही वह बात समझ सकनेके फलसे हम लोगोंका परस्पर व्यवहार ऐसा होने लगता है कि अत्यन्त स्वार्थपरताका प्रयोजन कम रह जाता है।

यही बात और एक भावसे देखी जा सकती है। हम जैसे स्वार्थपरताकी प्रवृत्तिके द्वारा अपने हितसाधनके लिए उत्तेजित होते हैं वैसे ही उधर दया-दाक्षिण्य-उपकार करनेकी इच्छा आदि प्रवृत्तियोंके द्वारा पराया हित करनेके लिए भी उत्साहित देखे जाते हैं। जो मनुष्य जितना परहितमें निरत है, वह उतनी ही पराई सहायता पाता है, और अपने स्वार्थसाधनमें निर्विघ्न रूपसे निवृत्त रह सकता है।

एक ओर याद रखना होगा कि जैसे हमारी अपूर्ण अवस्थामें पूर्ण निःस्वार्थपरता संभवपर नहीं है, वैसे ही शुभकर भी नहीं हैं। हमारी वर्तमान देहयुक्त अपूर्ण अवस्थामें कुछ स्वार्थ ऐसे हैं जिन्हें त्याग करना असाध्य है, और उन स्वार्थोंके साधनके लिए हम खुद यत्न न करें तो अभी समाज इतना उन्नत नहीं हुआ कि और लोग उसके लिए यत्न करेंगे। पक्षान्तरमें, हम अगर अत्यन्त स्वार्थपर होंगे तो अन्यके स्वार्थके साथ विरोध उपस्थित होगा, और अपने स्वार्थका साधन असाध्य हो उठेगा। जो अपना सच्चा हित चाहता है उसे निरन्तर इस समस्याकी पूर्ति करके चलना होगा कि कहाँतक अपने स्वार्थका त्याग करनेसे और पराये स्वार्थ पर दृष्टि रखनेसे यथासाध्य उच्च मात्रामें स्वार्थ लाभ हो सकता है। ऐसी जगह पूर्वकथित गणितके गरिष्ठफलनिरूपणकी बात स्मरण रखकर चलना अवश्यक है।

सच्चा स्वार्थ परार्थका विरोधी नहीं होता।

हमारा यथार्थ स्वार्थ अन्यके यथार्थ स्वार्थके विरुद्ध नहीं होगा। जो कुछ विरोध देख पड़ता है उसका कारण हमारी अपूर्णता और देहयुक्त अवस्था ही है। जो व्यक्ति या जो जाति स्वार्थ और परार्थके इस विरोधकी मीमांसा करके जीवन-संग्राम और जीवके सख्य भावका सामंजस्य स्थापित कर सकती है, और इस दृढ़ विश्वासको प्राप्त करती है कि परार्थको एकदम अग्राह्य करके अखंडित स्वार्थ लाभकी दुराकांक्षा केवल बुरी ही नहीं, बल्कि जगत्के नियमके अनुसार अपूरणीय भी है, वही व्यक्ति या जाति यथार्थमें योग्यतम होती है और उसीको विजय मिलती है। लोग सुनें या न सुनें, यथार्थ ज्ञान जो है वह स्पष्ट करके ऊँचे स्वरसे निरन्तर यही बात कह रहा है। ब्रह्मकी उपलब्धिके द्वारा ज्ञानलाभका चरम उद्देश्य सिद्ध हो या न हो, सांसारिक

सुखकी अनित्यताका बोध और आत्मोत्कर्षके साधनमें आनन्द––ये दोनों ज्ञानोपार्जनके उत्कृष्ट फल मिलें या न मिलें, इन सब उच्च श्रेणीकी बातोंको छोड़कर, कमसे कम ऊपर कहे गये स्वार्थ और परार्थके साधारण जमा-खर्चको समझ कर चलना सीखनेसे संसारके बाजारमें आकर लाभ न होगा तो अत्यन्त क्षतिग्रस्त होकर लौटना भी नहीं पड़ेगा।

जो लोग परकाल मानते हैं, उनके लिए ज्ञानका चरम उद्देश्य है जगत्‌के बन्धनसे मुक्ति मिलना और ब्रह्मकी उपलब्धि। उस चरम लक्ष्यके ऊपर दृष्टि रखकर चलनेसे मनुष्य सदा ठीक ही राह पर जायगा। और, वह चरम लक्ष्य भूल जानेसे मनुष्य संसारयात्रामें राह भटक जाता है। बहुत लोग समझते हैं, उस चरम लक्ष्य पर दृष्टि रखना जीवनकी शेष अवस्थाका विधान है, प्रथम अवस्थामें इस कर्मक्षेत्र पर लक्ष्य रखकर कर्मी होनेकी ही आवश्यकता है। वे कहते हैं, उस चरम लक्ष्य पर दृष्टि रखनेसे इस देशके लोग अकर्मण्य हो गये हैं और इस समय अत्यन्त हीन अवस्थामें आपड़े हैं। कुछ विवेचना करके देखनेसे समझमें आ जायगा कि यह आपत्ति संगत नहीं है। दूरस्थ चरम लक्ष्यको याद रखनेवाला निकटस्थ वर्तमान लक्ष्यको भूल जाय, यह बात कोई नहीं कहता। यह सच है कि अल्पबुद्धि मनुष्य एक ओर ध्यान रखता है तो उसे दूसरी ओरका खयाल नहीं रहता; किन्तु इसी कारण चरम लक्ष्यको याद रखनेके लिए कहना आवश्यक है। कारण, निकटका लक्ष्य सहज ही याद रहेगा। हाँ, एकाग्रताके साथ केवल उसी चरम लक्ष्य पर दृष्टि रखकर वर्तमान कर्तव्यको भूल जाना विधि-सिद्ध नहीं है। यद्यपि परलोक और मुक्तिलाभके साथ तुलनामें यह लोक और वैषयिक व्यापार अत्यन्त तुच्छ है, किन्तु इन तुच्छ विषयोंकी साधनाके बाद ही उन उच्च विषयोंमें अधिकार पैदा होता है। इस लोकके भीतर होकर ही परलोकके जानेकी राह है। वैषयिक व्यापारोंमें कर्तव्यपालनका अभ्यास ही मुक्तिलाभका उपाय है। यही विश्वनियन्ता जगत्पिताका बनाया नियम है। आर्यऋषियोंकी एक आश्रमके बाद दूसरे आश्रमको ग्रहण करनेके सम्बन्धकी शिक्षा है। इस नियमका उल्लंघन करनेसे, निम्नास्तरकी शिक्षाके पहले ही उच्च स्तरकी शिक्षाके योग्य समझनेसे, और विज्ञान शिक्षाकी अवहेला करके दर्शन शास्त्रकी आलोचनामें मन लगानेसे हमारी दुर्गति हुई है। अतीत कालकी

इस शिक्षाको याद रखकर, जो भ्रम हो गये हैं उनका संशोधन करके चल-ना ही हमारा इस समय कर्तव्य है। किन्तु तो भी कहता हूँ कि इस भ्रमका संशोधन करनेमें हम और भी गुरुतर किसी भ्रममें न पड़ जायँ और उस चरम लक्ष्यको न भूलें—इसका हमें ख्याल रहे। जो लोग उस चरम लक्ष्य-को भूलकर इस लोकके सुख और स्वच्छन्दताको ही जीवनका परम लक्ष्य समझते हैं, वे समृद्धिशाली हो सकते हैं, किन्तु उनकी असीम भोगलाल-सासे उत्पन्न अशान्ति, उनकी असंयत स्वार्थपरताके कारण निरन्तर कलह और परस्पर भयानक अनिष्ट चेष्टाके ऊपर दृष्टि डालनेसे वे कभी सुखी नहीं कहे जा सकते।

ज्ञान और कर्म।

द्वितीय भाग—कर्म।

उपक्रमणिका।

इस पुस्तकके प्रथम भागमें ज्ञानके सम्बन्धमें कुछ बातें कही गई हैं। अब इसके द्वितीय भागमें कर्मके सम्बन्धमें कुछ आलोचना की जायगी।

पहले कहा जा चुका है कि ज्ञान और कर्ममें परस्पर सम्बन्ध है—ये दोनों परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हैं। एककी बात (जैसे ज्ञान-विभागमें ज्ञाताकी बात) कहनेमें दूसरेकी बात (जैसे कर्मविभागमें कर्ताकी बात) अनेक स्थलोंमें प्रकारान्तरसे आप आ जाती है, और उसीके साथ उसे भी न कहनेसे यह बात असंपूर्ण और अस्पष्ट रह जाती है। इसी कारण प्रथम भागमें, ज्ञानकी आलोचनामें, द्वितीय भागमें कहनेकी बातें जगह जगह पर कह दी गई हैं। किन्तु वे बातें फिर द्वितीय भागमें यथा-स्थान न कहनेसे भी काम नहीं चलेगा। कारण, उन्हें न कहनेसे इस स्थान-की बातें भी अस्पष्ट ही रह जायँगी। इस कारण इस दूसरे भागमें जो कुछ पुनरुक्ति होगी, उस दोषको, आशा है, पाठक क्षमा करेंगे।

कर्म शब्द, ज्ञान-युक्त जीव अर्थात् मनुष्यके कार्य, इस अर्थमें ग्रहण किया जायगा। कर्ता बिना कर्म नहीं होता। अतएव कर्मकी आलोचनामें सबसे

पहले कर्ताकी चर्चा उठती है। और, कर्ताका जिक्र आनेपर यह प्रश्न उठता है कि वह स्वतन्त्र है, या अवस्था उसे जिस तरह चलाती है उसी तरह चलने अर्थात् कार्य करनेके लिए वह वाध्य है ? और, प्रासंगिक भावसे यह प्रश्न भी उठता है कि कार्यकारणसम्बन्ध किस तरहका है ? और इन दोनों प्रश्नोंकी आलोचनाके बाद ही ये दो प्रश्न उठते हैं कि कर्मके प्रधान भागका अर्थात् कर्तव्य कार्यका लक्षण क्या है ? और कर्तव्यताका लक्षण क्या है ? इसके बाद कई एक खास तौरके कर्मोंकी आलोचना वांछनीय है। वे कर्म ये हैं—पारिवारिक नीतिसिद्ध कर्म, सामाजिक नीतिसिद्ध कर्म, राजनीति-सिद्ध कर्म और धर्मनीतिसिद्ध कर्म। और सबके अन्तमें 'कर्मका उद्देश्य क्या है' इस प्रश्नका संक्षिप्त उत्तर देना आवश्यक है। अतएव १—कर्ताकी स्वतन्त्रता है कि नहीं, और कार्य-कारण-सम्बन्ध किस तरहका है, २—कर्त-व्यताका लक्षण, ३—पारिवारक नीतिसिद्ध कर्म, ४—सामाजिक नीतिसिद्ध कर्म, ५—राजनीतिसिद्ध कर्म, ६—धर्मनीतिसिद्ध कर्म और ७—कर्मका उद्देश्य ये सात विषय क्रमसे अलग अलग अध्यायोंमें, इस दूसरे भागमें, वर्णन किये जायँगे।

पहला अध्याय ।

कर्त्ताकी स्वतंत्रता ।
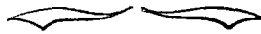
कर्मकी आलोचनामें सबके आगे कर्ताका ही जिक्र आता है । कारण, कर्ताके बिना कर्म नहीं होता । कर्ताके बारेमें आलोचना करनेसे यह प्रश्न पहले ही उठता है कि कर्ताकी स्वतन्त्रता है कि नहीं ? यह प्रश्न अनावश्यक नहीं है, क्योंकि कर्ताके और उसके कर्मके दोष-गुणका निरूपण, और कर्ताकी सत्कर्म-शिक्षा और भावी उन्नतिके उपाय ठीक करना, इस प्रश्नके उत्तरके ऊपर निर्भर है । यदि कर्ता स्वतन्त्र है, तो अपने कर्मके लिए वह संपूर्णरूपसे जिम्मेदार है, और उसके दोष-गुणोंका निरूपण उसके कर्मोंके दोष-गुणोंके द्वारा होगा । और, उसके सत्कर्म सीखने और भावी उन्नतिके लिए, जिसमें उसकी स्वतन्त्र इच्छा शुभकर हो, वही राह पकड़नी होगी । और अगर वह स्वतन्त्र नहीं है, वह अवस्थाहीके द्वारा पूर्णरूपसे संचलित होता है, तो उसके कर्मोंके लिए वह जिम्मेदार नहीं बनाया जा सकता, और उसके दोष-गुणोंका निरूपण उसके कर्मोंके दोष-गुणोंके द्वारा नहीं होगा । तब उसकी सत्कर्म-शिक्षा तथा भावी उन्नतिके लिए, जिस अवस्थाके द्वारा वह संचलित होता है, उसीके ऐसे परिवर्तनकी चेष्टा करनी होगी, जिससे वह सुमार्गमें संचालित हो सके ।

कर्ता स्वतन्त्र है कि नहीं—यह प्रश्न कर्म और कर्ताका परस्पर कैसा सम्बन्ध है, इस प्रश्नके साथ मिला हुआ है । और, पिछला प्रश्न कार्यकारण-सम्बन्ध किस तरहका है, इस साधारण प्रश्नका एक विशेष अंश है । अतएव

पहले इसीकी कुछ आलोचना की जायगी कि इस साधारण प्रश्नका ठीक उत्तर क्या है।

कार्यकारणसम्बन्ध।

कार्य-कारण-सम्बन्ध किस तरहका है, इस बारेमें बहुत मतभेद है। न्याय-दर्शनके रचनेवाले गौतम और वैशेषिक दर्शनके प्रणेता कणाद, इन दोनोंके मतमें कार्य और कारण परस्पर भिन्न हैं। सुतरां इस मतके अनुसार कारण पहलेहीसे है, कार्य पहले नहीं था, अर्थात् कार्य असत् है। सांख्य-दर्शनके मतमें कार्य जो है वह कारणका रूपान्तर मात्र है। अतएव इस मतमें कार्य पहलेहीसे अव्यक्त भावसे कारणमें था, अर्थात् कार्य सत् है। इन सब मतोंकी आलोचना करनेका यहाँ कुछ प्रयोजन नहीं है *। यहाँ पर इतना ही कह देना यथेष्ट होगा कि जब किसी कार्यके सब कारणोंका मिलन होने पर वह कार्य अवश्य ही होगा, तो कार्य अपने कारणसमूहका रूपान्तर या भावान्तर मात्र है, और वह उस कारणसमूहमें अव्यक्त भावसे मौजूद था, नहीं तो वह कहाँसे आया? कोई कार्य आपहीसे हुआ, कोई वस्तु आपहीसे आई, यह हम मुँहसे अवश्य कह सकते हैं; किन्तु वह वृथा शब्दप्रयोग मात्र है। वैसा किस तरह होगा, इसका मनमें अनुमान या कल्पना हम नहीं कर सकते। आत्मासे पूछनेसे ही इस बातका प्रमाण पाया जाता है। हरएक कार्यका कारण है। वह कारण भी अपने पूर्ववर्ती किसी कारणका कार्य है। अतएव उस कारणका भी कारण है। फिर उसका भी कुछ कारण है। इस तरह परम्पराक्रमसे कारणश्रेणी अनन्त हो जाती है। यह तो हुई एक कार्यकी बात। किन्तु जगत्में हरघड़ी असंख्य कार्य होते रहते हैं। अतएव इस तरहकी कारणश्रेणीकी संख्या भी असीम हो जायगी। किन्तु यह बात तब होगी, जब ये सब भिन्न भिन्न कारणोंकी श्रेणियाँ मिलित होकर अपने आदिमें एक या एकसे अधिक किन्तु अल्पसंख्यक मूल कारणमें समाप्त न हो जायँ। साधारण लोगोंकी सामान्य युक्ति और प्रायः सभी देशोंके विद्वानों बुद्धिमानोंके सोच समझ कर कहे गये वचनोंने इस कारण-बहुलताका परिहार करते हुए जगत्के आदि मूल कारणको केवल एक

---

* इस सम्बन्धमें श्रीयुक्त प्रमथनाथ तर्कभूषण प्रणीत 'मायावाद' पुस्तक देखनी चाहिए।

अथवा दो बतलाया है। अद्वैतवादीके मतमें वह आदि कारण एक है, और वह ब्रह्म अथवा जड़ है। और द्वैतवादीके मतमें आदि कारण एक नहीं दो है; उन्हें प्रकृति और पुरुष अथवा जड़ और चैतन्य कहते हैं। चैतन्य और जड़में मौजूद वर्तमान अलगाव देख कर द्वैतवादी लोग कहते हैं—चैतन्य और जड़ दोनों ही अनादि हैं, और ये ही दोनों जगत्का आदिकारण हैं। जड़वादी लोग कहते हैं—जड़से ही चैतन्यकी उत्पत्ति है। ये लोग भी एक प्रकारके अद्वैतवादी हैं। वेदान्ती अद्वैतवादी कहते हैं—जगत्का आदि-कारण एक ब्रह्म है। जड़से चैतन्यकी उत्पत्ति युक्तिविरुद्ध है और चैतन्यसे जड़की सृष्टि युक्तिसिद्ध है, यह बात सिद्ध करनेकी चेष्टा इस पुस्तकके प्रथम भागके चौथे अध्यायमें की जा चुकी है। यहाँ पर फिर उन सब बातोंके कहनेका प्रयोजन नहीं है। उस सम्बन्धमें केवल एक बात यहाँ पर कही जायगी। मायावादीके—

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।"

अर्थात्, ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्मके सिवा और कुछ नहीं है।—यह कहनेका कारण शायद यह है कि जगत्का आदिकारण ब्रह्म निरा-कार निर्विकार है, किन्तु जगत् साकार और सविकार है, अतएव जगत् सत्य नहीं हो सकता, हमारे भ्रमके कारण वह सत्य सा प्रतीत होता है; क्यों कि निराकार निर्विकारसे साकार सविकार नहीं निकल सकता। इस कथनके मूलमें यह बात मौजूद है कि जैसा कारण होता है उसका कार्य भी वैसा ही होता है। किन्तु यह पिछली बात कुछ दूर तक सत्य है, संपूर्ण सत्य नहीं है। पहले तो, कारणके साथ कार्यका कुछ साम्य रह सकता है, किन्तु कार्य जब कारणका रूपा-न्तर या भावान्तर है, तब वह साम्य संपूर्ण साम्य हो नहीं सकता—उसके साथ अवश्य ही कुछ वैषम्य भी रहेगा। दूसरे, यह बात कहनेसे जगत्का जो कारण है उसकी असीमशक्तिके ऊपर सीमाका आरोप होता है। सच है कि यह अनुमान नहीं किया जाता कि ज्ञानके कई एक नियमों (जैसे एक ही समयमें एक ही जगहमें एक ही वस्तुका होना और न होना, दोनों बातें नहीं हो सकतीं) का अतिक्रमण अनन्त शक्ति भी कर सकती है। किन्तु वर्तमान स्थलमें उस तरहके किसी नियमका उल्लंघन नहीं होता। अगर कोई कहे कि निराकार और साकार, या निर्विकार और सविकार भाव ऐसे विरुद्ध गुण हैं कि

वे एक साथ एक ही आधारमें (अथवा उसके तुल्यक्षेत्रमें, अर्थात् एक गुण कारणमें और दूसरा गुण उसके कार्यमें) नहीं रह सकते, तो उसका उत्तर यह है कि यद्यपि एक ही वस्तु एक कालमें निराकार और साकार, अथवा निर्विकार और सविकार नहीं हो सकती, किन्तु ब्रह्म और जगत् उस तरह वैसी ही एक वस्तु नहीं हैं। ब्रह्म अनन्त है, जगत् (अर्थात् जगत्का जितना अंश हमारे निकट प्रतीयमान है) अन्तयुक्त है। ब्रह्म अखण्ड है, प्रतीयमान जगत् खण्डमात्र है। अतएव आदिकारण ब्रह्म निराकार और निर्विकार होनेपर भी, उसका आंशिक कार्यका अर्थात् प्रतीयमान जगत्का साकार और सविकार हो सकना इतना युक्ति-विरुद्ध नहीं है कि जगत्को एकदम मिथ्या और जगत्-विषयक ज्ञानको एकदम भ्रम कहा जाय। हम अपने अपूर्ण ज्ञानमें जगत्को जैसा देखते हैं, वह जगत्का ठीक स्वरूप भले ही नहीं हो सकता, और हमारा जगत्-विषयक ज्ञान भी पूर्णज्ञान नहीं है, किन्तु केवल इसीलिए यह बात नहीं कही जा सकती कि जगत् एकदम मिथ्या है और हमारा उसके विषयका ज्ञान एकदम भ्रम है। दृश्यमान जगत् परिवर्तनशील है, और उस जगत्का सुख-दुःख अस्थायी है, और इस बातको भूलकर जगत्की वस्तु और उससे उत्पन्न सुख-दुःखको स्थायी समझना भ्रान्ति है, इस अर्थमें जगत्को मिथ्या और हमारे तद्विषयक ज्ञानको भ्रम कहा जा सकता है। किन्तु वह बात एक प्रकारसे अलङ्कारकी उत्प्रेक्षामात्र है।

संक्षेपमें कहा जाय तो कार्य-कारण-सम्बन्धका मूलतत्त्व यह है—

(१) कोई भी कार्य विना कारणके हो नहीं सकता।

(२) कार्य मात्र ही अपने कारण अर्थात् कारण-समूहके मिलनका फल हैं, और उन सब कारणोंका रूपान्तर या भावान्तर हैं। और उस मिलनके पहले वे कार्य अपने कारणसमूहमें अव्यक्त भावसे निहित रहते हैं।

(३) सभी कारणोंका आदि कारण एक अनादि अनन्त ब्रह्म है। ब्रह्म खुद अपनी सत्ताका कारण है, और सभी कार्य मूलमें उसी ब्रह्मकी शक्ति या इच्छासे प्रेरित हैं।

इस बातके ऊपर एक कठिन प्रश्न उठ सकता है। सभी कार्योंका आदि कारण अगर एक अनादिकारण है, और कार्य अगर कारणसमष्टिके मिलनेका फल और उसका रूपान्तर या भावान्तरमात्र है, तो फिर वह मिलन नित्य

नवीन नवीन रूपसे क्यों होता है ? उस मिलनको करानेवाला कौन है ? और कारण-समष्टिको वह रूपान्तर या भावान्तर किस तरह होता है ? अर्थात् वह आदि कारण केवल एक वार ही कार्य संपन्न करके क्यों नहीं शान्त रहता ? और, कारण ही किस तरह कार्यको संपन्न करता है ? इस प्रश्नका सम्पूर्ण उत्तर देना हमारे अपूर्ण ज्ञानकी क्षमताके बाहर है। मगर तो भी इस प्रश्नको उठाये विना हमसे रहा नहीं जाता, और जबतक हम इसका उत्तर न पावेंगे, तबतक ज्ञानपिपासाकी निवृत्ति न होगी। अतएव यह अनुमान असंगत नहीं है कि जो अपूर्ण ज्ञान यह प्रश्न किये विना रह नहीं सकता, वह पूर्ण ज्ञानका ही विच्छिन्न अंश है, और उस पूर्ण ज्ञानके साथ पुनर्मिलन होनेपर ही हमारी ज्ञानकी प्यास बुझेगी, हमें पूर्ण आनन्द प्राप्त होगा।

ऊपरके प्रश्नका प्रथम भाग यह जिज्ञासा करता है कि आदिकारण जो है वह एक वार कार्य करके शान्त न होकर क्यों निरन्तर नये नये काम करता है, और नवीन कार्यके लिए कारणसमूहका नित्य नवीन मिलन कौन कराता है ? इसके उत्तरमें केवल इतना ही कहा जा सकता है कि कार्य-कारणपरंपरा-का यह अस्थिर और नित्य-नूतन-भाव उसी आदिकारणकी शक्ति और इच्छाका फल है। इस विराट् विश्वके प्रत्येक अणुमें वही शक्ति निहित है, और उसके बलसे प्रत्येक अणु निरन्तर व्यक्त या अव्यक्त भावसे गतिशील हो रहा है। आदिकारणकी शक्ति या इच्छाका फल उसका विकार नहीं कहा जा सकता; उसे उसका स्वभावसिद्ध कार्य ही कहना पड़ेगा।

प्रश्नके दूसरे भागका ठीक उत्तर देनेमें हम असमर्थ हैं। हमारी स्थूल दृष्टि कार्य या कारणके अभ्यन्तरमें प्रवेश नहीं कर सकती। इसी लिए, यह हम नहीं जान पाते कि कारणसे कार्य किस तरह घटित होता है। मगर हाँ, यत्न करनेसे इन सब विषयोंको हम कुछ कुछ जान सकते हैं कि किस कार्यके लिए किस किस कारणका किस तरहसे मिलन आवश्यक है, किस उपायसे कारणसमष्टिका उस तरहका मिलन घटित होता है, किस नियमसे (अर्थात् जहाँ कार्य और कारण परिमेय है वहाँ) कितना परिमित कारण कितने परिमित कार्यमें परिणत होता है।

अब 'कर्ताकी स्वतन्त्रता है कि नहीं ?' इस कर्मक्षेत्रके प्रधान प्रश्नकी कुछ आलोचना की जायगी।

एक सामान्य प्रवाद है कि 'कर्ताकी इच्छा ही कर्म है। ' व्यंग्यके समय ही इसका प्रयोग होता है। किन्तु इस परिहाससूचक प्रवाद (कहावत) में भी कुछ सत्य है। कर्ताकी इच्छा ही कर्मका साक्षात्-सम्बन्धी और निकटवर्ती कारण है। किन्तु वह इच्छा स्वतन्त्र है, या अन्य कारणके अधीन है, इसका सिद्धान्त हुए विना यह नहीं कहा जासकता कि कर्ताके स्वतन्त्रता है, या नहीं। मेरी इच्छा स्वतन्त्र है किं नहीं, इस विषयका निर्णय करनेके लिए अपने अन्तःकरणमें ही आगे अनुसन्धान करना होता है, पहले अपने आत्मासे ही यह पूछना होता है। आत्माका अविवेचित उत्तर स्वतन्त्रताके अनुकूल होगा ? आत्मा अनायास ही कहेगा कि मेरी इच्छा स्वतःप्रवृत्त है, और यद्यपि मैं जो करनेकी इच्छा करता हूँ वही सब स्थलोंमें कर नहीं सकता, किन्तु जो नहीं करनेकी इच्छा है वह करनेके लिए कोई भी मुझे वाध्य (मजबूर) नहीं कर सकता। किन्तु आत्माका यह साक्ष्यवाक्य स्वीकार करनेके पहले साक्षीसे एक कूटप्रश्न करना आवश्यक है। वह यह कि मैं कोई कर्म करनेकी या न करनेकी जो इच्छा करता हूँ वह इच्छा क्या मेरी इच्छाके अधीन है, या मेरा पूर्वस्वभाव पूर्वशिक्षा और पारिपार्श्विक (चारों ओरकी) अवस्थाका फल है ? अर्थात् मेरी इच्छा ही क्या मेरी इच्छाकी कारण है, या वह अन्यकारणका कार्य है ? कुछ सोचकर उत्तर दिया जाय तो आत्माको अवश्य ही कहना पड़ेगा कि मेरी इच्छा इच्छाके अधीन नहीं है, वह अनेक कारणोंका कार्य है। एक दृष्टान्तके द्वारा यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी। मैं इस समय यहाँसे उठ जाऊँगा कि नहीं, इस विषयमें मेरी इच्छा क्या है, और क्यों वह वैसी ही होगी ? सोचने पर देख पाऊँगा कि मेरे वर्तमान कर्म और जिसके अनुरोधसे उठनेकी बात याद आई वह कर्म, इन दोनोंकी प्रयोजनीयता और हृदयग्राहिताका तारतम्य (न्यूनाधिकता), मेरी इस घड़ी जैसी देहकी अवस्था है वह और उसके अनुसार स्थिति (ठहरने) या गति (जाने) के प्रति अनुरागकी न्यूनाधिकता, दूरसम्बन्धमें मेरा पूर्व स्वभाव और पूर्वशिक्षा—जिसके द्वारा मेरे हृदयकी वर्तमान अवस्था (अर्थात् कर्मकी प्रयोजनीयता और हृद्यग्राहिताके तारतम्य-बोधकी शक्ति)और गति या स्थितिकी ओर प्रवृत्तिकी न्यूनाधिकता निर्द्धारित हुई है, इन सब कारणोंके द्वारा मेरी इच्छाका निरूपण होगा। मेरी इच्छा इन्हीं सब कारणोंका कार्य है। पहले कार्य-कारण-

सम्बन्धके जिन तीन मूल-तत्त्वोंका उल्लेख हुआ है, उनमेंसे प्रथम तत्त्वके अनुसार भी इसी तरहके सिद्धान्तमें पहुँचना होता है । मेरी इच्छा विना कारणके आप ही हुई, यह बात संगत नहीं मानी जा सकती ।

अस्वतन्त्रतावादके विरुद्ध आपत्ति ।

कर्ताके सम्बन्धमें, स्वतन्त्रतावादी लोग इसके विरुद्ध यह बात कहते हैं कि आत्मा जब प्रश्न करते ही उत्तर देता है कि मेरी इच्छा स्वाधीन है, तो आत्माका वही साक्ष्य-वाक्य ग्रहणयोग्य है। उसके वाद सोच-विचार कर वह जो कहता है कि मेरी इच्छा अनेक कारणोंके अधीन है, सो वह बात सिखाये पढ़ाये गवाहकी तरह अग्राह्य है । और, कार्य-कारण-सम्बन्ध-विषयक जिस तत्त्वका उल्लेख हुआ है, उसके अनुसार, जैसे विना कारणके कार्य नहीं होता, यह बात स्वीकार करनी होती है, वैसे ही फिर यह बात भी स्वीकार करनी होगी कि सब कारणोंका जो आदि कारण है वह अन्य किसी कारणका कार्य नहीं है । अतएव उस तरह मनुष्यकी इच्छा अन्य कार्यका कारण है, किन्तु वह खुद किसी कारणका कार्य नहीं है, यह बात कही जा सकती है ।

इस आपत्तिका खण्डन ।

ये सब तर्क युक्ति-सिद्ध नहीं जान पड़ते । आत्माका प्रथम उत्तर अविवेचना और अहंकारका फल है । दूसरा उत्तर विवेचनाका है, और वह यथार्थ अन्तर्दृष्टिके द्वारा प्राप्त है, और वही ठीक उत्तर है । इस जगह पर गीताका यह अमूल्य वाक्य स्मरण करना चाहिए कि—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥
(गीता ३।२७)

अर्थात् प्रकृतिके गुण ही जगत्के सब कामोंको करते हैं। किन्तु अहंकारसे मूढ़ हो रहा आत्मा अपनेको ही उनका करनेवाला मानता है । कुछ सोचकर देखनेहीसे समझमें आ जायगा कि आत्माका प्रथम उत्तर सब समय ठीक नहीं उतरता । एक साधारण उदाहरण दूँगा । चन्द्रमाकी ओर देखकर अगर कोई आत्मासे पूछे कि मैंने क्या देखा ? तो आत्मा उसी दम उत्तर देगा कि मैंने चन्द्रमाको देखा । किन्तु यह सब ही जानते हैं कि हम चन्द्रमाको नहीं देख पाते, चन्द्रमाका जो प्रतिबिम्ब हमारे आँखोंमें पड़ता

है केवल वही देखते हैं, और चक्षुइन्द्रियमें कोई दोष रहनेपर चन्द्रमा भी उसीके अनुसार विकृत देख पड़ता है। जैसे दर्शकको पाण्डुरोग (काँवर) हुआ, तो उसे चंद्रमा पाण्डुवर्ण देख पड़ेगा।

मनुष्यकी इच्छा ही अपना कारण है, वह अन्य किसी कारणका कार्य नहीं, यह बात कहनेसे प्रत्येक मनुष्यकी इच्छा एक एक स्वाधीन कारण होगी, और ऐसा होनेपर जगत्‌के एक आदिकारणसे अलग और भी बहुतसे स्वाधीन कारणोंका अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है। इस तरहकी बहुतसे कारणोंकी कल्पना युक्तिसिद्ध नहीं है। हाँ, यहाँतक कहा जा सकता है कि आत्मा जिस चिन्मय पूर्ण ब्रह्मका अंश है, आत्माका स्वाधीनता-बोध उसी पूर्णब्रह्मकी स्वतन्त्रताका अस्फुट विकाश हो तो हो सकता है।

और एक आपत्ति।

स्वतन्त्रतावादी लोग कर्ताके परतन्त्रतावादके विरुद्ध और एक भारी आपत्ति उपस्थित करते हैं। वे कहते हैं, यदि कर्ताकी स्वतन्त्रता नहीं है, तो कर्ता अपने कर्मके लिए जिम्मेदार नहीं है, और कर्ताके दोषगुण भी नहीं रहते। अतएव पाप-पुण्य और उनके कारण होनेवाला दण्ड और पुरस्कार भी उठ जायगा। इस आपत्तिकी अवश्य ही विवेचनाके साथ अलोचना करना कर्तव्य है।

उसका खण्डन।

कर्ताकी स्वतन्त्रता न रहनेसे कर्ता कर्मके लिए जिम्मेदार नहीं हो सकता। किन्तु ऐसा होनेसे ही पाप पुण्य और दण्ड-पुरस्कार उठ जानेकी बात नहीं स्वीकार की जासकती। कर्मके कारण कर्ताके दोष-गुण नहीं हैं, यह कहकर कर्मके दोष-गुण और फलाफलका भी लोप नहीं हो सकता। कर्मके लिए कर्ता जिम्मेदार हो या न हो, पापकर्म दोषकर काम और पुण्यकर्म गुणकर काम गिना ही जायगा। कर्मका फलाफल अवश्य ही फलेगा, और वह फलाफल कर्ताको अवश्य ही भोग करना पड़ेगा।

पहले तो, कर्मके दोष-गुण कर्ताकी जिम्मेदारी होने या न होने पर निर्भर नहीं हैं, यह बात शायद सहज ही अनेक लोग स्वीकार कर लेंगे। कर्ता चाहे जानकर करे, और चाहे बिना जाने करे, उसके किये हुए भले-बुरे काम अवश्य ही भले-बुरे गिने जायँगे। हाँ, उसमें कर्ताका दोष-गुण है या नहीं, यह

विचार करनेके लिए यह देखना होगा कि कर्ताकी स्वतन्त्रता है या नहीं। और, कर्ताकी स्वतन्त्रता न रहनेपर अवश्य ही यह स्वीकार करना होगा कि दोप-गुण साधारणतः जिस अर्थमें गृहीत होते हैं, उस अर्थमें अपने कर्मोंके लिए कर्ताके दोष-गुण नहीं हैं, उसकी निन्दा या यश नहीं हैं।

दूसरे, देखा जाय कि कर्ताकी स्वतन्त्रता न रहनेपर कर्मका फलाफल उसके सम्बन्धमें फलेगा कि नहीं, और वह फलाफल तथा उसके साथ दण्ड या पुरस्कार उसे ग्रहण करना होगा कि नहीं। कर्मके लिए कर्ता जिम्मेदार हो या न हो, भले कर्मका भला फल और बुरे कर्मका बुरा फल अवश्य ही फलेगा। मैं अगर किसी गरीबको एक अठन्नी देना सोचकर भूलसे एक गिन्नी दे दूँ, तो भी लेनेवालेको गिन्नी मिलनेका फल मिलेगा। अथवा मैं यदि कोई चीज फेकते समय दैवसंयोगसे किसी व्यक्तिको चोट पहुँचाऊँ, या मार बैठूँ, तो भी चोट खाये हुए व्यक्तिको चोटकी वेदना पहुँचेगी। हाँ, दान करनेके कारण सुख या चोट पहुँचानेके कारण दुःख जानकर करनेसे जैसा होता, वैसा नहीं होगा। तथापि लेनेवालेकी भलाई हुई—यह जान कर सुख और चोट खानेवालेको कष्ट पहुँचा—यह जानकर दुःख इस जगह भी होगा, और वह होना भी चाहिए। किन्तु मेरी स्वतन्त्रता नहीं है, मैं अवस्थाका दास हूँ और अवस्थाके द्वारा वाध्य होकर मैंने अच्छा या बुरा काम किया, उसका शुभाशुभ, उसका पुरस्कार या दण्ड मुझे भोगना नहीं पड़ेगा—इन बातोंको सहज ही न्यायसंगत कहकर स्वीकार करनेको जी नहीं चाहता। इन बातों-को जरा विवेचना करके देखना आवश्यक है। अगर कोई मेरी संपूर्ण अनि-च्छा रहने पर भी मेरी बीमारीमें बलपूर्वक मुझे कोई दवा खिला-पिला दे, तो क्या उससे मेरा रोग शान्त न होगा? अथवा यदि कोई मेरी संपूर्ण अनिच्छा रहने पर भी बलपूर्वक मुझे कोई जहरीली चीज खिला-पिला दे, तो क्या उससे मेरा स्वास्थ्य नहीं नष्ट होगा? तो फिर मैं यह बात क्यों कहता हूँ कि मैंने अवस्थासे लाचार होकर काम किया है, इस लिए मेरा उसका फलाफल भोगना न्यायसंगत नहीं है? जान पड़ता है, उसका कारण यह है कि मैं अपने जड़जगत्के कर्म (जैसे देहके ऊपर दवा या विषकी क्रिया) को अंध प्रकृतिके अलंध्य नियमके अधीन समझता हूँ, और सज्ञान जीव-जगत्के कर्म-को वैसा नहीं समझता, और उस कर्मका फल देनेवालेको न्यायी समझ कर

उसके द्वारा स्वतन्त्रतारहित कर्ताके लिए कर्मफलभोगके विधानको अन्याय या अनुचित मानता हूँ। यदि स्वतन्त्रताहीन कर्ताके लिए उसके दुष्टकर्मका फल अनन्त दुःख मानना पड़े, तो उसे अवश्य ही अन्याय कहकर स्वीकार करना होगा। किन्तु कर्ता चाहे स्वतन्त्र हो, और चाहे परवश हो, हम यह बात क्यों स्वीकार करेंगे कि उसके दुष्कर्मका फल अनन्त दुःख है? यह बात स्वीकार करनेसे कर्ता स्वतन्त्र होने पर भी कर्मफल देनेवालेकी न्यायपरताकी रक्षा नहीं होती। कारण, जो लोग अनन्त दुःखकी बात कहते हैं, वे अवश्य ही अनन्तशक्तिमान और अनन्तज्ञानमय ईश्वर मानते हैं। इसके साथ ही यह बात भी माननी पड़ती है कि उस ईश्वरने, जो जीव अनन्त दुःखभोग करेगा उसको, अनन्त दुःख भोगनवाला होगा—यह जानकर, उत्पन्न किया है। ऐसा होनेपर वैसी सृष्टि न्यायसंगत कैसे कही जा सकती है? कोई कोई इस आपत्तिका खण्डन करनेके लिए अनन्तज्ञानमय ईश्वरको भी उसीके उत्पन्न किये जीवके भावी कर्म और शुभाशुभके बारेमे अज्ञ कह कर स्वीकार करनेमें भी कुंठित नहीं हैं *।

किन्तु यह बात किसी तरह युक्तिसिद्ध नहीं कही जा सकती। अगर दुष्कर्मका फल दण्डस्वरूप अनन्त दुःख न होकर, कर्ताके संशोधन और उन्नति साधनका उपाय-स्वरूप परिमितकालव्यापी दुःखभोग हो, और उसका परिणाम अनन्त सुखलाभ हो, तो फिर सभी आपत्तियोंका खण्डन हो जाता है। वैसा होने पर, कर्ताकी स्वतन्त्रता न रहने पर भी पाप-पुण्यका प्रभेद और दुष्कर्मके लिए दुःखभोगका विधान जैसेका तैसा बना रहा, साथ ही उसके लिए कर्ताके ऊपर अन्याय भी नहीं हुआ। क्यों कि कर्ताके दुष्कर्मके कारण होनेवाला दुःखभोग अन्तमें अनन्तकालव्यापी सुख पानेका उपाय मात्र है, और यह कहें तो कह सकते हैं कि वह परिमित समयका दुःख अनन्त कालके अपरिमित सुखके आगे तुलनामें कुछ भी नहीं है।

कर्माकर्मके शुभाशुभ-फलभोगको अगर पुरस्कार या दण्ड-स्वरूप न मान कर, उसे कर्ताकी शिक्षा (नसीहत) या संशोधनका उपाय समझा जाय, तो कर्ता स्वतन्त्र हो या न हो, उस फलभोगके विधानको उसके प्रति अविचार समझनेका कोई कारण नहीं रह जाता।

---

* Dr. Martineau's Study of Religion, Vol. II. P. 279 देखो।

कोई कोई कह सकते हैं कि यह सब सच होने पर भी कर्ताके अस्वतन्त्रतावादका एक अवश्य होनेवाला फल यह है कि मनुष्य अपने कर्मोंका जिम्मेदार नहीं है—यह धारणा उत्पन्न होजाने पर दुष्कर्म करनेमें भय और सत्कर्म करनेमें आग्रह कम होजायगा। मगर यह आशंका अमूलक है। कर्ताकी स्वतन्त्रता न रहने पर भी जब कर्मका दोष-गुण बना रहा, और कर्ताको कर्माकर्मका शुभाशुभ फल कुछ समयतक भोग करना ही होगा, तथा अवस्थाके द्वारा वाध्य होकर कर्म करने पर भी उसका शुभाशुभ भोगनेके कारण आत्मप्रसाद और आत्मग्लानि भी अवश्य होगी, तो फिर दुष्कर्म करनेमें खौफ और सत्कर्म करनेमें आग्रह कम होनेकी संभावना बहुत थोड़ी है।

और एक बात है। कर्मके दोष-गुणसे कर्ता दोष-गुणका भागी नहीं होता, यह बात माननेसे जैसे दुष्कर्मके लिए होनेवाली आत्मग्लानि घटेगी, वैसे ही सत्कर्मसे होनेवाले आत्मगौरवका भी ह्रास होगा। कितने लोग उस आत्मग्लानिका कितना अनुभव करते हैं, वह कितने आदमियोंको सुमार्गमें ले आती है, और वह आत्मगौरव कितने लोगोंको उन्मत्त बनाकर कितना अनिष्ट पैदा करता है, यह सोचनेसे, जान पड़ता है, जमा-खर्चमें औसत हिसाबसे अस्वतन्त्रतावाद स्वतन्त्रवादकी अपेक्षा अधिक क्षति करनेवाला नहीं हो सकता।

कोई कोई लोग आशंका करते हैं कि अस्वतन्त्रतावादका और एक अशुभ फल है—मनुष्यको निश्चेष्ट कर देना। वे कहते हैं, कर्ताकी स्वतन्त्रता नहीं है, वह अवस्थाके द्वारा वाध्य होकर कर्म करता है, यह धारणा उत्पन्न होने पर हम कोई कर्म करनेकी चेष्टा नहीं करेंगे, क्रमशः निश्चेष्ट हो जायँगे। किन्तु यह आशंका अमूलक है। अस्वतन्त्रतावाद यह बात नहीं कहता कि कर्ताकी चेष्टाका प्रयोजन नहीं है—कर्म आपहीसे होगा। वह केवल यही कहता है कि कर्ताकी इच्छा स्वाधीन नहीं है। वह इच्छा ही खुद अपना कारण नहीं है, किन्तु वह कर्ताके पूर्व-स्वभाव, पूर्व-शिक्षा और पारिपार्श्विक अवस्थाका फल है। वह पूर्व-स्वभाव, पूर्व-शिक्षा और पारिपार्श्विक अवस्था कारण-स्वरूप होकर अपना कार्य अवश्य करेगी, और उसके फलसे कर्ता उतनी चेष्टा किये विना नहीं रह सकता, जितनी कि उसको करनी होगी। फिर यह अस्वतन्त्रतावाद जब यह मानता है कि कर्ता अपने कर्माकर्मका शुभाशुभ फल

भोगता है, और जब शुभ फल पाने और अशुभ फल न पानेकी चेष्टा मनुष्यके लिए स्वभावसिद्ध है, तब यह कभी संभव नहीं कि मनुष्य अस्वतन्त्रतावादी होनेसे ही निश्चेष्ट हो जायगा।

ऊपर कहे गये अस्वतन्त्रतावादमें दैव और पुरुषकार * का सामंजस्य है, अर्थात् वह कर्ताके पहलेके कर्मफल और वर्तमान चेष्टा, दोनोंकी कार्यकारिताको स्वीकार करता है। यह अदृष्टवाद कहकर दूषित नहीं हो सकता।

अदृष्ट और पुरुषकार।

अदृष्टवाद कहनेसे अगर यह समझा जाय कि मैं किसी वांछित कार्यके लिए चाहे जितनी चेष्टा क्यों न करूँ, अदृष्ट अर्थात् मेरी न जानी हुई कोई अलंघ्य अनिवार्य शक्ति उस चेष्टाको विफल कर देगी, तो वह अदृष्टवाद माना नहीं जा सकता; क्योंकि वह कार्य-कारण-सम्बन्ध विषयक नियमके विरुद्ध है। किन्तु यदि अदृष्टवादका अर्थ यह हो कि कार्यकारणपरंपराके क्रमसे जो कुछ होनेको है, और जो पूर्ण ज्ञानमय ब्रह्मके ज्ञानगोचर था कि ऐसा होगा, उसीकी ओर मेरी चेष्टा जायगी—दूसरी ओर नहीं जायगी, तो वह अदृष्टवाद माने बिना नहीं रहा जा सकता। कारण, वह कार्य-कारण-सम्बन्ध-विषयक अलंघ्य नियमका फल है।

पूर्वोक्त अस्वतन्त्रतावाद माननेसे, जब देखा जाता है कि कर्ताकी इच्छा स्वाधीन नहीं है, वह उसके पूर्व-स्वभाव, पूर्व-शिक्षा और पारिपार्श्विक अवस्थाके द्वारा संचालित है, तब वर्तमानमें केवल वैसी ही नीतिकी शिक्षा देना यथेष्ट न होगा जिससे कर्ताकी इच्छा सत्पथमें जानेके लिए प्रबल हो, बल्कि उन सब उपायोंका अवलम्बन आवश्यक है, जिनसे भावी कर्म करनेवालोंका पूर्व-स्वभाव, पूर्व-शिक्षा और पारिपार्श्विक अवस्था उनकी इच्छाको सत्पथगामिनी बनानेके लायक हो। इसी लिए बालकको अगर भविष्यमें अच्छा देखनेकी आशा की जाय, तो यह आवश्यक है कि उसके माता-पिता सुशिक्षित और सच्चारित्र हों, वह बाल्य कालसे ही सुशिक्षा पावे, उसे सात्त्विक आहार-विहार (आमोद-प्रमोद-क्रीड़ा) के साथ सत्संगमें अच्छे परिवार

* महाभारत, अनुशासन पर्व, छठा अध्याय देखो।

और अच्छे परोसियोंके बीचमें रक्खा जाय। हमारे पूर्वजन्मके कर्मफलभोगके सम्बन्धमें चाहे जितना मतभेद क्यों न रहे, यह सभीको स्वीकार करना होगा कि हमारे जन्मके पहले हमारे पूर्वपुरुष जिन कर्मोंको करते हैं उनका फल हमें भोगना पड़ता है।

हम जबतक संसारके बन्धनमें बँधे रहेंगे, जबतक देहयुक्त रहनेके कारण हमें बहिर्जगत्की क्रियाके अधीन रहना होगा, और जबतक यथार्थ हिताहितके बारेमें जानकारी न होनेके कारण हम अन्तर्जगत्की असंयत प्रवृत्तिकी अधीनता छोड़ नहीं सकेंगे, तबतक हमारे स्वतन्त्र होनेकी संभावना नहीं है। ज्ञान जैसे जैसे क्रमशः बढ़ता रहेगा और पूर्णता प्राप्त करता रहेगा, वैसे ही वैसे हम अपना यथार्थ हिताहित देख पावेंगे, साथ ही सब आन्तरिक वृत्तियाँ संयत हो आवेंगी, और हमारी अन्तर्जगत्की अधीनता चली जायगी। दुराकांक्षा निवृत्त होनेसे साथ ही साथ बहिर्जगत्की अधीनता भी घटती जायगी। हाँ, देहके अभावकी पूर्तिके लिए वह कुछ कुछ अवश्य बनी रहेगी। जब वह देहबन्धन भी चला जायगा, तभी हम संपूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकेंगे।

कर्ताकी स्वतन्त्रताका विषय लेकर प्रायः सभी देशोंमें बहुत कुछ आन्दोलन और मतभेदकी सृष्टि हुई है। इस देश (भारत) में अदृष्टवाद और पुरुषकारवाद दोनों ही मत हैं (१)। पाश्चात्य पंडितोंमें कोई कोई स्वतन्त्रतावादी और कोई नियतिवादी अथवा निर्बन्धवादी हैं (२)।

अस्वतन्त्रतावादका स्थूल मर्म ।

यह विषय दुरूह है। इस सम्बन्धमें ऊपर जो कुछ कहागया है, उसका संक्षेपमें स्थूल तात्पर्य यह है—

१—कर्ताकी स्वतन्त्रता नहीं है, उसकी इच्छा स्वाधीन नहीं है-अर्थात् इच्छा ही उस इच्छाका कारण नहीं है। वह इच्छा कर्ताके पूर्व-स्वभाव, पूर्व-

(१) दैव और पुरुषकारके सम्बन्धमें महाभारतके अनुशासन पर्वका छठा अध्याय देखो।

(२) इस सम्बन्धमें Sidgwick's Methods of Ethics, Bk. I, ch. V; Green's Prolegomena of Ethics, Bk. II, ch. I; और Fowler and Wilson's Principles of Morals, Pt. II, ch. IX देखो।

शिक्षाका और पारिपार्श्विक अवस्थाका फल है। हाँ, कर्तामें सोचनेकी और चेष्टा करनेकी क्षमता अवश्य है।

२—कर्ताको कर्मका शुभाशुभ फल, अर्थात् सत्कर्मके लिए आत्मप्रसाद और पुरस्कार आदि, और असत्कर्मके लिए आत्मग्लानि और दण्ड आदि, भोगना होता है। लेकिन वह शुभाशुभ फलका भोग कर्ताकी संवर्द्धना या शास्ति (सजा) के लिए नहीं, बल्कि उसके संशोधन और उन्नतिके लिए है।

३—कर्ताके कर्मफलका परिणाम अनन्त दुःख नहीं, अनन्त सुख है। कर्म-फलभोगके द्वारा, शीघ्र हो या विलम्बमें हो, क्रमशः कर्ताका संशोधन और उन्नति-साधन होकर परिणाममें मुक्तिलाभ होगा।

चेष्टा या प्रयत्न।

ऊपर कहा गया है कि कर्ताके चेष्टा करनेकी क्षमता है। कर्ताकी स्वतन्त्रता नहीं है, लेकिन चेष्टा करनेकी क्षमता है—इसके क्या माने ? इस जगह पर किसी किसीके मनमें यह संशय उठ सकता है। अतएव उसका निराकरण करनेके लिए, चेष्टा या प्रयत्नके सम्बन्धमें दो-एक बातें कहना आवश्यक है।

जड़वादियोंके मतमें चेष्टा केवल देहका कार्य है। शायद वे लोग कहेंगे—बहिर्जगत्के विषयों द्वारा स्पंदनको प्राप्त हुई ज्ञानेन्द्रियकी क्रियासे, अथवा मस्तिष्कके अन्तर्निहित बहिर्जगत्के पूर्वक्रियाजनित कुञ्चनसे, जब मस्तिष्क संचालित होता है, तब वह संचालन (हरकत) स्नायुजालमें उत्तेजना उत्पन्न करता है, और उसके द्वारा कर्मेन्द्रियाँ कर्ममें प्रवृत्त होती हैं। उसी प्रवर्तनको चेष्टा या प्रयत्न कहते हैं।

चैतन्यवादी और अद्वैतवादी लोग यह स्वीकार करते हैं कि चेष्टामें देहका कुछ कार्य है, किन्तु उनके मतमें चेष्टा जो है वह मूलमें आत्माका कार्य है, वह आत्माकी इच्छासे उत्पन्न है, और आत्मा ही उस कार्यमें देहको परिचा-लित करती है। स्वतन्त्रतावादी लोग कहते हैं, वह इच्छा स्वाधीन है, अर्थात् इच्छा ही इच्छाका कारण है। अस्वतन्त्रतावादी लोगोंके मतमें वह इच्छा आत्माकी, अर्थात् पूर्व-स्वभाव, पूर्व-शिक्षा और पारिपार्श्विक अवस्थाका फल है। स्वतन्त्रतावाद और अस्वतन्त्रतावादमें इतना ही भेद है। अतएव यह सर्ववादिसंमत है कि चेष्टा कर्ताका कार्य है और कर्ताकी स्वतन्त्रता रहे या न रहे, उससे कुछ हानि नहीं। मगर कर्ता जो है वह चेष्टा करनेमें क्यों प्रवृत्त

हुआ, इसका कारण खोजने ही से स्वतन्त्रतावाद और अस्वतन्त्रतावादका अन्तर देखनेको मिल जाता है।

हम अपने अपूर्ण ज्ञानसे यह नहीं जान पाते कि आत्मा किस तरह देहको अपनी चेष्टामें परिचालित करती है। देह और आत्माका संयोग किस तरह का है, यह जाने विना इस प्रश्नका उत्तर नहीं दिया जा सकता। तो भी यहाँतक जाना गया है कि मस्तिष्क और स्नायुजाल ही देहको कार्यमें चलानेके यन्त्र-स्वरूप हैं। वह यन्त्र विकल होने पर आत्मा जो है वह देहके द्वारा किसी भी चेष्टाको सफल नहीं कर सकती। लेकिन हाँ, देहके अवश होनेपर भी आत्मा मन ही मन चेष्टा कर सकती है। इसके द्वारा यह प्रमाणित होता है कि चेष्टा जो है वह मूलमें आत्माहीका कार्य है।

दूसरा अध्याय।

कर्तव्यताका लक्षण।

कर्तव्यताके लक्षणकी आलोचनाका प्रयोजन।

इस कर्मक्षेत्रमें आकर हमारा पहला कर्तव्य यही ठीक करना है कि क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है। कर्तव्याकर्तव्यका निश्चय बहुत जगह पर सहज है, बहुत जगह पर सहज नहीं है, और कहीं कहीं पर तो बहुत ही कठिन है। अगर हरएक आदमीको हरएक बातमें अपने कार्यकी कर्तव्यता अकर्तव्यताका निश्चय करना होता तो जीवन-निर्वाह अथवा संसार-यात्रा बहुत ही जटिल और दुरूह होती। मगर सभी सभ्य देशोंके पण्डितोंने कर्तव्य-अकर्तव्यके बारेमें खूब सोच-विचार कर, धर्म-शास्त्र और नीतिशास्त्र लिखकर, सर्व साधारणके लिए राह बहुत साफ और सहज कर दी है। उन शास्त्रों-की बातें स्मरण रखनेसे और उन महापुरुषोंके दिखाये हुए मार्ग पर चलनेसे प्रायः लोग अपने कर्तव्यका पालन करनेमें समर्थ हो सकते हैं। किन्तु जिन जिन स्थलोंमें शास्त्रोंके बीच मतभेद है, वहाँ हमें अपनी विवेचना पर भरोसा करना पड़ता है। फिर कर्मक्षेत्र इतना विशाल और विचित्र है, और उसके सब संकीर्ण संकटस्थल इतने दुर्गम और नित्य-नूतन हैं कि वहाँ केवल पथप्रदर्शकके बताने पर ही निर्भर करनेसे पथिकका काम नहीं चलता; पथिकमें खुद अपनी राह पहचानलेनेकी क्षमताका रहना आवश्यक है। अतएव केवल नीतिविषयक सिद्धान्त जाने रहना ही यथेष्ट न होगा। प्रयोजनके माफिक किसी बातके अनुकूल-प्रतिकूल युक्ति-तर्क विचारकर अपने निजके सिद्धान्त पर पहुँचनेके योग्य होना हमारा कर्तव्य है। इसीलिए " कर्तव्यताका लक्षण क्या है ? "

यह कमसे कम कुछ कुछ सभीको मालूम रहना उचित है । इसी प्रश्नकी कुछ आलोचना यहाँ पर होगी ।

सुख-वाद ।

कर्तव्यताका लक्षण क्या है,इस विषयमें अनेक मतामत हैं । जीव निरन्तर सुखकी खोजमें लगा हुआ है, इसी कारण किसी-किसीके मतमें " जो सुखकर है वही कर्तव्य है " यह कर्तव्यताका लक्षण होना कुछ विचित्र नहीं है । यही मत **सुखवाद** कहा जासकता है । इसके अनेक प्रकारके अवान्तर विभाग हैं । इसका निकृष्ट दृष्टान्त है, प्राचीन ग्रीसदेशके एपीक्यूरसका मत । उसका मूल-उपदेश है—"खाओ, पियो, मौज करो । "

धर्मपरायण प्राचीन भारतमें यह मत अविदित नहीं था । यहाँके चार्वाक-संप्रदायका यही मत था । यथा—वे कहते हैं—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥ (१)

अर्थात् जबतक जिये सुखसे जिये । मृत्युसे कोई बच नहीं सकता । जब यह देह जलकर भस्म हो जायगी तो फिर यहाँ (संसारमें) आना कहाँ ?

इस निकृष्ट प्रकारके सुखवादकी असारताको लोग सहजहीमें समझ सकते हैं । यही कारण है कि इन्द्रियपरवश होनेके कारण इस मतके अनुसार काम करने पर भी अनेक लोग लोकलज्जाके मारे मुँहसे इस मतके हामी बननेके लिए तैयार नहीं हैं ।

हितवाद ।

परन्तु अपने लिए विषयसुखलालसा निन्दनीय होनेपर भी पराये लिए विषयसुख-कामना प्रशंसनीय है । जो साधारणको, अर्थात् अधिकांश लोगोंको, सुखकर है, वही कर्तव्य है—इस मतका अनुमोदन अनेक बुद्धिमान् विद्वानोंने किया है । यह अन्य प्रकारका सुखवाद है । इसको **हितवाद** भी कहें तो कह सकते हैं । कोई अगर एक झूठी बात कह दे, तो उसका ऋण मिट जाय और उसके सर्वस्वकी रक्षा हो—ऐसे स्थलपर निकृष्ट हितवाद

(१) सर्वदर्शनसंग्रहके अन्तर्गत चार्वाक-दर्शन देखो ।

शायद उस झूठ बोलनेको कर्तव्य बतलावेगा। किन्तु उसमें देनदारके सर्व-स्वकी रक्षा होनेपर भी साथ ही लेनदारकी भारी क्षति होती है, और मिथ्यावादीका मंगल देखकर अनेक लोग झूठ बोलनेके लिए उत्साहित होंगे, जिससे भविष्यत्‌में और भी अनेक लोगोंकी क्षति हो सकती है, अतएव उत्कृष्ट हितवादी जो है वह ऐसे स्थलमें झूठ बोलनेको अकर्तव्य समझेगा। जहाँ पर एक झूठ बात कहनेसे अनेकोंका, यहाँतक कि एक संप्रदाय या समाजका हित होता हो, और साथ ही किसीका स्पष्ट अहित न हो, वहाँपर हितवाद उस कार्यको कर्तव्य कहेगा या अकर्तव्य, सो कुछ ठीक ठीक कहा नहीं जा सकता। कर्तव्य कहना गोया मिथ्याको प्रश्रय देना है, और उससे भावी अनिष्ट हो सकता है—इस आशंकासे शायद हितवाद उसे अकर्तव्य ही कहेगा। सुखवाद और हितवाद, दोनों ही कर्तव्य-प्रवृत्तिकी प्रेरणासे उत्पन्न हैं।

प्रवृत्तिवाद।

अतएव इन दोनों मतोंको एकसाथ **प्रवृत्तिवाद** नाम दिया जा सकता है।

निवृत्तिवाद।

पक्षान्तरमें, अनेक लोग कहते हैं, प्रवृत्ति हमें कुपथगामी करती है और निवृत्ति सन्मार्गमें चलाती है। अतएव प्रवृत्ति-प्रेरित कर्म अकर्तव्य हैं, निवृत्तिमूलक कर्म ही कर्तव्य हैं।

भोग, विलासिता और कामनासे सम्बन्ध रखनेवाले कर्म अकर्तव्य हैं; वैराग्य, कठोरता और निष्कामभावसे युक्त कर्म ही कर्तव्य हैं। इस मतको **निवृत्तिवाद** कह सकते हैं।

सामञ्जस्यवाद।

हितवाद जो है वह कर्ताके अपने हितपर कम और पराये हितपर अधिक दृष्टि रखता है, और निवृत्तिवाद जो है वह प्रवृत्तिको घटाता है। किन्तु अपने हितपर भी यथोचित दृष्टि रखनी चाहिए, और प्रवृतिको एकदम दबा देना या मिटा देना अनुचित है। फिर बहुत लोग यह सोच कर कि अपने हित और पराये हित, प्रवृत्ति और निवृति, दोनोंका सामञ्जस्य करके कार्य करना आवश्यक है, कहते हैं—स्वार्थ और परार्थ तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति, दोनोंका

सामञ्जस्य करके कार्य करना ही कर्तव्य है । उनके मतको **सामञ्जस्यवाद** कह सकते हैं । (१)

न्यायवाद ।

प्रवृत्तिवाद, निवृत्तिवाद और सामञ्जस्यवाद, ये तीनों ऊपर कहे गये मत कर्तव्यताको कर्मका मौलिकगुण नहीं मानते । वे कहते हैं—कर्तव्यता जो है वह कर्मके फलसे अथवा कर्मकी प्रवर्तनाके मूलसे उत्पन्न है । इन तीन तरहके मतोंसे अलग और एक मत है । उसके अनुसार बाह्यवस्तु जैसे बृहत् या क्षुद्र, स्थावर या जंगम हैं, वर्ण जैसे शुक्ल कृष्ण या पीत इत्यादि हैं, वैसे ही कर्म भी कर्तव्य और अकर्तव्य हैं। अर्थात् बड़ापन या छोटापन जैसे वस्तुके मौलिक गुण हैं, अन्य गुणके अर्थात् स्थावरत्व या जंगमत्वके फल नहीं हैं,—सफेदी कालापन या पीलापन जैसे वर्णके मौलिक गुण हैं, अन्य गुणोंसे अर्थात् उज्ज्वलता या मलिनतासे उत्पन्न नहीं हैं,—वैसे ही कर्तव्यता या अकर्तव्यता अर्थात् न्याय या अन्याय, कर्मके मौलिक गुण हैं, अन्य गुणोंके अर्थात् सुख-कारिता या असुखकारिताके फल नहीं हैं, अथवा उसी तरहके अन्य गुणोंसे उत्पन्न नहीं हैं । और वस्तुका बड़ापन या छोटापन, और वर्णकी सफेदी या कालापन, जैसे प्रत्यक्षके द्वारा ज्ञेय हैं, वैसे ही कर्मकी कर्तव्यता अकर्तव्यता अर्थात् न्याय या अन्याय भी विवेकके द्वारा ज्ञेय हैं । इस मतको **न्यायवाद** कह सकते हैं ।

सहानुभूतिवाद ।

इनके सिवा और भी अनेक मत हैं, पर उनके विशेष उल्लेखका प्रयोजन नहीं है । कारण, कुछ सोचकर देखनेसे वे ऊपर कहेगये चारों मतोंमेंसे किसी न किसीके अन्तर्गत प्रतीत होंगे । उनमेंसे केवल एक मतकी कुछ चर्चा की जायगी । कारण, ईसाई धर्मके एक मूल उपदेशके साथ उसका अति घनिष्ठ सम्बन्ध है । वह मत संक्षेपमें यह है कि " भले या बुरेको मैं जैसा जानता हूँ, दूसरा भी वैसा ही जानता है । अतएव दूसरेके कार्यको मैं जिस भावसे देखता हूँ, मेरे कार्यको दूसरा भी उसी भावसे देखेगा । अतएव अन्यके जैसे कार्यका मैं अनुमोदन करता हूँ, मेरा भी वैसा ही कार्य अनुमोदनके योग्य और कर्तव्य है ।" इस मतको **सहानुभूतिवाद** कह सकते हैं

(१) स्वर्गीय बंकिमचंद्र चटर्जीके लिखे कृष्णचरित्रका पहला परिच्छेद देखो ।

(१)। यह ईसाका प्रसिद्ध उपदेश है कि 'तुम दूसरेसे जैसा व्यवहार पानेकी इच्छा रखते हो, वैसा ही व्यवहार दूसरेसे करना तुम्हारा कर्तव्य है' (२)। इस कथनका सारांश नीचे लिखे हुए आधे श्लोकमें मौजूद है—

"आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।"

अर्थात् पण्डित वही है, जो सब प्राणियोंको अपने समान देखता है।

ऊपरका मत एक प्रकारसे प्रवृत्तिवाद है। कारण, यह मत भी कर्तव्य-कर्मकी प्रवृत्तिसे प्रणोदित है।

अतएव ऊपर कहे गये मत चार भागोंमें बाँटें जा सकते हैं। जैसे—प्रवृत्तिवाद, निवृत्तिवाद, सामञ्जस्यवाद और न्यायवाद। इस समय यह निरूपण करना है कि इन चारों प्रकारके मतोंमें कौनसा युक्तिसिद्ध है। पहलेके तीनों मत कर्तव्यताको कर्मका मौलिक गुण नहीं मानते, कर्मके अन्य गुणों द्वारा उसका निर्णय हो सकता है—ऐसा कहते हैं। न्यायवाद जो है वह कर्तव्यताको कर्मका एक मौलिक गुण मानता है। अतएव सबके पहले यही विचारणीय है कि कर्तव्यता कर्मका मौलिक गुण है, या अन्य किसी गुणका फल है। इस विचारके कार्यमें न्यायवाद वादी है; सुखवाद और हितवाद इन दोनों श्रेणियोंका प्रवृत्तिवाद, निवृत्तिवाद और सामञ्जस्यवाद ये तीन प्रतिवादी हैं; आत्मा प्रधान साक्षी है; अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्के कुछ कार्यकलाप आनुषंगिक प्रमाण हैं, और बुद्धि ही विचारक है।

पहले देखा जाय कि इस जगह आत्माकी गवाही कैसी है। साधारणतः कर्तव्यता और अकर्तव्यता अर्थात् न्याय और अन्यायका प्रभेद क्या बड़ेपन और छोटेपन या सफेदी और कालेपनके प्रभेदकी तरह मौलिक है, यह प्रश्न करते ही आत्मा स्पष्टरूपसे उत्तर देती है कि 'हाँ, वैसा ही मौलिक है' और यह बात किसी कूट-प्रश्नके द्वारा नहीं उड़ा दी जा सकती। अगर पूछा जाय कि न्याय-अन्यायका प्रभेद अगर बड़ेपन-छोटेपनके प्रभेदकी तरह मौलिक है, तो उसे निश्चित करना इतना कठिन क्यों हो उठता है, और उसके बारेमें इतना मतभेद क्यों देख पड़ता है?, तो, इसका उत्तर यह है कि न्याय-अन्यायका प्रभेद निश्चित करना सर्वत्र कठिन नहीं है; हाँ, अनेक स्थलोंमें अवश्य कठिन

(१) Adam Smith's Moral sentiments देखो।

(२) Matthew VII, Page १२ देखो।

है । किन्तु बड़ेपन-छोटेपनका भेद निश्चित करना भी अनेक जगह कठिन है । जैसे लगभग तुल्य परिमाणकी एक गोल और एक चतुष्कोण वस्तुमें कौन बड़ी है और कौन छोटी यह देखते ही सहजमें नहीं कहा जा सकता । यदि सुखवाद या हितवाद प्रश्न करे कि यह बात क्या सत्य नहीं है कि सुख या हित न्याय-कर्मका और असुख या अहित अन्यायकर्मका निरवच्छिन्न फल है ?—और यह बात सत्य होनेपर सुखकारिता और असुखकारिता, अथवा हितकारिता और अहितकारिताको क्या कर्तव्यता और अकर्तव्यताका नामान्तर-नहीं कहा जा सकता ?, तो इसका उत्तर यह है कि, पहले तो, सुख या हित न्यायकर्मका और असुख या अहित अन्यायकर्मका निश्चित फल नहीं है । अनेक स्थलोंमें न्यायकर्मका फल सुख और अन्यायकर्मका फल दुःख है । किन्तु अनेक स्थलोंमें फिर इसके विपरीत भी देखा जाता है । झूठ बोलना अन्याय है, किन्तु ऐसे दृष्टान्त अनेक देखे जाते हैं कि जहाँ मिथ्यावादी मनुष्य अपनेको या अन्यको सुखी कर रहा है । दूसरे, सुखकारिता या हितकारिता न्यायकर्मका निश्चित फल होने पर भी, वह न्याय और कर्तव्यताका नामान्तर नहीं हो सकती । एक ही वस्तुके दो मौलिक गुण रहने पर यह कहना संगत नहीं है कि उनमें से एक दूसरेका नामान्तर है । जल तरल और स्वच्छ है, किन्तु इसी लिए स्वच्छताको तरलताका नामान्तर कौन कहेगा ? कर्तव्यकर्मका फल हितकर होनेके कारण यह कहना कभी युक्तिसिद्ध नहीं है कि कर्तव्यता और हितकारिता दोनों एक ही गुण हैं । एक स्थूल दृष्टान्तके द्वारा यह विषय कुछ स्पष्टरूपसे समझाया जा सकता है । अनेक बड़ी वस्तुएँ स्थितिशील और अनेक छोटी वस्तुएँ गतिशील देखी जाती हैं, किन्तु यह देखकर अगर कोई कहे कि बड़ापन और स्थितिशीलता या छोटापन और गतिशीलता एक प्रकारके गुण हैं तो उसकी यह बात जैसे असंगत है, वैसे सुखकारिता और कर्तव्यताको कर्मका एक ही प्रकारका गुण कहना उससे कम असंगत नहीं है ।

उसके बाद अब यह देखा जाय कि जगत्‌के कार्योंसे इस विषयका क्या आनुषंगिक प्रमाण मिलता है । प्रवृत्तिवाद, निवृत्तिवाद और सामञ्जस्यवाद, इन तीन मतोंके माननेवाले लोग कहेंगे कि बड़ापन-छोटापन आदि जैसे वस्तुके मौलिक गुण हैं, न्याय-अन्याय अगर कर्मके वैसे ही गुण होते, तो भिन्न भिन्न समा-

जमें न्याय-अन्यायके सम्बन्धमें इतना मतभेद न रहता । वे दिखावेंगे कि अति असभ्य जातियोंमें न्याय-अन्यायके भेदका ज्ञान बिल्कुल है ही नहीं—यह भी कहा जा सकता है, लेकिन उनमें सुख-दुःखके भेदका ज्ञान अत्यन्त तीव्र है । उनकी यह बात सत्य मान लेनेपर भी, केवल जगत्के एक भागका कार्य देखकर किसी स्थिर सिद्धान्तमें नहीं पहुँचा जा सकता । अन्य ओरके कार्योंको भी देखना आवश्यक है, और हमारी क्षीण बुद्धिसे जहाँतक साध्य है वहाँतक संपूर्ण जगत् पर दृष्टि रखकर जो सिद्धान्त संगत जान पड़े वही ग्राह्य है । जीवके ज्ञानका विकाश क्रमशः होता है, यह सर्ववादिसंमत बात है । उच्च श्रेणीके जीवके जो सब ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, अति निम्न श्रेणीके जीवमें वे नहीं देख पड़तीं । किन्तु किसी किसी श्रेणीके जीवके श्रवणेन्द्रिय न होनेसे यह नहीं कहा जा सकता कि ध्वनि या वर्णका प्रभेद मौलिक नहीं है। वैसे ही अति असभ्य जातियोंमें न्याय-अन्यायका बोध न होनेसे यह नहीं कहा जा सकता कि न्याय-अन्यायका प्रभेद मौलिक नहीं है । बहिर्जगत्-विषयक ज्ञानके सम्बन्धमें, मनुष्यजातिके भीतर भी, वैसी ही न्यूनाधिकता है । क्रमविकासका नियम सभी जगह प्रबल है। मनुष्यका अन्तर्जगत्-विषयक ज्ञान क्रमशः स्फूर्तिलाभ कर रहा है । असभ्य जातियोंमें केवल न्याय-अन्यायका बोध ही क्यों, और भी अनेक विषयोंका बोध, जैसे गणितके स्वतःसिद्ध तत्त्वका बोध भी, अत्यन्त अस्पष्ट है । उसके बाद अति असभ्य जातियोंमें न्याय-अन्यायका बोध बिल्कुल ही नहीं है, यह बात भी स्वीकार नहीं की जासकती । वह बोध दुर्बल या अस्फुट हो सकता है, किन्तु उसका संपूर्ण अभाव संभवपर नहीं जान पड़ता । हमारी अनेक दुष्प्रवृत्तियोंके भीतर भी यह न्याय-अन्यायका बोध प्रच्छन्नरूपसे निहित है । बदला लेनेके लिए जब कोई मनुष्य शत्रुपर आक्रमण करनेके लिए उद्यत होता है, तब यद्यपि आत्मरक्षाके लिए अनिष्टकारीसे बदला लेना उस कार्यका स्पष्ट उत्तेजक प्रतीत होता है, किन्तु शत्रुने जो अनिष्ट किया वह अन्याय कार्य है और न्यायके अनुसार उसका बदला उससे मिलना चाहिए—यह भाव आक्रमण करनेवालेके हृदयके भीतर अस्फुटरूपसे रहता है । आत्मासे पूछने पर उसकी उक्तिसे और अनेक जगह बदला लेनेवालेकी अपनी उक्तिसे यह बात जानी जाती है । प्रवृत्तिवादी लोग कह सकते हैं कि इस बातसे तो सुखवाद और हितवाद ही प्रमाणित

होता है, और जो कार्य सुखकर या हितकर है वही क्रमशः न्यायसंगत कह-कर अभिहित और गृहीत होता है । यह बात कुछ कुछ यथार्थ होने पर भी संपूर्ण रूपसे यथार्थ नहीं है । सच है कि मनुष्य निरन्तर सुखकी खोजमें लगा हुआ है, और सुखकी खोज करते करते ही क्रमशः न्यायकी ओर नजर पड़ती है; क्योंकि इस विश्वके विचित्र नियमके अनुसार जो न्यायसंगत है वही यथार्थ सुखकर है । हम अपने सुखके लिए स्त्री-पुत्र-कन्याको प्यार करना पहले सीखकर अंतको पराये सुखके लिए सारे विश्वके प्रेमके अधिकारी होते हैं । जो श्रेय है वही यथार्थ प्रेय है, इसी लिए प्रेयकी खोजमें जाकर क्रमशः हम श्रेयको पाते हैं । यह सृष्टिका विचित्र कौशल है । किन्तु इसी लिए यह कहना ठीक नहीं कि जो सुखकर है वही कर्तव्य है और जो प्रेय है वही श्रेय है ।

और एक बात है । पहले ही (प्रथम भागके दूसरे अध्यायमें) कहा जा-चुका है कि मनुष्यकी अपूर्णताके कारण यह बात नहीं है कि हमारा जाना हुआ रूप ही ज्ञेय पदार्थका यथार्थ रूप हो । हाँ, ज्ञानवृद्धिके साथ साथ उस यथार्थ रूपकी उपलब्धि होती है । असभ्य मनुष्य कर्मके सुखकारिता-गुणसे अलग कर्तव्यताका गुण नहीं देख पाता । किन्तु सभ्य मनुष्य अपने बढ़े हुए ज्ञानके द्वारा अलग स्पष्टरूपसे उस कर्तव्यताकी उपलब्धि करता है । यह विचित्र नहीं है, और इसमें कर्तव्यता या न्यायका अलग अस्तित्व अस्वीकार करनेका कोई कारण नहीं देख पड़ता। यदि कोई कहे, सभ्य मनुष्य जो कर्तव्यताकी अलग उपलब्धि करता है सो वह असभ्य मनुष्यके अनुभूत सुखकारितागुणका क्रमविकासमात्र है, तो उसमें आपत्ति नहीं है, यदि वह स्वीकार कर ले कि बढ़े हुए ज्ञानमें कर्मके कर्तव्यता-गुण की जो उपलब्धि होती है वही उस गुणका यथार्थ स्वरूप है । किन्तु अगर वह कहना चाहे कि सुखकारितागुण ही कर्मका एक प्रकृत गुण है, क्रमविकासके द्वारा अनुभूत कर्तव्यता- गुण प्रकृत गुण नहीं—कल्पित गुण है, तो वह बात किसीतरह स्वीकार नहीं की जासकती । अँधेरे घरमें जो वस्तुएँ होती हैं उनकी अस्पष्ट छाया भर देखनेको मिलती है, बादको रोशनी करने पर वे वस्तुएँ स्पष्ट देख पड़ती हैं । यहाँ पर अगर यह कहा जाय कि जो देखा जाता है वह पूर्वानु-भूत छायाका विकासमात्र है तो कुछ दोष नहीं । किन्तु यह कहना कभी

संगत न होगा कि जो रोशनीमें स्पष्ट देख पड़ता है वह गृहस्थित वस्तुओंका कल्पित रूप है, और पूर्वानुभूत छाया ही उन वस्तुओंका यथार्थ रूप है।

न्यायवाद ही युक्तिसिद्ध है।

अतएव विचारके द्वारा हम इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि न्यायवाद ही युक्तिसिद्ध है, अर्थात् कर्तव्यता या न्यायपरायणता कर्मका एक मौलिक गुण है, वह सुखकारिता या हितकारिता अथवा ऐसे ही अन्य किसी गुणका फल नहीं है।

इस मूल-प्रश्नकी मीमांसाके बाद कर्तव्यताके सम्बन्धमें और दो प्रश्नोंकी आलोचना बाकी रही। वे ये हैं—

१—साधारणतः कर्तव्यताके निर्णयका विधान क्या है ?

२—संकटके अवसर पर कर्तव्यताके निर्णयका विधान क्या है ?

इन दोनों प्रश्नोंकी आलोचना क्रमसे की जायगी।

कर्तव्यताके निर्णयका साधारण विधान।

बहुत लोगोंके मनमें इस तरहकी आपत्ति उठेगी कि जब यह निश्चय हो गया कि कर्तव्यता कर्मका मौलिक गुण है, तब उसका निर्णय करनेके लिए किसी विधानका क्या प्रयोजन है ? जैसे आकार-वर्ण आदि बहिरिन्द्रियग्राह्य मौलिक गुण प्रत्यक्षके द्वारा जाने जाते हैं, वैसे ही अन्तरिन्द्रियग्राह्य कर्तव्यता-गुण अन्तर्दृष्टिके द्वारा जाना जायगा। बहुत लोगोंका कथन है कि जैसे रूप-रस-शब्द—गंध आदि गुणोंको जाननेके लिए आँख-जीभ-कान-नाक आदि बाहरी इन्द्रियाँ हैं, वैसे ही कर्तव्यता-गुण जाननेके लिए अन्तरिन्द्रिय अर्थात् मनकी विवेक-नामक एक विशेष शक्ति है और वही हमें बात देती है कि कौन कर्म कर्तव्य है—कौन अकर्तव्य है। पक्षान्तरमें, अनेक लोग ऐसा कह सकते हैं कि कर्तव्यता कर्मका मौलिक गुण होने पर भी उसका निर्णय करना अवश्य ही कठिन है। अगर यह बात न होती तो उसके सम्बन्धमें इतना मतभेद क्यों देख पड़ता है ? असल बात यह है कि अन्यान्य मौलिक गुणों-की तरह कर्तव्यता भी स्वतः प्रतीयमान है, और बहिर्जगत् विषयक मौ-लिक गुण जैसे प्रत्यक्षके द्वारा जाने जाते हैं, वैसे ही अन्तर्जगत्-विषयक यह मौलिक गुण कर्तव्यता भी अन्तर्दृष्टिके द्वारा जानी जाती है। ज्ञाताकी जिस शक्तिके द्वारा उस गुणकी उपलब्धि होती है उसे बुद्धिकी अलग एक खास

शक्ति अनुमान करनेका प्रयोजन नहीं है। कोई कोई उस शक्तिको विवेक कहते हैं। मगर वह बुद्धिहीका एक अन्य नाममात्र है। साधारणः सभी जगह बुद्धि जो है वह किसी तरहकी परीक्षाके बिना फौरन् कर्तव्यताका निर्णय कर सकती है। किन्तु ऐसे अनेक जटिल स्थल भी हैं जहाँ वैसा होना संभव नहीं; कर्तव्यताके निर्णयके लिए परीक्षा और पर्यालोचनाका प्रयोजन है। जिन जिन विषयोंके द्वारा वह परीक्षा की जाती है वे विषय कभी कभी कर्तव्यताका परिचय देनेवाले न मानेजाकर कर्तव्यताके उपादान अनुमित हुए हैं। जो कर्तव्य है वह प्रायः हितकर ही होता है, इसी कारण किसी कर्मविशेषके सम्बन्धमें सन्देह होने पर बुद्धि कल्पनाके द्वारा परीक्षा करके देखती है—वह कर्म हितकर है कि नहीं। और इससे कोई कोई अनुमान करते हैं कि कर्तव्यता जो है वह हितकारिताके उपादानसे गठित है और हितकारिताका नामान्तरमात्र है। अगर किसी कर्मकी कर्तव्यताका निर्णय करनेके लिए यह ठीक करना कठिन हो कि वह हितकर है या नहीं, तो बुद्धि और तरहकी परीक्षाका प्रयोग करती है। जैसे—जो कर्तव्य है उसमें अक्सर स्वार्थ और परार्थका सामञ्जस्य रहता है, अतएव बुद्धि कल्पनाके द्वारा देखती है कि उपस्थित कर्ममें वह सामञ्जस्य है या नहीं। इसीसे कोई कोई अनुमान करते हैं कि कर्तव्यता जो है वह स्वार्थ और परार्थके सामंजस्यके सिवा और कुछ नहीं है। इसी तरह हितवाद सामंजस्यवाद आदि भिन्न भिन्न मतोंकी उत्पत्ति हुई है।

मनुजीने कहा है—

> वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
> एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥
>
> (मनु २। १२)

अर्थात् वेद (श्रुति), स्मृति, सदाचार और आत्माका सन्तोष, ये ही चार धर्मके लक्षण कहे गये हैं।

वेद स्मृति और साधुपुरुषोंके सदाचारके साथ साथ आत्मतुष्टिको भी धर्मका लक्षण बतानेसे इसका आभास पाया जाता है कि मनुके मतमें भी विवेक जो है वह धर्म अर्थात् कर्तव्यताके निरूपणका उपाय है।

महाभारतके वनपर्वमें यक्षके " कः पन्थाः " (मार्ग क्या है ?) इस प्रश्नके उत्तरमें युधिष्ठिरने शास्त्रों और मुनियोंके मतभेदका उल्लेख करके कहा था—" महाजनो येन गतः स पन्थाः " (जिस राहसे महत् जन गये हैं वही मार्ग है)। इस स्थल पर महाजन शब्दका अर्थ जनसाधारण या जनसमूह है। जनसाधारण जिस मार्गमें चलते हैं वह एककी बुद्धिके द्वारा नहीं (क्योंकि वह भ्रान्त हो सकता है) दस आदमियोंकी बुद्धिके द्वारा निरूपित होता है। अतएव उसका ठीक मार्ग होना ही सर्वथा संभव है। इसमें भी एक प्रकारसे कहा गया है कि हमारी बुद्धि ही कर्तव्यताका अंतिम पथप्रदर्शक है।

कर्तव्यता-निरूपणके दुर्गम होनेकी जो बात कही गई, उस तरहकी दुर्गमता अन्यान्य अपेक्षाकृत सहज मौलिक गुणोंके निरूपणमें भी होती है। जैसे—आयतनकी न्यूनाधिकता प्रत्यक्षका विषय और सहज जान पड़ती है, किन्तु लगभग समान आयतनकी दो वस्तुओंमें एक गोल और एक चतुष्कोण होनेपर देखते ही यह नहीं बताया जा सकता कि कौन छोटी है और कौन बड़ी है। जान पड़ता है, दोनोंको एकत्र रखकर भी उनके आयतनकी न्यूनाधिकताका निश्चय नहीं किया जा सकता। एकको खण्ड खण्ड करके दूसरीके साथ मिलाया जाय, तभी वह न्यूनाधिकता ठीक जानी जा सकती है।

ऊपर जिन सब बातोंका उल्लेख हुआ उनसे यह देख पड़ता है कि यद्यपि प्रवृत्तिवाद, निवृत्तिवाद और सामञ्जस्यवादसे कर्तव्यताका निर्णय नहीं होता, तथापि उनसे कर्तव्यताका परिचय मिलता है, और वे कर्तव्यताका निर्णय करनेवाले न्यायवादकी सहायता कर सकते हैं।

सुखकी अभिलाषा और हितकी अभिलाषा—इन सुप्रवृत्तियोंका अनुसरण, निवृत्ति मार्गका अनुसरण, स्वार्थ-परार्थ और प्रवृत्ति-निवृत्तिका सामञ्जस्य करना और न्यायमार्गका अनुगमन, ये सभी कर्मके सद्गुण हैं। तो भी कर्ताकी अपूर्णताके कारण ये क्रमशः उच्चसे उच्चतर जान पड़ते हैं। न्यायमार्गका अनुसरण सबसे उच्च श्रेणीका और सुखको खोजना सबसे निम्न श्रेणीका है।

देहयुक्त होनेके कारण हमारे कुछ एक अभावोंको पूर्ण करनेका अत्यन्त प्रयोजन है, इस लिए, और उस अपूर्णताके मारे हम यह नहीं समझते कि हमारा यथार्थ सुख क्या है, इस लिए भी, अनेक समय सुखकी खोज हमको

कुमार्गमें ले जाती है । हम वर्तमानके क्षणिक सुखकी लालसामें फँसकर भविष्यके चिरस्थायी सुखकी बात भूल जाते हैं, और ऐसे कार्य कर बैठते हैं जिनसे कमसे कम कुछ कालके लिए उस चिरस्थायी सुखकी आशा नष्ट हो जाती है । इसी कारण असंयत सुखकी खोज इतनी निन्दनीय है । वह न हो तो यथार्थ सुखकी अभिलाषामें दोष नहीं है । सुखलाभकी प्रवृत्ति हमारा स्वभावसिद्ध धर्म है । उसका उद्देश्य हमें उन्नतिकी राहमें ले जाना है । वही प्रवृत्ति सब जीवोंको यथार्थ या कल्पित सुखकी लालसामें डालकर कर्ममें नियुक्त करती है । उसी कर्मके फलसे कोई जीव उन्नतिकी राहमें और कोई जीव अवनतिके मार्गमें जाता है । जो जीव कुमार्गमें जा पड़ते हैं, वे फिर शीघ्र हो या विलम्बमें हो, उस राहमें सच्चा सुख न पकर, सुखकी खोजमें, उधरसे लौट आते हैं । केवल सुखलाभकी प्रवृत्तिके बारेमें नहीं, हरएक प्रवृत्तिके सम्बन्धमें यही बात कही जा सकती है । जिन हिंसा-द्वेष आदि सब प्रवृत्तियोंको निकृष्ट कहा जाता है उनका भी मूल-उद्देश्य एकदम बुरा नहीं है । कारण, उनका संयतकार्य स्वार्थरक्षा है, परार्थकी हानि नहीं । मगर हाँ, विश्वका विचित्र नियम यही है कि प्रवृत्तिमात्र ही सहजमें असंयत हो उठती हैं, और उचित सीमाको नाँघकर कार्य करने लगती है । इसी लिए प्रवृत्ति-दमनका इतना प्रयोजन है । इसी लिए प्रवृत्ति इतना अविश्वस्त पथप्रदर्शक है । इसी लिए कर्ताकी सुखकारिता कर्मकी कर्तव्यताका इतना अनिश्चित लक्षण है ।

प्रवृत्तिका एकमात्र नियन्ता बुद्धि है, और बुद्धिका एकमात्र बल ज्ञान है । ज्ञानकी सहायतासे बुद्धि सहजमें ही देख पाती है कि कर्ताकी सुखकारिता कर्मकी कर्तव्यताका निश्चित लक्षण नहीं है । किन्तु अन्यको सुखी करनेकी या जनसाधारणका हित करनेकी पर्यालोचनामें प्रवृत्तिकी उतनी प्रबलता रहना संभव नहीं है । परन्तु जनसाधारणके हितमें कर्ताका भी हित है । कारण, कर्ता भी जनसाधारणमेंका ही एक आदमी है । अतएव उस पर्यालोचनामें भी प्रवृत्ति एकदम चुप नहीं है, उसके साथ प्रवृत्तिका बहुत कुछ संसर्ग है । अधिकता यह है कि हमारे ज्ञानकी अपूर्णताके कारण वह पर्यालोचना एक अति कठिन कार्य है । यह ठीक करना अनेक स्थलोंमें अतिकठिन है कि कौन कर्म कहाँतक हितकारी या अपकारी है, और उसका परिणाम-फल क्या

है (१) ? इसी लिए यद्यपि हितकारिता जो है वह कर्तव्यताका परिचय देनेवाली है और सुखकारिताकी अपेक्षा अधिक निर्भरके योग्य कर्तव्यताका लक्षण है, तथापि संपूर्णरूपसे निर्भरके योग्य नहीं है।

प्रवृत्तिके दोष-गुणकी बात ऊपर कह दीगई। प्रवृत्तिका गुण यह है कि वह मूलमें अच्छे उद्देश्यके साथ हमें हितकर कार्यमें प्रबलभावसे प्रेरित करती है। उसमें दोष यह है वह सहज ही न्यायकी सीमाको नाँघ जाती है, और मूल-उद्देश्य अच्छा होने पर भी अन्तमें हमें कुमार्गमें ले जाती है। कर्मका स्थान कर्मीके सामने है, कर्मका काल वर्तमान है। अतएव कर्मकुशल लोगोंके लिए अदूरदर्शिता एक प्रकारसे अपरिहार्य है, और कुछ कुछ क्षमाके योग्य है। इस तरहके अदूरदर्शी कर्मकुशल लोग प्रवृत्ति मार्गके पक्षपाती हैं, और वे प्रवृत्तिमार्गके अनुसरणको एक प्रकारसे कर्तव्यताका लक्षण समझते हैं। किन्तु सुदूरदर्शी मनीषी नीतिशिक्षक लोगोंने प्रवृत्तिमुख कर्मकी अपेक्षा निवृत्तमुख कर्मकी ही अधिक प्रशंसा की है, और निवृत्ति मार्ग ग्रहण करनेका ही उपदेश दिया है। उनके मतमें निवृत्तिमार्गका अनुसरण ही कर्तव्यताका औरोंकी अपेक्षा निर्भर-योग्य लक्षण है। इस मतके अनुकूल पक्षमें सामान्य ज्ञानके द्वारा यह बात कही जा सकती है कि प्रवृत्ति सहज ही इतनी प्रबल है कि प्रवृत्तिके अनुसार काम करनेके लिए किसीसे भी कहनेकी जरूरत नहीं होती। प्रवृत्तिको संयत करने और निवृत्तिमार्गमें ले जानेके लिए ही शिक्षा और उपदेश आवश्यक है। मगर इसमें बाधा है। यह सच है कि कर्मस्थल कठिन होनेपर निवृत्ति-मार्गगामी कभी अकर्म नहीं करेगा, किन्तु यह आशंका संगत है कि वह अनेक समय सत्कर्म भी नहीं कर सकता।

ऊपर कहा गया है कि प्रवृत्तिका एकमात्र नियन्ता बुद्धि ही है, और बुद्धिका एकमात्र सहायक ज्ञान ही है। और यह भी कहा जा सकता है कि प्रवृत्ति-निवृत्ति और स्वार्थ-परार्थका सामंजस्य एकमात्र बुद्धि ही कर सकती है, और इस कार्यमें भी ज्ञान ही अकेला बुद्धिका सहायक है। यह बात ठीक नहीं कि प्रवृत्तिमें दोषोंके सिवा गुण कुछ भी नहीं है, या निवृत्ति एकदम दोष-

(१) Victor Hugo's Les Miserables उपन्यासके जिस अंशमें नायक Jean Valjeans' अपने विरुद्ध साक्षी दूँ, या न दूँ इस सम्बन्धमें तर्क वितर्क अपने मनमें करता है, वह अंश देखना चाहिए।

शून्य है, और इसका आभास ऊपर दिया जा चुका है। प्रवृत्ति और निवृत्तिके सम्बन्धमें जो कहा गया है, ठीक वही बात स्वार्थ और परार्थके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। हमारा यथार्थ स्वार्थ, जिसमें हमारा मंगल हो, उसे खोजना दोषकी बात नहीं है। किन्तु अपनी अपूर्णताके कारण उसे न समझ कर हम कल्पित स्वार्थके लिए व्यग्र होते हैं, और अन्यके हिताहितकी ओर बिल्कुल नहीं देखते। इसी कारण स्वार्थपरता इतने अनिष्टोंकी जड़ और इतनी निन्दनीय है। आत्मरक्षाके लिए स्वार्थकी ओर कुछ दृष्टि रखना आवश्यक है। और, केवल यही नहीं, स्वार्थकी ओर दृष्टि रखनेसे पराया अर्थ अर्थात् जनसाधारणका हित भी अवश्य ही साधित होगा। कारण, हमारा यथार्थ स्वार्थ परार्थविरोधी नहीं, बल्कि परार्थके साथ संपूर्ण रूपसे मिला हुआ है। स्वार्थ कुछ सिद्ध किये बिना हम पराया अर्थ सिद्ध नहीं कर सकते। मैं अगर खुद असुखी और असन्तुष्ट रहूँगा तो मेरे द्वारा दूसरेका सुखी और सन्तुष्ट होना कभी संभव नहीं (१)। मगर एकबार स्वार्थकी ओर देखना आरंभ करनेसे स्वार्थपरता इतनी बढ़ उठती है कि फिर सहजमें वह दबाई नहीं जा सकती। इसी कारण नीतिशिक्षकोंने स्वार्थ-परताको दबाये रखनेका इतना उपदेश दिया है। इन सब बातोंपर विचार करनेसे स्पष्ट समझ पड़ता है कि प्रवृत्ति-निवृत्ति और स्वार्थ-परार्थका सामंजस्य करके चलनेकी अत्यन्त आवश्यकता है, और जिन कर्मोंमें प्रवृत्ति-निवृत्ति और स्वार्थ-परार्थ-का सामंजस्य है, उनका न्यायसंगत होना ही संपूर्ण संभव है। किन्तु प्रवृत्ति और स्वार्थपरता सर्वदा इतनी प्रबल हैं, और पूर्वोक्त सामंजस्य करना इतना कठिन है कि कर्तव्यताका निर्णय करनेमें केवल उसीपर निर्भर करनेसे काम नहीं चलता।

यह सब सोचकर देखनेसे जाना जाता है कि यद्यपि सुखकारिता हितकारिता आदि कर्मके अन्यान्य सद्गुण कर्तव्यताके परिचायक हैं, और किसी खास कामकी कर्तव्यता जाँचनेमें उनपर दृष्टि रखनेसे सुभीता हो सकता है, किन्तु वे सब गुण कर्तव्यताके लक्षण नहीं हैं, और फलाफलकी चिन्ता न करके सबके पहले ही कर्मकी न्यायानुगामिता पर लक्ष्य रखना आवश्यक है।

---

(१) Herbert Spencer's Data of Ethics, Chapters XIII and XIV इस सम्बन्धमें देखो।

न्यायानुगामिता ही कर्तव्यताका नित्य और निश्चित लक्षण है। और बुद्धि या विवेक प्रायः सहज ही कह दे सकते हैं कि यह कर्म न्यायानुगत है कि नहीं। केवल संशय-स्थलमें, उपस्थित कर्ममें ऊपर कहा गया अन्य कोई सद्गुण है कि नहीं, यह विवेचनीय है।

अगर हम देहसंयोगके कारण कुछ अवश्यपूरणीय अभावोंकी पूर्ति करनेके लिए वाध्य न होते, और अगर हममें पूर्ण ज्ञान रहता, तो हम अपने यथार्थ सुख, यथार्थ हित और यथार्थ स्वार्थको जान सकते और उनका अनुसरण भी कर सकते। तब स्वार्थ और परार्थमें, प्रवृत्ति और निवृत्तिमें, कोई विरोध नहीं रहता। उस अवस्थामें, जो अपने लिए सुखकर होता वही पराये लिए हितकर होता, जो स्वार्थपर होता वही परार्थपर होता, जो प्रवृत्ति-प्रेरित होता वही निवृत्तिसे अनुमोदित होता। किसीके साथ किसीका सामञ्जस्य करनेका प्रयोजन ही न रह जाता। सभी कार्य न्यायानुगत होते। सुखवाद-हितवाद आदि प्रवृत्तिवाद, निवृत्तिवाद और सामञ्जस्यवाद, ये तीनों मत न्यायवादके साथ एकत्र मिलित होते। सुदूरकालमें हमारी पूर्णावस्थामें, इन चारों मत-वादोंके मिलनेकी संभावना होनेसे ही, इस अपूर्णावस्थामें हम उसी मिलनका अस्पष्ट आभास पाकर कभी एकको और कभी दूसरेको यथार्थ मत कहकर मानते हैं। फिर वह मिलन अतिदूरस्थ होनेसे ही प्रथमोक्त तीनों मतोंके ऊपर भरोसा करनेमें मन ही मन शंकित होते हैं—खटका खाते हैं। पक्षान्तरमें, कर्तव्यता अर्थात् न्यायानुगामिता कर्मका मौलिक लक्षण होने पर भी—और वह विवेकके द्वारा निरूपित होने पर भी, हम इस अपूर्ण-अवस्थामें स्वार्थ और प्रवृत्तिके द्वारा इतना विमोहित होते हैं कि हमारा विवेक अनेक स्थलोंमें उस मौलिक नित्य-गुणको देख नहीं पाता, और सुखकारिता-हितकारिता आदि अनित्य गुणोंके द्वारा कर्मकी कर्तव्यता ठीक करनेको वाध्य होता है। इस जगह एक बात कहना आवश्यक है। यद्यपि न्यायवाद ही कर्तव्यता-निर्णयके सम्बन्धमें प्रशस्त मत है, और उसके अनुसार चलना ही श्रेय है, तथापि हमारी इस अपूर्ण अवस्थामें अनेक लोग ऐसे हैं जो उस मतके अनुसरणके अधिकारी नहीं है। जो विषय-वासनामें निरन्तर व्याकुल हैं, और बहिर्जगत्‌के स्थूल पदार्थोंकी आलोचनाको ही बुद्धिका श्रेष्ठ कार्य और ज्ञानकी अन्तिम सीमा समझते हैं, उनकी वासना-विवर्जित आ-

ध्यात्मिक चिन्तामें मग्न होनेकी ओर, और अन्तर्जगत्के सूक्ष्मतत्त्व (अर्थात् फलाफलसंस्रवरहित नीरस कर्तव्यता) के अनुशीलनमें लगनेकी ओर, प्रवृत्ति ही नहीं होती। प्रवृत्ति होने पर भी पूर्वाभ्यास और पूर्वशिक्षाके कारण उस चिन्ताकी और उस तत्त्वके अनुशीलनकी क्षमता ही उनमें नहीं होती। अतएव जैसे स्थूलदर्शी लोगोंके लिए निराकार ब्रह्मकी उपासनाकी अपेक्षा साकार देवताकी उपासना विधेय है, वैसे ही पूर्वोक्त प्रकारके लोगोंके लिए न्यायवादकी अपेक्षा क्रमशः सुखवाद, हितवाद, और सामञ्जस्यवाद ही अवलंबनीय हैं।

संकटस्थलमें कर्तव्यताका निर्णय।

ऊपर साधारण स्थलमें कर्तव्यता-निर्णयके विषयकी बात कही गई है। अब संकटस्थलमें कर्तव्यताके निर्णयसे सम्बध रखनेवाली कुछ बातें कही जायँगी। कर्मक्षेत्र बहुविस्तृत और संकट-पूर्ण है, और उसके संकट-स्थल भी अत्यन्त दुर्गम हैं। सब संकटस्थलोंकी आलोचना करनेकी, अथवा किसी संकटस्थलसे निर्विघ्न निकल जानेके उपायका आविष्कार करनेकी मैं आशा नहीं रखता। केवल निम्नलिखित निरन्तर उठनेवाले चार प्रश्नोंकी कुछ आलोचना यहाँ पर की जायगी। वे चारों प्रश्न ये हैं—

१—आत्मरक्षाके लिए अनिष्टकारीका अनिष्ट करना कहाँ तक न्यायसंगत है?

२—पराये हितके लिए अनिष्टकारीका अनिष्ट करना कहाँ तक न्यायसंगत है?

३—आत्मरक्षाके लिए अनिष्टकारीके साथ असत्य-आचारण कहाँ तक न्यायसंगत है?

४—पराये हितके लिए अनिष्टकारीके साथ असत्य-आचरण कहाँ तक न्यायसंगत है?

१—आत्मरक्षाके लिए अनिष्टकारीका अनिष्ट करना कहाँ तक न्यायसंगत है, इस प्रश्नका उत्तर सब लोग ठीक एक ही ढंगसे नहीं देंगे। असभ्य अशिक्षित जातियोंसे यह उत्तर मिलेगा कि जहाँतक हो सके, अनिष्टकारीका अनिष्ट करना उचित है किन्तु सभ्य शिक्षित मनुष्य ऐसी बात नहीं कहेंगे। यहाँ पर महाभारतका यह वाक्य कि—

अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते।
छेत्तुमप्यागते छायां नोपसंहरते द्रुमः॥
(महाभारत, शान्तिपर्व ५५२८)

[अर्थात् शत्रु भी घरमें अगर आवे तो उसका आदर सत्कार करना उचित है। देखो, जो कुल्हाड़ी लकर काटने आता है, उस परसे भी वृक्ष अपनी छायाको हटा नहीं लेता।]

और शैल-शिखर परसे ईसाका यह उपदेश कि 'अनिष्टका प्रतिरोध न करना' (१) स्मरण करना चाहिए।

जानसे मार डालनेके लिए उद्यत आततायीको आत्मरक्षाके लिए मार डालना प्रायः सभी देशोंकी सब समयकी दण्डविधि द्वारा अनुमोदित है। मनु भगवानने भी कहा है—

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
(मनु। ८।३५१)

[अर्थात् आततायीको मार डालनेमें मारनेवालेको कुछ भी दोष नहीं होता।]

भारतकी वर्तमान दण्डविधि भी यही बात कहती है। लेकिन यह स्मरण रखना होगा कि दण्डविधिका मूल उद्देश समाजकी रक्षा करना है, नीति-शिक्षा देना नहीं है। अतएव दण्डविधिकी बात सब जगह सुनीतिके द्वारा नहीं भी अनुमोदित हो सकती है।

प्राणनाश या उसके तुल्य और कोई गुरुतर और अपूरणीय क्षतिके निकट होनेकी जहाँ आशंका हो उस जगह उस क्षतिको रोकनेके लिए अनिष्टकारी-का जितना अनिष्ट करना आवश्यक हो उतना अनिष्ट करना शायद न्यायानु-गत ही कहा जायगा। जहाँ क्षतिको रोकनेका दूसरा उपाय है वहाँ, और जहाँ थोड़ी क्षतिकी आशंका हो वहाँ, अनिष्टकारीका अनिष्ट न करके दूसरे उपायको काममें लाना ही न्यायसंगत है। यदि भाग जानेसे अनिष्ट निवारण हो, तो भीरुताके अपवादका भय करके उस उपायको काममें न लाना,

(१) 'Resist not evil' इस वाक्यका अनुवाद :—Matthew, V, P. 39 देखो।

और अनिष्टकारीको चोट पहुँचाना सुनीतिसंगत नहीं है । बहुत लोग कहते हैं, अनिष्ट या अपमान करनेवाले मनुष्यका शासन अपने हाथसे न कर सकनेसे उसका समुचित प्रतिशोध या मनुष्योचित कार्य नहीं होता, और जो वैसा नहीं कर सकता वह कायर है, उसे आत्मगौरवका बोध नहीं है । अगर कोई अपने अनिष्टके भयसे अनिष्टकारीको दण्ड न दे, तो उसके लिए यह बात कही जा सकती है । किन्तु तथापि यह कथन संपूर्ण रूपसे न्यायसंगत नहीं है । अपने अनिष्टका निवारण कर्तव्य है, किन्तु ऊपर कहे गये संकटकी जगहको छोड़ कर अन्य किसी जगह पराया अनिष्ट करना सुनीतिसंगत नहीं है । अनिष्ट या अपमान करनेवालेके ऊपर क्रोध होना मनुष्यके लिए स्वभावसिद्ध है, और उसी क्रोधके वेगमें अनिष्टकारी पर आक्रमण करनेसे शारीरिक बलका परिचय मिल सकता है, लेकिन मानसिक बलका विशेष परिचय नहीं मिलता । बल्कि उस क्रोधको दबा देना ही विशेष मानसिक बलका परिचय देता है । जो व्यक्ति अन्याय रूपसे अन्यका अनिष्ट या अपमान करता है वह मनुष्य नामधारी होने पर भी पशुप्रकृति है, और बाघ-भालू-पागल सियार-कुत्ते आदिको लोग जैसे बरा जाते हैं वैसे ही वह भी त्याज्य है। अतएव उसे दण्ड न देकर अगर कोई चला जाय तो उसमें उस मनुष्य नामधारी पशु प्रकृति मनुष्यके लिए आत्मगौरव या स्पर्धाकी कोई बात नहीं है । मगर हाँ, ऐसा करना उसे कुछ प्रश्रय देना (अर्थात् उसकी हिम्मत बढ़ाना) है, यह बात अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी । किन्तु साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि जनसाधारणकी विवेचनाकी त्रुटि ही उस प्रश्रयका कारण है । बलके और साहसके कार्यमें स्वार्थत्यागका कुछ संसर्ग रहता है, और उसके द्वारा बहुधा लोगोंका हितसाधन होता है । इसी कारण उस तरहके कार्य वीरोचित कहकर काव्यमें वर्णन किये जाते हैं, और जन साधारण भी उन्हें वीरोचित जानकर उनका आदर करते हैं । जो मनुष्य वैसे कार्य करनेसे विमुख होता है उसकी निन्दा की जाती है और अनादर होता है । अतएव अगर कोई क्षमा करके अपकार करनेवालेको दण्ड न दे, तो केवल दो-ही चार आदमी उसकी प्रशंसा कर सकते हैं, अधिकांश लोग उसको अनादरकी ही दृष्टिसे देखेंगे, और उसका वह अनादर अपकार करनेवालेके लिए प्रश्रयका कारण होगा ।

क्षमाशीलता कायरपन नहीं है।

जब तक जनसाधारणकी यह धारणा अथवा संस्कार परिवर्तित न होगा, तब तक क्षमाशीलकी यही दशा होगी। किन्तु जो आदमी अपकार करनेवालेके अमार्जनीय अत्याचारको क्षमा कर सकता है, वह सर्वसाधारणके मार्जनीय अनादरको अनायास ही सह सकता है। अगर कोई कहे कि उसकी वह क्षमा अन्याय है, और अपकार करनेवालेको दण्ड देना ही कर्तव्य है, तो उसका अखण्डनीय उत्तर भी है। अपकार करनेवालेको दण्ड देना आशु-प्रतिकारका उपायमात्र है, और वह जिसका अपकार हुआ है उसका प्रेय है। उसके द्वारा अपकार करनेवाले और अपकार करनेकी प्रवृत्तिके परवश लोग डर सकते हैं, और कुछ समय तक अपकर्मसे निवृत्त रह सकते हैं। किन्तु उसके द्वारा उनका संशोधन या उनकी उक्त कुप्रवृत्तिका दमन नहीं हो सकता, उनके द्वारा होनेवाले अनिष्टकी संभावनाका मूलोच्छेद नहीं हो सकता और उनके दण्डसे अपकृत व्यक्ति और जनसाधारणके मनमें प्रतिहिंसा आदि कुप्रवृत्तियाँ प्रश्रय पा सकती हैं। पक्षान्तरमें, क्षमाशील पुरुषका कार्य उसके लिए निश्चित रूपसे हितकर है; और सर्वसाधारण तथा अपकार करनेवालेके लिए भी उसकी हितकारिता थोड़ी नहीं है। क्षमाशीलताका उज्ज्वल दृष्टान्त ही काव्यके अन्याय प्रशंसावादको, सर्वसाधारणके कुसंस्कारको और अपकार करनेवालेके कठिन हृदयको परिवर्तित करनेका एकमात्र निश्चित उपाय है। उस परिवर्तनकी गति धीमी, किन्तु ध्रुव है। और ऊपर जो काव्यकी उक्ति और सर्वसाधारणके संस्कारकी बात कही गई है वह मनुष्य-जातिके बाल्यकालके एक प्रकारके सत् उद्यमका व्यापार है, मनुष्यका चिरन्तन धर्म नहीं है। एक समय साहित्यकी और सर्वसाधारणकी उक्ति यह थी कि अपमान करनेवालेके रक्तके सिवा और किसी तरह भी अपमानका कलंक धोया नहीं जा सकता। किन्तु इस समय ऐसी बात कोई नहीं कहेगा। बल्कि क्रमशः लोग यही कहेंगे कि इस बातका इतना गौरव मनुष्यजातिके लिए एक प्रकारका कलंक है।

ऊपर जो कहा गया वह केवल निरीह निरुत्साह दुर्बल भारतीयोंकी ही बात नहीं है। यह बात उद्यमशील बलविक्रमशाली पाश्चात्य प्रदेशमें भी यह मत माननीय होता जा रहा है कि राजशासनसे दण्डित (अपराधी) को भी उसे

शास्ति देनेके खयालसे दण्ड न देना चाहिए, दण्ड वह होना चाहिए जो दण्डि-तके संशोधनके लिए उपयुक्त हो । एक पाश्चात्य पण्डितकी कल्पनामें हमें इसका भी एक अति उज्ज्वल दृष्टान्त देख पड़ता है कि क्षमाशीलताके फलसे महापापाचारीका भी संशोधन हो सकता है। सुप्रसिद्ध विक्टर- गोके लिखे हुए ले-मिजरेब्लस (Les Miserables) नामक प्रसिद्ध उपन्यासका नायक जीन-बाल्जेन्स (Jean Valjeans) वही दृष्टान्त है ।

अतएव अनिष्टकारीका अनिष्ट करना, केवल ऊपर कहे हुए संकटकी जगह—जहाँ अतिगुरुतर अपूरणीय क्षतिके निवारणके लिए दूसरा उपाय नहीं है वहाँ, न्यायसंगत कहा जा सकता है ।

२—पर-हितके लिए अनिष्टकारीका अनिष्ट करना कहाँतक न्यायसंगत है, इस प्रश्नका उत्तर पहले प्रश्नकी आलोचनाके बाद अपेक्षाकृत सहज सा जान पड़ेगा ।

आत्मरक्षाके लिए अनिष्टकारीका अनिष्ट करना जहाँ तक न्यायसंगत है, परहितके लिए अनिष्टकारीका अनिष्ट करना कमसे कम वहाँतक तो अवश्य ही न्यायसंगत होगा । आत्मरक्षाके लिए अनिष्टकारीका अनिष्ट करना जहाँतक न्यायसंगत है, सो ऊपर कह दिया गया है । बाकी रही यह बात कि आत्म-रक्षाके लिए जहाँतक जाया जाता है, परहितके लिए उसकी अपेक्षा कुछ अधिक आगे बढ़ा जा सकता है कि नहीं, और, इस बातके बारेमें कहा जा सकता है कि जिस जगह अन्यकी क्षतिकी आशंका होगी उस जगह मेरा निश्चेष्ट रहना उचित न होगा । इस विषयमें वक्तव्य यह है कि जिस क्षतिकी आशंका हो वह अगर अपूरणीय हो, और उसके रोकनेका और उपाय भी न हो, तो उसके निवारणार्थ, जैसे आत्मरक्षाके लिए वैसे ही परहितके लिए भी, अनिष्टकारीका अनिष्ट करना न्यायानुमोदित है । किन्तु उसके निवारणका दूसरा उपाय अगर हो, तो उसी पर अमल करना चाहिए । और, अगर वह क्षति पूरणीय हो तो राजाके द्वारा स्थापित विचारालय (अदालत) में क्षतिपूर्तिकी प्रार्थना करना ही उचित है । राज्यके अर्थात् प्रजासमष्टि या किसी खास प्रजाके हितके लिए राजा या राजपुरुषके द्वारा अनिष्टकारीका अनिष्ट होना कहाँतक न्यायसंगत है ?—यह प्रश्न भी यहाँपर उठता है । यह राजनीतिक आलोचनाका विषय है । यहाँपर इस सम्बन्धमें इतना कहना ही यथेष्ट होगा

कि अनिष्टकारीका अनिष्ट करनेका अधिकार प्रजाकी अपेक्षा राजाके हाथमें अधिक रहना अवश्य ही स्वीकार करना होगा। कारण, राजाको वह अधिकार होनेके कारण ही बहुत जगह प्रजावर्ग खुद अनिष्टकारीका अनिष्ट नहीं करते। वे अनिष्टका बदला चुकाने, या क्षति-पूर्ति पानेकी आशासे आश्वस्त होकर राजाके आगे या राजाके द्वारा स्थापित विचारालयमें जाकर प्रार्थना करते हैं। किन्तु राजाके अधिकारकी भी सीमा है। अतीत अनिष्टकी क्षतिपूर्ति और भावी अनिष्टकी निवृत्तिके लिए अनिष्टकारीका जितना अनिष्ट करना आवश्यक है, उससे अधिक अनिष्ट करनेका, न्यायसे, राजाको अधिकार नहीं है। अर्थात् दण्डनीय व्यक्तिको जो दण्ड दिया जाय वह यथासंभव उसके संशोधनके लिए उपयोगी हो; केवल निग्रह करनेकी दृष्टिसे दण्ड न दिया जाय।

३—आत्मरक्षाके लिए अनिष्टकारीसे असत्य बोलना कहाँतक न्यायसंगत है?—यह एक कठिन प्रश्न है—जटिल समस्या है। एक दृष्टान्तके द्वारा यह स्पष्ट हो जायगा। अगर कोई आदमी ठग-डाकूके हाथमें पड़ जाय, और प्राण-रक्षाके लिए उसे धन देकर, या धन देनेका वादा करके, और उसे पकड़वानेके लिए चेष्टा न करनेकी प्रतिज्ञा करके, छुटकारा पावे, तो उस अंगीकार तथा प्रतिज्ञाका पालन कहाँतक करना चाहिए? अगर ठग-डाकूको दिया हुआ धन फिर फेरनेके लिए अथवा जो धन देनेका वादा किया है उसे टालनेके लिए, वह व्यक्ति प्रतिज्ञाभंग करना चाहे, तो उसका वह कार्य न्यायानुमोदित नहीं कहा जा सकता। किसी किसी प्रसिद्ध पाश्चात्य नीतिशास्त्रज्ञ (१) के मतमें ऐसी जगह प्रतिज्ञाभंग करनेमें दोष नहीं है। कारण, सत्य बोलना और प्रतिज्ञा-पालन करना कर्तव्य होने पर भी, जब उस कर्तव्यताका मूल यह है कि हमारी बात पर निर्भर करके और लोग काम करते हैं और वह निर्भरयोग्य न होने पर समाज नहीं चल सकता, तब जो व्यक्ति समाजकी शान्तिके विरुद्ध हस्तक्षेप करता है और समाज जिसे शत्रु कह कर वर्जन करता है, वह व्यक्ति उस कर्तव्यताका फल नहीं भोग सकता, बल्कि उसे उस फलसे वञ्चित करना ही उचित है। इस मतके ऊपर अश्रद्धा न दिखाकर भी समीचीन कह कर इसे स्वीकार नहीं किया जा-

(1) Martineau's Types of Ethical Theory, Pt. II, Bk. I, ch. VI, 12, और Sidgewick's Methods of Ethics Bk. III, ch. VII देखो।

सकता । सत्य बोलना मानो आत्माको सुव्यक्त करना है । अपूर्णताके कारण हम सर्वदा सत्य नहीं बोल सकते, कमसे कम अपनी वह असमर्थता स्वीकार करना उचित है, उसे ढकनेकी चेष्टा करना विधिविरुद्ध है। और, जैसे सूर्यकी किरणें यह विचार न करके कि कौन पवित्र है और कौन अपवित्र है, सभीको प्रकाशित करती हैं, अपवित्रको पवित्र करती हैं, वैसे ही सत्यकी ज्योति भी, क्या समाजके अन्तर्गत और क्या बहिष्कृत, क्या सदाचारी और क्या दुराचारी, सभीके लिए सेवन-योग्य है, और दुराचारी तथा तमोगुणसे जिनकी बुद्धि आच्छन्न हो रही है वे लोग उस सत्यकी विमल ज्योतिसे कभी कभी प्रकाशित भी हो सकते हैं—दिव्यदृष्टि भी पासकेत हैं। तो भी यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि ऐसे अनेक अवसर हो सकते हैं जिनमें उक्तरूप प्रतिज्ञापालन निन्दित हो पड़ता है। जैसे—उस प्रतिज्ञा पालनके द्वारा प्रतिज्ञाकारीका अगर सर्वस्व ही चला जाता हो, उसके आश्रितजनोंके भरण-पोषणका भी सहारा न रहता हो। ऐसी जगह पर, जान पड़ता है, दुर्बल मनुष्यको प्रतिज्ञा-भंग करना ही पड़ेगा । किन्तु उसे अच्छा काम हुआ न समझकर कातर भावसे संतप्त चित्तसे यह जानना उचित है कि यह मैं अपनी अपूर्णताका फल भोग रहा हूँ । अगर मुझमें पूर्णता होती, तो असावधानतावश जिस विपत्तिमें पड़ कर प्रतिज्ञा की थी, सावधानतासे उस विपत्तिको बचा जाता, अथवा विपत्तिमें पड़कर भी शत्रुको अनिष्ट करनेमें असमर्थ बनाकर छुटकारा पा सकता ।

इस सम्बन्धमें और एक बात है । ठग-डाकूको न पकड़ा दूँगा, इस प्रतिज्ञाका पालन करनेसे समाजके प्रति कर्तव्यका लंघन किया गया या नहीं? यह एक कर्तव्यताका विरोध-स्थल है और जान पड़ता है, ऐसी जगह समाजके प्रति कर्तव्य ही प्रबल गिना जायगा । तो भी इस जगह पर ठग-डाकूसे झूठ बोलना पर-हितके लिए है, और यह प्रश्न ऊपर लिखे जाचुके चौथे प्रश्नके अन्तर्गत है, ठीक यह बात नहीं कही जा सकती । प्रतिज्ञा करनेके समय अगर परिणाम न सोचकर और उसका पालन करूँगा यह खयाल करके काम किया गया हो, और बादको सोच समझ कर समाजके हितके लिए प्रतिज्ञा तोड़ी गई हो, तो अवश्य ही विवेच्य विषय चौथे प्रश्नके अन्तर्गत होगा । किन्तु प्रतिज्ञा करनेके समय यदि यह ठीक करके कि उसका पालन

नहीं करूँगा, काम किया गया हो, तो वह कार्य आत्मरक्षाके लिए अनिष्ट-कारीके साथ असत्याचरण है, और उसे तीसरे प्रश्नके अन्तर्गत कहना चाहिए। उसके लिए प्रतिज्ञा तोड़नेवालेको अपनी अपूर्णताके कारण अवश्य ही चित्तमें सन्तप्त रहना होगा।

४—परहितके लिए अनिष्टकारीके साथ असत्यका आचरण कहाँतक न्याय-संगत है?—यह प्रश्न भी अत्यन्त सहज नहीं है। एक दृष्टान्तसे यह स्पष्ट हो जायगा। किसी भागे हुए आदमीके पीछे दौड़ रहा और शस्त्र हाथमें लिये मार डालनेके लिए उद्यत आक्रमणकारी अगर एकान्त निर्जन स्थान-में किसी आदमीसे पूछे कि वह आदमी किस तरफ भाग कर गया है और अगर वह ठीक उत्तर न देगा तो उसे भी मार डालनेकी धमकी दे, तो जिससे उसने प्रश्न किया है उसे यह उचित है कि नहीं कि वह उससे झूठ बोलकर अपने और भागे हुए आदमीके प्राण बचाले? इस प्रश्नका "हाँ, उचित है" यह उत्तर देनेमें शायद किसीको संकोच न होगा। कर्मक्षेत्रमें यद्यपि जान पड़ता है कि यह उत्तर सभी देंगे और उसके अनुसार कार्य भी करेंगे, तथापि विचारक्षेत्रमें एक बार इस बातको सोचकर देखना चाहिए। जिससे पूछा जाय उस व्यक्तिका पहला कर्तव्य यह है कि पूछनेवा-लको हत या आहत (घायल) न करके निहत्था बना कर उस पापकार्यसे निवृत्त करे। इस विषयमें कोई मतभेद हो नहीं सकता। किन्तु यह कार्य कर-नेमें विशेष बल या कौशल बहुतोंमें नहीं है। आक्रमणकारीको जानसे मारकर या घायल करके निवृत्त करना अपेक्षाकृत सहज है, किन्तु उसमें कर्तव्यताका विरोध आता है—एक ओर भागे हुएकी प्राणरक्षा कर्तव्य है, दूसरी ओर यथासाध्य आक्रमणकारीको न मारना और न घायल करना भी कर्तव्य है। और वह चाहे जो हो, आक्रमणकारीको इस तरह निरस्त्र करना भी सबके लिए साध्य नहीं है। यह न कर सकने पर, उत्तर देंगे कि न बोलना ही उसका कर्तव्य है जिससे पूछा जाय। किन्तु उसमें भी विपत्ति है। कारण, उसमें अपने प्राण जाते हैं। उधर अपने प्राणोंकी रक्षा करना भी कर्तव्य है। सत्य उत्तर देनेसे अपने प्राण बचते हैं सही, किन्तु अन्यके प्राण जाते हैं। यह तो घोरतर कर्तव्यता-विरोधकी जगह है। झूठ उत्तर देनेसे दोनोंके प्राण बच सकते हैं, किन्तु सत्यकी रक्षा नहीं होती। इस तरह एक-न-एक ओर

कर्तव्यताका उलंघन अवश्य होता है । अतएव एक कर्तव्यके अनुरोधसे दूसरा कर्तव्य अवश्य ही छोड़ना पड़ेगा । ऐसी जगहपर कर्तव्यताके गुरुत्वका तारतम्य विचारकर, जो गुरुतर कर्तव्य हो उसीका पालन करना चाहिए। और, इस विवेचनाके अनुसार उक्त दृष्टान्तमें मिथ्या उत्तर देना न्यायसंगत माना जा सकता है । किन्तु यह याद रखना आवश्यक है कि वह अगतिकी गति है, आपद्धर्म है । हममें पूर्ण बल होता तो हमें वह न करना पड़ता, हम आक्रमणकारीको निरस्त्र या निरस्त कर सकते । अथवा हमारा ज्ञान पूर्ण होता, तो हम वैसे संकटके स्थानमें जाते ही नहीं । हमारी अपूर्णताके कारण ऐसे कर्तव्यताके विरोधमें पड़ना पड़ा, हम दोनों कर्तव्योंका पालन नहीं कर सके, एककी उपेक्षा करनी पड़ी, और इसके लिए चित्तको सन्ताप रहेगा ।

कर्तव्यताके गुरुत्वका तारतम्य-निरूपण ।

ऊपर चारों प्रश्नोंकी आलोचनामें देखा गया कि कर्तव्यताके विरोध-स्थलमें गुरुतर कर्तव्यके अनुरोधसे अपेक्षाकृत लघुतर कर्तव्यकी उपेक्षा करनेके सिवा दूसरा उपाय नहीं है, दूसरी गति नहीं है । उसमें यह जिज्ञास्य हो सकता है कि कर्तव्यताके गुरुत्वका तारतम्य-निरूपण किस प्रकार होगा ?

कोई कोई कह सकते हैं कि जैसे आयतन आदि मौलिक गुण प्रत्यक्षके द्वारा ज्ञेय हैं, और उनके तारतम्यका भी प्रत्यक्षके द्वारा निरूपण हो सकता है, वैसे ही कर्तव्यता, कर्मका मौलिक गुण भी विवेकके द्वारा ज्ञेय है । और, दो परस्पर-विरुद्ध कर्तव्यताओंके तारतम्यका भी निरूपण विवेकके द्वारा हो सकता है । यह बात सत्य है, किन्तु आयतनके तारतम्यका निरूपण करनेके लिए प्रत्यक्ष जैसे परिमाण (माप) की सहायता लेता है, कर्तव्यताके तारतम्यका निर्णय करनेके लिए वैसे ही विवेक किस लक्षणकी सहायता लेगा ?

इस बातका संक्षिप्त उत्तर यह है कि दो विरुद्ध कर्तव्योंमें जो प्रवृत्ति-मार्गमुख या स्वार्थ-प्रेरित है उसकी अपेक्षा जो निवृत्ति-मार्गमुख या परार्थ-प्रणोदित है वही अधिकतर प्रबल गिना जायगा । और, दोनों ही अगर एक श्रेणीके हों, अर्थात् दोनों ही निवृत्ति मार्गमुख और परार्थप्रणोदित हों, अथवा दोनोंही प्रवृत्ति-मार्ग-मुख और स्वार्थ-प्रेरित हों, तो जो अधिक हितकर जान पड़े वही पालनीय है ।

तीसरा अध्याय।

पारिवारिक नीतिसिद्ध कर्म।

मनुष्यका परस्पर सम्बन्ध अनेक प्रकारका है।

पृथ्वीपर अगर केवल एक ही मनुष्य रहता, तो उसका न्याय अन्याय कर्म केवल अपने और ईश्वरके सम्बन्धमें रहता, और नीतिशास्त्र अत्यन्त सहज होता। अथवा मनुष्य अगर संख्यामें एकसे अधिक होकर भी सम्बन्धमें परस्पर एक ही भावसे बँधे रहते, तो भी उनका परस्परके प्रति कर्तव्य-अकर्तव्य कर्म एक ही प्रकारका होता। किन्तु वास्तवमें इस पृथ्वीपर मनुष्योंकी संख्या बहुत है, उनके तरह तरहके प्रकार भेद भी हैं, और वे अवस्थाभेदसे परस्पर अत्यन्त भिन्न भिन्न सम्बन्धोंमें बँधे हैं। पहले तो स्त्री और पुरुष ये मनुष्योंकी दो मूल-श्रेणियाँ हैं। उसके बाद वे अनेक प्रकृतिके हैं, अनेक देशोंके निवासी हैं, और उनकी अनेक जातियाँ हैं। उस पर भी वे भिन्न भिन्न धर्मावलम्बी हैं, और शिक्षित-अशिक्षित आदि भिन्न भिन्न अवस्थाओंको प्राप्त हैं। इन सब कारणोंसे मनुष्योंका परस्पर सम्बन्ध-जाल अति विचित्र और जटिल हो गया है, और उनके परस्पर कर्तव्य-अकर्तव्य कर्मका निर्णय करना भी अति दुरूह हो उठा है।

पारिवारिक संबन्ध सब संबंधोंकी जड़ है।

मनुष्यगण जिन भिन्न भिन्न संबन्धोंमें परस्पर बँधते हैं, उनमें पारिवारिक सम्बन्ध सबकी अपेक्षा घनिष्ठ है, और अन्य सब सम्बन्धोंके तथा मनुष्य-जातिके स्थायी होनेकी जड़ है। मनुष्य क्रमोन्नतिकी प्रथम अवस्थामें भिन्न भिन्न परिवारोंमें आबद्ध होता है। परिवारसमूह लेकर समाज बनता है।

समाजोंके समूहसे जाति गठित होती है। कई जातियोंको लेकर साम्राज्य स्थापित होता है। यही साधारण नियम है। पारिवारिक सम्बन्ध स्त्री-पुरुषके सम्बन्ध पर स्थापित है। विवाह-बन्धन इस पिछले सम्बन्धकी मूल-ग्रंथि है। पारिवारिक नीतिसिद्ध कर्मकी आलोचना इस अध्यायका उद्देश्य है। वह आलोचना निम्न लिखित कई भागोंमें बाँटी जाती है।

इस अध्यायके आलोच्य विषय।

(१) विवाह—बाल्यविवाह, बहुविवाह, विधवाविवाह, विवाहके सम्बन्धमें कर्तव्यता।

(२) पुत्र-कन्याके सम्बन्धमें कर्तव्यता।

(३) माता-पिताके सम्बन्धमें कर्तव्यता।

(४) जातिबन्धु आदि अन्यान्य स्वजनोंके सम्बन्धमें कर्तव्यता।

विवाह।

विवाहसंस्कारकी सृष्टि और क्रमविकास किसतरह हुआ है, इस प्रश्न-तत्त्वकी खोज करना इस समयका उद्देश्य नहीं है। वर्तमान समयमें अनेक देशों और समाजोंमें विवाहकी प्रथा किस रूपमें प्रचलित है और वह कैसी होनी चाहिए, इसीकी आलोचना यहाँ पर करनी है।

विवाहसम्बन्धके अनेक रूप।

विवाहसम्बन्धका प्रथम लक्षण है स्त्रीके ऊपर पुरुषका अधिकार, और पुरुषके ऊपर भी, उसके समान न सही, कुछ स्त्रीका अधिकार भी। इस सम्बन्धका स्थितिकाल कहीं दोनोंका जीवनभर है, कहीं एककी जिंदगी भर है, और कहीं एक निर्द्धारित समय तकके लिए है। इसका बन्धन कहीं एकदम न टूटनेवाला है, कहीं दोनों पक्षकी अपनी इच्छासे, जब चाहे तब, टूट सकता है, कहीं एक पक्ष (पुरुष) की इच्छासे टूट सकता है—दूसरे पक्ष (स्त्री) की इच्छासे नहीं टूट सकता, कहीं विशेष कारण (जैसे व्यभिचार) होनेसे टूट सकता है। एक पुरुषके एक स्त्री, यह साधारण नियम है, किन्तु कहीं एक पुरुषके बहुत पत्नी रह सकती हैं, और शायद कहीं एक स्त्रीके कई पति भी रह सकते हैं।

विवाह-सम्बन्धसे होनेवाला अधिकार प्रायः सर्वत्र ही पुरुषको अधिक है, स्त्रीको उसकी अपेक्षा कम है। इसका एक कारण है। वह यह कि पुरुष पक्ष ही प्रबल और नियम बनानेवाला है। किन्तु जान पड़ता है, इस अधिकारकी विषमताके मूलमें और भी एक निगूढ़ कारण है, और वह बिल्कुल असंगत भी नहीं है। सन्तानकी माता कौन है, इस बारेमें कोई संशय नहीं रह सकता। किन्तु सन्तानका पिता कौन है, इस विषयमें, स्त्री-पुरुषका संसर्ग अनियामित रहनेपर संशय उपस्थित हो सकता है। जान पड़ता है, इसी कारण अन्यके साथ संसर्ग, और यथेष्ट घूमने-फिरनेके बारेमें पुरुषोंने खुद जितनी स्वाधीनता ली है उतनी स्वाधीनता वे स्त्रियोंको नहीं देना चाहते। इसके साथ यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि जहाँ एक स्त्रीके कई स्वामी रहनेकी रीति प्रचलित है वहाँ लोगोंका परस्पर सम्बन्ध मातृमूलक है, पितृमूलक नहीं।

विवाहसम्बन्ध किस तरहका होना चाहिए।

ऊपर संक्षेपमें कहा गया है कि विवाहसम्बन्ध अनेक देशोंमें अनेक प्रकारका है। उनके विस्तृत वर्णनका कोई प्रयोजन नहीं है। अब इसीकी अलोचना करनी है कि वह कैसा होना चाहिए। इस आलोचनामें विवाह सम्बन्धकी उत्पत्ति, स्थिति और निवृत्ति, ये तीन विषय देखना आवश्यक है।

सबसे पहले **विवाहसम्बन्धकी उत्पत्ति** है यह सम्बन्ध इच्छाधीन है, पिता-पुत्र या भाई-बहनके सम्बन्धकी तरह पूर्वनिरूपित नहीं है। 'किसकी इच्छाके अधीन है?' इस प्रश्नका उत्तर अवश्य ही यह होना चाहिए कि 'जो इस सम्बन्धमें आबद्ध होंगे उनकी'। और, वे दोनों या उनमेंसे एक आदमी अल्पवयस्क होनेके कारण अगर अपनी इच्छा पर भरोसा करनेके लायक न हो, तो उनके या उसके पिता माता अथवा अन्य अभिभावकोंकी इच्छाके ऊपर उनका या उसका विवाह-सम्बन्ध निर्भर होगा। किन्तु इस तरहका गुरुतर सम्बन्ध, जिसका फलाफल दो मनुष्योंके जीवनको सुखमय या दुःखपूर्ण बना सकता है, उन्हीं दोनों आदमियोंके सिवा अन्य किसीकी इच्छाके ऊपर निर्भर होने देना उचित है या नहीं? यह प्रश्न इस जगह पर अवश्य उठ सकता है। इसके साथ ही यह प्रश्न भी उठेगा कि बाल्यविवाह उचित है या नहीं? ये दोनों प्रश्न परस्पर संयुक्त

होने पर भी ठीक एकही नहीं हैं। कारण, बाल्यविवाह अनुचित होने पर भी, अगर विवाहके योग्य अवस्था ऐसी निश्चित हो कि दोनों पक्ष (स्त्री और पुरुष) की बुद्धि उस समय तक पक्की होना संभव न हो, तो भी उनका विवाह उनके मा-बाप या अन्य अभिभावकोंकी बिल्कुल असम्मतिमें होना उचित न होगा। अतएव पहले यही विवेचनीय है कि विवाह कितनी अवस्थामें होना चाहिए।

पाश्चात्य देशके लोगोंकी, और इस देशके समाज-संस्कारकोंकी, रायमें पूर्ण जवानीके पहले विवाह होना उचित नहीं है। आईनके अनुसार यूरोपमें साधारणतः कमसे कम पुरुषका चौदह वर्षकी अवस्थामें और स्त्रीका बारह वर्षकी अवस्थामें ब्याह होना चाहिए। ऐसे ही फ्रान्समें पुरुषका अठारह वर्षकी अवस्थामें और स्त्रीका पंद्रह वर्षकी अवस्थामें ब्याह हो सकता है। किन्तु इन सब देशोंमें ऊपर लिखी हुई अवस्थासे अधिक अवस्थामें ही अकसर ब्याह होते हैं। भारतवर्षमें, विवाहकी अवस्थाके सम्बन्धमें, शास्त्रोंमें पुरुषके लिए यहाँतक न्यूनसीमा पाई जाती है कि द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के बालक आठ वर्षकी अवस्थामें जनेऊ हो जाने पर कमसे कम नव वर्ष और ब्रह्मचर्यके साथ वेद पढ़नेमें बिता कर उसके बाद ब्याह कर सकते हैं (१)। इसके अनुसार पुरुषकी विवाह-योग्य अवस्था कमसे कम सत्रह वर्षकी है। स्त्रीके लिए, कहीं प्रथम रजोदर्शनके पहले ब्याह होनेकी विधि है और कहीं आठ वर्षसे लेकर बारह वर्षकी अवस्थातक विवाहकी अवस्था लिखी है (२)। प्रचलित व्यवहारके अनुसार हिन्दू समाजमें पुरुषके लिए कमसे कम चौदह वर्षकी अवस्था और स्त्रीके लिए नव या दस वर्षकी अवस्था विवाहके योग्य समझी जाती है। स्त्रियोंका विवाह अधिकसे अधिक बारह या तेरह वर्षकी अवस्थामें अवश्य हो जाता है। उनके लिए यह अवस्था उच्च सीमा है। भारतवर्षमें लौकिक विवाहकी अवस्थाकी न्यून सीमा, सन् १८७२ ई० के ३ आईनके अनुसार, पुरुषके लिए अठारह वर्ष और स्त्रीके लिए चौदह वर्ष है।

---

(१) मनु अ० ३ श्लोक १–४, और अ० २ श्लोक ३६ देखो।

(२) मनु अ० ९, श्लो० ८९ और ९४ देखो।

बाल्यविवाहके प्रतिकूल युक्ति ।

जो लोग बाल्यविवाहके, अर्थात् कमसिनीमें विवाहके, विरोधी हैं, वे अपने मतका समर्थन करनेके लिए निम्नलिखित तीन बातें कहते हैं—

(१) विवाहसम्बन्ध जैसा गुरुतर है और उसका फलाफल जैसा दीर्घकालतक रहनेवाला है, उसे सोचकर देखते बुद्धि पक्की होनेके पहले किसीको भी उस तरहके सम्बन्ध-बन्धनमें बँधने देना उचित नहीं जान पड़ता ।

(२) विवाहका एक प्रधान उद्देश्य है—उपयुक्त सन्तान उत्पन्न करना। अतएव थोड़ी अवस्थामें, अर्थात् देह और बुद्धिके पकनेके पहले, ब्याह करना उचित नहीं है । कारण, माता-पिताका शरीर और मन अगर पूर्णताको प्राप्त न होगा तो सन्तानकी भी काया सबल और मन प्रबल नहीं हो सकेगा ।

(२) संसारमें जीवन-संग्राम ऐसा कठिन होता आरहा है कि थोड़ी अवस्थामें ब्याह करके स्त्री-पुत्रका बोझ सिरपर लाद लेनेसे, लोग अपनी उन्नतिके लिए यथोचित चेष्टा नहीं कर सकते ।

ये तीनों युक्तियाँ इतनी संगत और प्रबल हैं कि सुनते ही जान पड़ता है, इनका कुछ उत्तर नहीं है । और, जिन देशोंमें थोड़ी अवस्थामें ब्याह होनेकी रीति प्रचलित नहीं है उन सब देशोंकी ऐहिक उन्नत अवस्थाके साथ बाल्य-विवाह-प्रथाके अनुगामी भारतकी ऐहिक हीन अवस्थाका मिलान करनेसे जान पड़ता है कि पूर्वोक्त युक्तियोंके अनुकूल प्रचुर प्रमाण मिल गया । बस, उक्त युक्तियोंके प्रतिकूल अगर कोई विज्ञ प्रवीण पुरुष भी कुछ कहना चाहता है तो वह अत्यन्त भ्रान्त जान पड़ता है, और उसकी बात एकदम सुननेके अयोग्य प्रतीत होती है । इसका एक दृष्टान्त देता हूँ । कुछ समय पहले एक साल कलकत्ता-विश्वविद्यालयकी प्रवेशिका परीक्षाके लिए बँगला-साहित्यकी जो पाठ्यपुस्तक बनाई गई उसमें प्रसिद्ध मननशील सुपण्डित और सुलेखक *स्वर्गीय भूदेव मुखोपाध्याय महाशयके* " पारिवारिक प्रबन्ध " ग्रन्थसे ' बाल्य-विवाह' शीर्षक प्रबन्ध या उसका कुछ अंश लेकर रख दिया गया । उसमें कोई भी ऐसी बात न थी जो पढ़नेके अयोग्य हो । बँगला जाननेवाले पाठक उसे खुद पढ़कर इस बातकी जाँच कर सकते हैं । किन्तु उसके लिए इतनी आपत्ति उपस्थित की गई कि संकलित पाठ्य पुस्तकसे वह अंश निकाल देना पड़ा ।

ऐसा होना विचित्र नहीं है। इस देशमें एक समय बाल्यविवाह जिस ढंगसे प्रचलित था, उसमें अनेक दोष थे और उससे बहुत कुछ अनिष्ट हुआ है। अतएव उस पर लोगोंके मनमें अश्रद्धा उत्पन्न होना स्वभावसिद्ध था। उसके ऊपर इस देशकी ऐहिक हीन अवस्थासे होनेवाले कष्ट थोड़ा-बहुत सभीको भोगने पड़ रहे हैं, और वे सहज ही देखे जाते हैं। और, यह कुफल इस देशकी प्राचीन रीति-नीतिका ही है (बात चाहे सच हो या न हो), ऐसा ही बहुत लोगोंका विश्वास है। उस प्राचीन रीति-नीतिका अगर कुछ सुफल हो, तो वह ऐहिक या वैषयिक नहीं है, अध्यात्मिक है; सब लोग उतने सहजमें उसका अनुभव नहीं कर सकते। इसके सिवा लोग अपने मतके विरुद्ध रीति-नीतियोंके दोष दिनरात बखान करके लोगोंके मतको इतना अधीर बना देते हैं कि वे उस रीति-नीतिके कुछ गुण रहने पर भी उसकी ओर आँख उठाकर देखना नहीं चाहते। यह भी स्वाभाविक ही है। प्राचीन रीति-नीतियाँ भी समाजकी अवस्था बदलनेके साथ साथ परिवर्तनयोग्य हो जाती हैं। बस समाजसंस्कारक लोग लोकहितके लिए उन्हें बदलनेकी चेष्टा करते हैं। सब ओर दृष्टि रखकर सब बातोंके भले-बुरे दोनों पहलुओं पर विचार करके चला जाय तो उसमें बहुत धीरे चलना पड़ता है। इसी कारण वे एकदेशदर्शी होकर वेगके साथ संस्कारकी ओर अग्रसर होते चलते हैं। वे अपना कार्य करते हैं, और करेंगे, उसमें उनके साथ मेरा कोई विरोध नहीं है। उनसे मेरा केवल यही विनीत निवेदन है कि वे प्राचीन रीतिनी-तियोंके दोषोंकी खोज करते समय उसके गुणोंकी ओरसे एकदम आँख न फेर लें। इसमें सन्देह नहीं कि संसार निरन्तर गतिशील है। कुछ भी स्थिर नहीं है। कोई सामने, कोई पीछे, कोई सुपथमें, कोई कुपथमें, इस तरह जगत्के सभी पदार्थ चल रहे हैं। अतएव परिवर्तनका विरोध टिक नहीं सकता। किन्तु यदि कोई किसी वस्तुको सुमार्गमें चलानेकी और उसे उसके गन्तव्य स्थानमें ले जानेकी इच्छा करे, तो केवल उसकी गतिका वेग बढ़ादेने-से ही काम नहीं चलेगा, उसकी गतिकी दिशा भी स्थिर रखनी होगी। चतुर सवार घोड़ेके केवल कोड़े ही नहीं मारता चला जाता, साथ ही उसकी लगामको भी खींचता है। अतएव संस्कारक अगर केवल सामने देखनेमें ही लगा रहेगा तो काम नहीं चलनेका—आगे पीछे और चारों ओर देख-सुन-कर सावधानीसे चलना आवश्यक है।

इतनी बातें केवल इसी आशासे मैंने कही हैं कि इन्हें स्मरण रख-कर पाठकगण थोड़ी अवस्थामें होनेवाले विवाहके अनुकूल भी जो कुछ वक्तव्य है उस पर ध्यान देंगे। किन्तु सबके पहले ही कह देना उचित है कि कुछ दिन पहले इस देशमें (यहाँ लेखकका मतलब केवल बंग-देशसे है) समय समय पर जैसे बाल्यविवाहके दृष्टान्त देखे जाते थे (जैसे पाँच छः वर्षकी बालिकाके साथ दस बारह वर्षके बालकका विवाह) उनका अनुमोदन मैं नहीं करता, इस समय कोई भी नहीं करता, और जिस समय वैसे बाल्यविवाह कुछ कुछ प्रचलित थे उस समय भी शायद लोग केवल प्रयोजनके अनुरोधसे उस तरहके विवाह करते थे, इसके सिवा उनका अनु-मोदन कोई भी नहीं करता था। मैं जिस तरहके बाल्यविवाहके अनुकूल कुछ वक्तव्य बता रहा हूँ वह उस तरहका बाल्यविवाह नहीं है, उसे थोड़ी अवस्थाका विवाह कहना उचित होगा। वह थोड़ी अवस्था कन्याके लिए बारहसे चौदह वर्ष तक और वरके लिए सोलहसे अठारह वर्षतक सम-झनी चाहिए।

ऐसे विवाहको भी बाल्यविवाह कह सकते हैं। लेकिन बाल्यविवाह न कह कर उसको थोड़ी अवस्थाका विवाह कहना ही अच्छा होगा। स्त्रीकी चौदह वर्षकी अवस्थाके बाद और पुरुषकी अठारह वर्षकी अवस्थाके बाद होनेवाले विवाहको बाल्यविवाह कह कर कोई दोष नहीं देता, और यह भी नहीं है कि वैसा विवाह भारतके लौकिक विवाहके आईन द्वारा अनुमोदित न हो।

रजोदर्शन अगर न हुआ हो, तो कन्याका बारह वर्षकी अवस्थामें विवाह हिन्दूशास्त्रमतके विरुद्ध नहीं कहा जासकता। मनुजी कहते हैं—

त्रिंशद्वर्षो वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।

(अ० ९ श्लोक ९४)

अर्थात् तीस वर्षकी अवस्थाका पुरुष बारहवर्षकी रूपवती कन्याका पा-णिग्रहण करे।

थोड़ी अवस्थाके विवाहके अनुकूल युक्तियाँ।

उपर्युक्त प्रकारके थोड़ी अवस्थाके विवाहके प्रतिकूल पहले कहीगई युक्ति-योंके साथ-साथ जो कई एक अनुकूल युक्तियाँ हैं, वे भी संक्षेपमें नीचे लिखी जाती हैं:—

(१) उल्लिखित प्रथम प्रतिकूल युक्तिके साथ साथ विचार करके देखनेसे जान पड़ेगा कि जैसी थोड़ी अवस्थामें विवाह होनेकी बात कही जा रही है उस अवस्थामें बालक-बालिकाएँ 'विवाह-सम्बन्ध क्या है' और 'विवाहका गुरुत्व कितना बड़ा है' इस विषयको बिल्कुल ही नहीं समझ सकते, यह बात नहीं कही जा सकती।

पण्डितोंके द्वारा निर्दिष्ट उनके पाठ्य-विषय-आदिको देखकर जान पड़ता है कि कोई भी उन्हें इतना नासमझ नहीं समझेगा। हाँ, इसमें कोई संदेह नहीं कि इतनी अवस्थामें बालकों या बालिकाओंमें अपने जीवनकी चिरसंगिनी अथवा चिरसंगी छाँट लेनेकी क्षमता नहीं होती। किन्तु और दो-चार साल अपेक्षा करनेसे ही क्या उनमें वह क्षमता आजायगी? अथवा और कितने दिन अपेक्षा करनेके लिए आप कहेंगे? जो लोग बाल्यविवाहके विरोधी हैं, वे भी यौवन-विवाहका विरोध नहीं करते, और विरोध करनेसे भी काम नहीं चल सकता। अँगरेज-राजकर्मचारियोंने भी लौकिक विवाह आईन अर्थात् सन् १८७२ ई०में विवाहके योग्य अवस्थाकी न्यून-सीमा पुरुषके लिए अठारह वर्ष और स्त्रीके लिए चौदह वर्ष निश्चित की है। अतएव विवाहका यथासभंव समय चाहे जो निश्चित हो, वर-कन्याका परस्पर चुनाव केवल उनकी अपनी इच्छा पर निर्भर होने देना कभी युक्तिसिद्ध नहीं होगा। उसके बारेमें उनके पिता-माता या अन्य किसी नगीची अभिभावककी सलाह लेनेकी आवश्यकता अवश्य रहेगी। परन्तु विवाहका समय उल्लिखित अल्प अवस्थाकी अपेक्षा और भी दो-चार वर्ष अधिक होनेसे जैसा कोमल, परिवर्तनयोग्य और गुरुजनोंकी इच्छाका अनुगामी रहता है वैसा अवस्था बढ़नेके साथसाथ फिर नहीं रहता, क्रमशः कठिन, अपरिवर्तनीय और स्वेच्छानुवर्ती हो उठता है। इसीसे यौवनविवाहमें वर-कन्याके निर्वाचनमें गुरुजनोंके उपदेशका यथेष्ट प्रयोजन रहता है, अथच वह उपदेश अपनी इच्छाके विरूद्ध होने पर उसे ग्रहण करनेमें अनिच्छा अतिप्रबल हो उठती है, और अनेक स्थलोंमें वह अनिच्छा उस प्रयोजनकी उपलब्धि भी मनमें नहीं होने देती।

इसके सिवा और भी एक बड़ी भारी बात है। यौवन-विवाहमें वर-कन्या दोनोंके परस्परके चुनावमें कुछ समर्थ होनेपर भी, अगर उनसे भूल हो, अर्थात् अगर विवाहसम्बन्धी चुनावके बाद स्वामी और स्त्री दोनों यह

समझ पावें कि उन दोनोंकी प्रकृतिमें इतना वैषम्य है कि वे परस्पर एक दूसरेके लिए उपयोगी नहीं होसकते, तो उस भूलका संशोधन करनेके लिए विवाहबन्धनको तोड़नेके सिवा उनके लिए और कोई उपाय नहीं रह जाता। बाल्यविवाहमें भी इसतरहकी भूल होनेकी यथेष्ट संभावना है। तो भी, पहले तो, यौवनविवाहमें जितनी है उतनी बाल्यविवाहमें नहीं है। कारण, यौवनविवाहमें, युवक-युवती ही अपनी अपनी प्रवृत्तिकी प्रेरणासे कार्य करते हैं, और उस समय उस अवस्थामें प्रवृत्तिके भ्रममें पड़ जानेकी संभावना अत्यन्त अधिक है। किन्तु बाल्यविवाहमें, उद्धत प्रवृत्तिके द्वारा प्रेरित युवक और युवतीकी जगह संयत प्रवृत्तिवाले और सत्-विवेचनासे संचालित प्रौढ़ प्रौढ़ा जनक जननी ही उस निर्वाचनका भार अपने ऊपर लेते हैं, और उनसे भूल होनेकी संभावना अपेक्षाकृत अल्प ही है। फिर दूसरे, अल्प अवस्थामें प्रकृतिके कोमल और चरित्रके परिवर्तनशील होनेके कारण जैसे विवाहसम्बन्धमें बँधेहुए बालक-बालिका परस्परके लिए उपयोगी होकर अपनी प्रकृति और चरित्रको उसी तरहका बना ले सकते हैं, उससे यह पश्चात्ताप करनेका कारण प्रायः नहीं रह जाता कि उनके निर्वाचनमें भूल हुई थी। इन बातोंके काल्पनिक न होनेका अर्थात् यथार्थ होनेका, उत्कृष्ट प्रमाण यह है कि जिन देशोंमें अधिक अवस्थामें ब्याह होनेकी चाल है उनमें जितने विवाह-विभ्राट् होते हैं और अदालतमें विवाह-बन्धन तोड़नेके लिए जितनी दर्ख्वास्तें गुजरती हैं उनका शतांश भी इस बाल्यविवाह प्रथा के अनुगामी भारतमें नहीं होता—बल्कि यह भी कहें तो कह सकते हैं कि वे बातें यहाँ होती ही नहीं हैं। अतएव यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि बाल्य-विवाहके सम्बन्धमें प्रथम प्रतिकूल युक्तिके साथ साथ अनेक अनुकूल बातें भी हैं।

(२) बाल्यविवाहके विरुद्ध पक्षमें उल्लिखित दूसरी आपत्ति यह है कि बाल्यविवाहसे उपयुक्त सन्तान पैदा करनेमें बाधा पड़ती है। किन्तु यह आपत्ति अखण्डनीय नहीं है। यह बात कोई नहीं कहता कि ब्याह होते ही स्त्री-पुरुष दोनों पूर्ण सहवासके योग्य हो जाते हैं। पिता-माता अगर कर्तव्यनिष्ठ और दृढ़-प्रतिज्ञ हों, तो वे थोड़ी अवस्थामें ब्याहे गये पुत्र कन्याके स्वास्थ्य और सन्तान पैदा करनेके योग्य समय पर लक्ष्य रखकर

उनके सहवासको इस तरह नियमबद्ध कर दे सकते हैं कि उससे केवल हित-कर फल ही होगा, अहितकर फल न होगा। और, वैसा होने पर उनके सहवाससे परस्परके प्रति प्रेम-संचार और इन्द्रियसेवाके संयमकी शिक्षा दोनों ही फल प्राप्त होंगे।

पक्षांतरमें, विवाहमें अधिक विलम्ब करनेसे उसका क्या फल होता है, वह भी विचारकर देख लेना चाहिए। स्त्री और पुरुषके परस्पर संसर्गकी चाह अक्सर चौदहवें या पंद्रहवें वर्षमें उद्दीपित होती है। उस प्रवृत्ति (चाह)-को एक निर्दिष्ट पात्रमें न्यस्त करके निवृत्तिमुखी बनाना, और इन्द्रियचरि-तार्थका विधिसंगत और नियमित उपाय निकाल कर उसके अवैध और असंयत स्वेच्छाचारको रोकना, अगर विवाहका एक मुख्य उद्देश्य है, तो जान पड़ता है, थोड़ी अवस्थामें ब्याह कर देना ही उस उद्देश्यको पूर्ण-करनेका प्रशस्त मार्ग है। असाधारण पवित्र और संयतचित्त लोगोंकी बात मैं नहीं कह-ता, और वैसे लोग संख्यामें अधिक भी नहीं हैं, किन्तु साधारण लोगोंमें उक्त इन्द्रियसुखकी प्रवृत्ति पैदा होने पर, अगर शीघ्र ही उसके निर्दिष्ट-पात्रमुखी होनेकी व्यवस्था नहीं की जाय, तो वह काल्पनिक मनमाने व्यभिचारमें, अथवा वास्तविक अपवित्र या अस्वाभाविक चरितार्थता प्राप्त करनेमें लग जाती है। और, यह कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं कि उस तरहका काल्पनिक या वास्तविक व्यभिचार दोनोंहीके देह और मनके लिए समान-रूपसे अहितकर है। अगर कोई कहे कि जो प्रवृत्ति इतनी प्रबल है उसे एक निर्दिष्टपात्रमें अर्पित कर देनेसे ही वह संयत रहेगी, इसकी संभावना कहाँ है? तो इसका उत्तर यह है कि किसी भोग्यवस्तुका अभाव अवश्य आकांक्षाको बढ़ाता है, लेकिन वह वस्तु मिल जानेपर फिर भोगकी लालसा वैसी तीव्र नहीं रहती। यह साधारणतः मनुष्यका स्वभावसिद्ध धर्म है।

(३) बाल्यविवाहके सम्बन्धमें ऊपर कही गई तीसरी आपत्ति यह है कि बाल्यविवाह होनेसे थोड़ी ही अवस्थामें मनुष्यपर स्त्री-पुत्र-कन्या आदिके पालन-पोषणका बोझ पड़ जाता है, जिसके मारे वह अपनी उन्नतिके लिए यत्न करनेका अवसर नहीं पाता। किन्तु यह बात नहीं है कि इस बातके विरुद्ध भी कुछ कहनेकी बात न हो। विवाह हो-नेसे ही स्वामी अपनी स्त्रीके भरण-पोषणका भार अपने ऊपर लेनेके लिए

अवश्य वाध्य है, किन्तु पुत्र-कन्याके पालन-पोषणका भार उनके उत्पन्न होने-के पहले नहीं आपड़ता, और बाल-बच्चोंके जन्मकालमें देर करनेकी क्षमता खुद पिताके ही हाथमें है। अतएव जिसमें स्त्रीको खिलाने-पिलाने और पाल-नेकी क्षमता नहीं है उसे जब तक वह क्षमता न प्राप्त हो तब तक अवश्य ही विवाह नहीं करना चाहिए। किन्तु अन्य कारणसे विवाह विहित होने पर, केवल सन्तान पैदा होनेकी आशंकासे उसे रहित करनेका प्रयोजन नहीं देख पड़ता। कोई कोई कहते हैं, स्त्रीके रक्षणावेक्षणकी जिम्मेदारी और स्त्रीसंगकी लालसा जो है वह विवाहित पुरुषके विद्यालाभ या अर्थलाभके लिए यथेष्ट-विचरणमें बाधा डाल सकती है। किन्तु जो स्वामी हिन्दू-परिवा-रके अन्तर्गत है उसे स्त्रीके रक्षणावेक्षणके लिए विशेष चिन्ता करनेका कोई कारण नहीं देख पड़ता। और, एकतरफ जैसे स्त्रीसंग-लाभकी लालसा अन्यत्र जानेमें बाधा डालनेवाली हो सकती है, वैसे ही दूसरी तरफ स्त्रीके सुख-सन्तोषको बढ़ानेकी इच्छासे अपने कृती होनेकी चेष्टाको उत्साह भी मिलता है—यह सत्य है कि जिसे स्त्रीके और पुत्र-कन्या आदिके भरण-पोषणके लिए, चाहे जिस तरहसे हो, कुछ कमानेके लिए वाध्य होना पड़ता है, वह अपनी उन्नति करनेके लिए मनमाने तौरसे चेष्टा नहीं कर सकता। किन्तु उधर जिसके लिए अभाव-पूर्तिके वास्ते कमानेका विशेष प्रयोजन नहीं है, उस व्यक्तिमें भी अपनी उन्नतिके लिए अधिक चेष्टा करनेकी उत्तेजना पूर्णरूपसे नहीं रहती। इस सम्बन्धमें प्रसिद्ध-वक्ता और विचारक अर्स्किन साहबकी बात स्मरणीय है। स्त्री-पुत्र आदिके पालनका कोई उपाय न देख-कर अर्स्किन साहब बैरिस्टरी करने लगे। पहलेपहल जो मुकदमा उन्होंने अपने हाथमें लिया, उसमें जब वह वक्तृता देने लगे, तब बीचमें प्रधान विचारपति मैन्सफील्डने यह कहकर कि उनका अमुक विषय अप्रासं-गिक है, उन्हें उसका उल्लेख न करनेके लिए इशारा किया। मगर उक्त बै-रिस्टरने उस इशारेकी पर्वा न करके तेजीके साथ उसी विषयको उठाकर खूब बहस की। उनकी वह वक्तृता इतनी जोरदार और हृदय पर असर डालने-वाली हुई कि उसी दिनसे उन्होंने अपने रोजगारमें असाधारण प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। वक्तृता दे चुकनेके बाद बैरिस्टरसाहबके एक मित्रने उनसे पूछा कि मैन्सफील्ड जैसे प्रबल प्रतापी प्रधानविचारपतिकी आज्ञाको न

माननेका साहस वे कैसे कर सके? इस प्रश्नके उत्तरमें अर्स्किनसाहबने कहा—"उस समय मुझे मालूम पड़ रहा था कि भूखसे पीड़ित मेरे बच्चे मानों करुणस्वरमें मुझसे कह रहे हैं—पिता, इस सुयोगमें अगर आप हमारे खानेपीनेका कुछ सुभीता कर सकेंगे तो कर सकेंगे, नहीं तो कुछ न होगा।" (१)

अतएव देखा जाता है कि थोड़ी अवस्थाके विवाहके विरुद्ध ऊपर जिन तीन प्रबल आपत्तियोंका उल्लेख हुआ था, उनमेंसे हरएकके साथसाथ, उसका संपूर्ण खण्डन न सही, उसके विपरीत युक्तियाँ भी हैं। थोड़ी अवस्थामें जैसे विवाहके गुरुत्वकी उपलब्धि करके उपयुक्त चिरसंगी या चिरसंगिनीके निर्वाचनकी क्षमता नहीं उत्पन्न होती, वैसे ही अधिक अवस्थामें होनेवाला निर्वाचन भ्रान्तिरहित ही होगा—यह भी निश्चित रूपसे कहा नहीं जासकता। अधिक यह है कि उस अधिक अवस्थाके निर्वाचनमें भूल होजाने पर उस अवस्थामें स्त्री और पुरुषके लिए अपनी अपनी प्रकृतिको परस्पर उपयोगी बनानेका समय नहीं रह जाता। थोड़ी अवस्थाके विवाहमें जैसे भावी पुत्रकन्याओंके सबलदेह और प्रबलमना होनेके बारेमें खटका बना रहता है, वैसे ही थोड़ी अवस्थामें ब्याह न कर देनेसे फिर वर्तमान बालक-बालिकाओंकी शारीरिक सुस्थता और मानसिक पवित्रताकी रक्षामें विघ्न पड़नेकी संभावना बनी रहती है। थोड़ी अवस्थामें ब्याह होनेसे जैसे लोग गिरिस्ती उठाने और परिवार पालनेके बोझसे दबकर यथासाध्य अपनी अपनी उन्नतिकी चेष्टा करनेमें असमर्थ होते हैं, वैसे ही उधर थोड़ी अवस्थामें ब्याह न कर देनेसे स्वाधीन भले ही रहें, किन्तु उनमें आत्मोन्नतिके लिए चेष्टा भी अपेक्षाकृत अल्प ही रहती है।

इसमें सन्देह नहीं कि युक्तिकी अपेक्षा दृष्टान्त प्रबलतर प्रमाण है। वर्तमान विषयमें अक्सर पाश्चात्य देशोंके दृष्टान्त ही दिखलाये जाते हैं। किन्तु यह सोचकर देखना आवश्यक है कि यूरोपकी उन्नत अवस्था और भारतकी हीन अवस्था कहाँतक विवाहविषयक प्रचलित प्रथाका फल है। बंगालमें जो बाल्यविवाह प्रचलित है, उसीकी प्रथा युक्त-प्रदेश और पंजाब आदिमें भी प्रचलित है। किन्तु युक्तप्रदेश और पंजाब आदि प्रदेशोंका स्वास्थ्य बंगालके स्वास्थ्यकी तरह हीन नहीं है, और यूरोपके स्वास्थ्यके

(१) Campbell's Lives of the Chancellors, Vol. VIII P. 249 देखो।

मुकाबलेमें भी कम नहीं है। अतएव बंगालकी शारीरिक दुर्बलताका कारण शायद बाल्यविवाह नहीं है। उसके मलेरिया आदि अन्य कारण हैं। इसके अलावा इस देशकी पारिवारिक कुशलता और शान्ति, पाश्चात्य देशोंकी अपेक्षा कम तो है ही नहीं, बल्कि अधिक ही जान पड़ती है। आ-ध्यात्मिक उन्नतिके बारेमें भी यही बात कही जा सकती है। हाँ, वैषयिक उन्नतिमें अवश्य ही यह देश पाश्चात्य देशोंकी अपेक्षा बहुत पिछड़ा हुआ है। किन्तु यह बात निश्चित रूपसे नहीं कही जा सकती कि वह ऐहिक उन्नतिमें न्यूनता बाल्य-विवाहहीका फल है। कारण, उसके अन्य का-रण भी रहना संभवपर जान पड़ता है। इस देशमें प्रकृति (Nature) देवी पूर्वकालसे ही अत्यन्त सदय भावसे लोगोंके लिए थोड़े परिश्रमसे मिलनेवाले अन्न-वस्त्रकी व्यवस्था कर देती थी, और उसने प्रायः लोगोंको अपनी भयानक मूर्ति दिखाकर भीत और उत्कण्ठित नहीं बनाया। इसी-से लोग वैषयिक व्यापारकी अपेक्षा आध्यात्मिक व्यापारकी चिन्तामें अधि-कतर डूबकर शान्तिप्रिय हो पड़े। उसी अवस्थामें मध्ययुगके रणकुशल विदेशी लोगोंने आकर इस देशपर अपना राज्याधिकार जमा लिया, लेकिन उधर उन्होंने इस देशके रहनेवालोंकी सामाजिक स्वाधीनता जैसीकी तैसी बनी रहने दी। इसी कारण भारतीयोंकी उस शान्तिप्रियता और आध्यात्मिक विचारशीलताने धीरे धीरे आलस्यका रूप रख लिया। सुतरां प्रकृति देवीकी दुलारी सन्तान होनेसे ही हम कुछ-कुछ अकर्मण्य हो पड़े हैं। उधर प्रकृतिने वैसे सदयभावसे जिनका पालन नहीं किया, जिन्हें प्रकृतिने बीच बीचमें अपनी भयानक मूर्ति दिखलाई, जिन्हें अन्न-वस्त्रके लिए कठिन परिश्रम करना पड़ा, जिन्हें प्राकृतिक विप्लवसे बचनेके लिए व्यस्त रहना पड़ा—आत्मरक्षाके लिए निकटवर्ती जातियोंके साथ संग्राम करनेके वास्ते तैयार रहना पड़ा, वे अवश्य ही क्रमशः अधिकतर रणनिपुण और कर्मकुशल हो उठे, और इस समय वैषयिक उन्नतिमें बहुत आगे बढ़े हुए हैं।

विवाहकालके बारेमें स्थूल सिद्धान्त।

वह चाहे जो हो, देख पड़ता है कि बाल्यविवाहके अर्थात् उल्लिखित प्रका-रके थोड़ी अवस्थाके विवाहके प्रतिकूल जैसे अनेक युक्तियाँ हैं, वैसे ही उसके

अनुकूल भी अनेक बातें हैं। और, बाल्यविवाहमें जैसे दोष हैं, वैसे ही कई गुण भी हैं। उधर यौवन-विवाह या प्रौढ़-विवाहमें जैसे गुण हैं वैसे ही कुछ दोष भी हैं। जब इस तरह दोनों ओर उभय-संकट है, तो फिर कौन मार्ग अवलम्बनीय है? असल बात यह है कि हमारे कर्मक्षेत्रके अन्यान्य संकट-स्थलोंकी तरह विवाहकालका निर्णय भी एक कठिन संकट-स्थल है। एक ओरके अधिक सुफलकी प्रत्याशा करनेमें अन्य ओरके सुफलकी आशा कुछ छोड़नी पड़ती है, और उधरके सुफलका भाग लेना पड़ता है। इस तरहके स्थलमें ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है जो सर्ववादिसंमत हो, और जिसके द्वारा सब तरह सुफल पाया जा सके। उद्देश्य और अवस्थाके भेदसे विभिन्न सिद्धान्तों पर पहुँचना होगा। अगर हमें सबल रण-कुशल सैनिक, या सुदूर समुद्रयात्रामें न डरनेवाले नाविक, अथवा साहसी उद्यमशील बनिये (सौदागर) पैदा करने हों, तो थोड़ी अवस्थाके विवाहकी प्रथा परित्याज्य है। किन्तु यदि शिष्ट, शान्त, धर्मपरायण, संयत प्रवृत्तिवाले गृहस्थ पैदा करना हो, तो ऊपर लिखे अनुसार थोड़ी अवस्थामें पुत्र-कन्याका ब्याह कर देना ही अच्छा है। मगर हाँ, आर्थिक अवस्था कुछ अनुकूल न होने पर, जबतक स्त्री-पुत्र-कन्याके पालनका सुभीता न हो, तबतक ब्याह करना उचित नहीं है। और, जहाँ विद्योपार्जन आदि अन्य उच्चतर उद्देश्यमें लड़केका मन एकान्त निविष्ट है, और उसके लक्ष्यभ्रष्ट होकर कुमार्गमें जानेकी संभावना नहीं है, वहाँ पर भी विलम्बमें उसका ब्याह किया जाय तो अच्छा। विवाहकालके बारेमें, संक्षेपमें, यही स्थूल सिद्धान्त है। इस सम्बन्धमें किसी बँधे हुए नियमकी स्थापना, अथवा इस बातको लेकर समाज-संस्कारक या संस्कार-विरोधी इन दोनों दलोंका अनर्थक विवाद, वांछनीय नहीं है।

बाल्यविवाहमें बालवैधव्यकी आशंका है, और अगर विधवाविवाह निषिद्ध हो तो यह आशंका अतिगुरुतर विषय है। यह बाल्यविवाहके विरुद्ध एक कठिन आपत्ति है, और इसके खण्डनका उपाय भी नहीं देखा जाता। इसके सम्बन्धमें केवल इतना ही कहा जा सकता है कि संसारमें कोई भी विषय निरन्तर शुभकर नहीं है, सभीमें शुभ और अशुभ दोनों मिले हैं। बस, जिसमें शुभ या मंगलका भाग अपेक्षाकृत अधिक है वही ग्रहण करने योग्य है।

वर और कन्याका चुनाव कौन करे ?

विवाह-सम्बन्धकी उत्पत्तिके विषयकी पहली बातकी, अर्थात् विवाहका-लके निर्णयकी, आलोचनामें जब देखा गया कि थोड़ी उम्रमें ब्याहकी चाल एकदम परित्यागके योग्य नहीं है, तब दूसरा प्रश्न यह उठता है कि पात्र-पात्रीका निर्वाचन किसका कर्तव्य है और उस निर्वाचनमें क्या क्या देखना आवश्यक है ?

विवाहकी कमसे कम जो अवस्था ऊपर ठीक की गई है, उस अवस्थामें पात्र और पात्री परस्परका चुनाव खुद करनेमें समर्थ नहीं होते, लेकिन बिल्कुल ही अक्षम भी नहीं होते। अतएव उनके माता-पिता अथवा अन्य अभिभावकोंका प्रथम कर्तव्य उनकी अपनी अपनी समझके अनुसार योग्य पात्र या पात्री पसंद करना है। और, उनका दूसरा कर्तव्य उस पसंद किये गये पात्र या पात्रीके दोप-गुण अपनी कन्या या पुत्रको जता देना, और उन्हें पसंद करनेका कारण समझा देना, तथा कन्या या पुत्रसे उसकी राय पूछना है। पुत्र या कन्याकी लज्जाशीलता इस प्रश्नका उत्तर देनेमें बाधक होगी। अगर कोई उत्तर देगा भी, तो इतना ही उत्तर मिलेगा कि उसे पिता-माताकी सत्-विवेचनाके ऊपर दृढ़विश्वास है, और वे जो अच्छा समझें वही करें। उस समय पुत्रको ब्याह करनेकी इच्छा अगर न होगी तो वह उसे प्रकट कर देगा, और वरके कुरूप या अधिक वयस्क होने पर कन्या इशारेसे कुछ अस-न्तोष जनावेगी। (बस, इतना ही पात्र या पात्री कर सकते हैं—उनसे इत-ना ही उत्तर पानेकी आशा की जा सकती है।) चाहे जो हो, पुत्र-कन्याको समझाकर, उनसे अपने मनका यथार्थ भाव प्रकट करनेके लिए कहना, और उस भावको खुद समझ लेना, तथा उस पर दृष्टि रखकर काम करना, पिता और माताका कर्तव्य है।

पात्र-पात्रीके निर्वाचनमें क्या क्या दोष-गुण देखने होंगे, इस प्रश्नका उत्तर देना सहज नहीं है। मनुष्यको पहचानना बड़ा कठिन है, खासकर जिस समयतक उसके शरीर और मनका पूर्णरूपसे विकास न हुआ हो। तथापि देहतत्त्व और मनस्तत्त्वके ज्ञाता पण्डितोंने जो कुछ नियम निश्चित कर दिये हैं, उन पर दृष्टि रखकर विज्ञ पिता-माता, यत्न करें तो, अनेक दोषों और गुणोंका निरूपण कर सकते हैं। पात्र या पात्रीका शरीर सुगठित और सुस्थ है कि नहीं, उसके पितृकुल और मातृकुलमें किसी पूर्वपुरुषके कोई असाध्य

उत्कट रोग था कि नहीं, खुद पात्र-पात्रीका और उसके पिता-माताका स्वभाव कैसा है, और उनके मातृकुल और पितृकुलमें किसी गुरुतर दुष्कर्मसे कलुषित कोई आदमी था कि नहीं, इन सब बातोंका विशेष रूपसे पता लगाना पात्र-पात्रीके पिता-माता या अन्य अभिभावकका कर्तव्य है (१)। इन बातोंकी खोज करनेसे दोष-गुणका बहुत कुछ परिचय मिल सकता है। इस प्रकारकी जाँचमें अगर कोई गुरुतर दोष मालूम हो, तो उस दोषसे सम्बन्ध रखनेवाले पात्र-पात्रीको छोड़ देना चाहिए। खेदकी बात तो यह है कि आजकल अधिकांश लोग इन सब गुरुतर विषयोंपर दृष्टि न रखकर अपेक्षाकृत लघुतर विषयोंके लिए ही व्यस्त देखे जाते हैं। कहावतके तौर पर एक साधारण श्लोक सुना जाता है—

कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम्।
बान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः॥

अर्थात् कन्या वरका रूप चाहती है, कन्याकी माता वरका धन और कन्याका पिता वरकी विद्या देखता है। बन्धु-बान्धव कुल चाहते हैं और अन्य बराती वगैरह लोग मिठाई खाने पर नजर डालते हैं।

रूप अवश्य अग्राह्य करनेकी वस्तु नहीं है, किन्तु वह यदि यथार्थ रूप हो। कन्या ही क्यों, कन्याके मा-बाप कुटुम्बी और अन्य सभी वरका रूप देखकर सन्तुष्ट होते हैं। वरके पक्षमें भी यही बात बहुत कुछ घटित होती है। किन्तु रूपका अर्थ केवल गोरा चमड़ा ही नहीं है। एकवार एक भले आदमीके मुखसे मैंने सुना था, उनकी सहधर्मिणीका मत है कि उनकी भावी पुत्रवधूके अगर एक आँख न हो तो भी किसी तरह चल सकता है, लेकिन उसका रंग अवश्य ही गोरा होना चाहिए! सहसा यह बात सुनकर विस्मित होना पड़ता है। किन्तु जब कुछ सोचकर देखा जाता है कि बहुदर्शी मनुष्यतत्त्व और जातितत्त्वके ज्ञाता बड़े बड़े पाश्चात्य पण्डितोंके भी वर्ण-ज्ञानके अनुसार वर्ण-भेद ही मनुष्यके बल, बुद्धि, नीति, प्रकृतिका प्रधान परिचयदाता है, तो अल्पदर्शिनी अन्तःपुरवासिनी हिन्दू-रमणीकी यह बात उतने आश्चर्यकी नहीं जान पड़ती। चाहे जो हो, अंगसौष्ठव, अच्छे स्वास्थ्यके

(१) मनुसंहिता अ० ३, श्लो० ६—११ देखो।

कारण प्रकट हुई शरीरकी उज्ज्वल कान्ति और लावण्य, और मानसिक पवित्रता या प्रफुल्लतासे उत्पन्न मुखकी निर्मल कान्ति ही यथार्थ रूप और सौन्दर्य है। उस रूप-सौन्दर्यकी खोज अवश्य ही करनी होगी। उसके अलावा रूप मिले तो अच्छा ही है, और अगर न मिले तो उससे कुछ विशेष हानि नहीं। यह भी याद रखना चाहिए कि रूपका आदर तो ब्याहके बाद कुछ दिनतक ही रहता है, गुणहीका आदर सदा होता है।

रूपके सम्बन्धमें और एक बात है। अत्यन्त रूप, गुणके द्वारा संशोधित न होने पर, सर्वत्र वांछनीय नहीं है। सौन्दर्यगर्वित असंयत-प्रवृत्ति-संपन्न नर-नारी अपने समान सुरूप पति या पत्नी न पानेसे पहले असन्तुष्ट होते हैं, और फिर अन्तको प्रलोभनमें पड़कर उनके कुपथगामी होनेकी यथेष्ट आशंका है।

रूपकी अपेक्षा गुणका अधिक मूल्य है, और गुणकी ओर कुछ अधिक दृष्टि रखना दोनों ही पक्षोंका आवश्यक कर्तव्य है।

पात्रके यहाँ कुछ धन है कि नहीं, और स्त्री-पुत्र-कन्या आदिके भरण-पोषणका सुभीता है कि नहीं यह देखना, कन्याकी माताहीका क्यों, कन्याके पिताका भी मुख्य कर्तव्य है। मगर हाँ, धनके खयालसे निर्गुण पात्रको कन्या देना किसीके लिए भी उचित नहीं है। जो गुणहीन है, उसे धनसे भी सुख नहीं मिलता, और उसका वह धन बहुत ही सहजमें नष्ट हो जा सकता है।

पात्री-पक्षके धन है या नहीं, यह देखनेका विशेष प्रयोजन नहीं है। हो तो अच्छा ही है, न हो तो कुछ हर्ज नहीं। सताकर दबाव डालकर कन्या-पक्षसे धन या गहने वगैरह वसूल करना बहुत ही निन्दित नीच कार्य है। पिता-माता स्नेहके मारे ही कन्याको और दामादको यथाशक्ति गहने वगैरह देनेके लिए तैयार रहते हैं। उससे अधिक लेनेकी चेष्टा शिष्टाचारविरुद्ध है। यह बात सर्ववादिसंमत है। इस बातको सभी लोग कहा करते हैं, किन्तु दुःखका विषय यही है कि काम पड़नेके समय उनमेंसे अधिकांश लोग इस बातको भूल जाते हैं। यह कुरीति शास्त्रके द्वारा अनुमोदित या चिरप्रचलित प्रथा नहीं है। यह आधुनिक प्रथा है। और, जब सभी लोग इस प्रथाकी निन्दा करते हैं, तो आशा की जाती है कि यह धीरे धीरे उठ भी जायगी।

पूर्व प्रचलित कौलीन्य (कुलीनता) प्रथा अब क्रमशः उठी जाती है, और अब लोग इसी बात पर विशेष लक्ष्य रखते हैं कि लड़का अच्छे घरानेका और अच्छे गुणोंसे युक्त है कि नहीं। अतएव कौलीन्य प्रथाके बारेमें विशेष कुछ कहनेका प्रयोजन नहीं है।

बहुविवाह ठीक नहीं।

पात्र या पात्रीके—पत्नी या पतिके जीते रहते उसका फिर विवाह होना निन्दित है। स्त्रीके लिए तो एक समयमें एकसे अधिक पति प्रायः सभी देशोंमें निषिद्ध है। केवल सम्प्रदाय विशेषके बीच दाक्षिणात्य और तिब्बतमें इसका व्यतिक्रम देखा जाता है। पुरुषके लिए एक समयमें कई पत्नी होना ईसाई-धर्ममें निषिद्ध है। हिन्दुओं और मुसलमानोंके शास्त्रोंमें वह निषिद्ध नहीं है। पर न्यायसे अनुचित है, लोकव्यवहारसे निन्दित है, और कार्यमें क्रमशः उठा जाता है। और, सुखका विषय यह है कि बहुविवाहके अनुचित होनेके सम्बन्धमें कोई मतभेद नहीं है। अतएव इस गतप्राय या मृतप्राय प्रथाके विषयमें और अधिक कुछ न कहकर इसे चुपचाप उठ जाने देनेसे ही अच्छा होगा।

विवाहका समारोह (धूमधाम)।

विवाहसम्बन्धकी उत्पत्तिके विषयमें अन्तिम बात विवाहका समारोह है। विवाह मानव-जीवनका एक प्रधान संस्कार है। इसके द्वारा हम अपने सुखमें सुखी और दुःखमें दुखी होनेवाला जीवनका चिरसंगी एक आदमी पाते हैं। इससे स्वार्थपरताका संयम और परार्थपरताकी शिक्षाका प्रथम आरंभ होता है। यही दाम्पत्य-प्रेम, अपत्य-स्नेह और पितृ-मातृ-भक्तिकी जड़ है। अतएव विवाहके दिनको मानवजीवनका एक अति पवित्र और आनन्दका दिन समझना चाहिए, और उस दिनका माहात्म्य समुचित रूपसे सबके हृदयंगम करनेके लिए विवाहका उत्सव यथासंभव समारोहके साथ संपन्न होना सर्वथा वांछनीय है। किन्तु उस समारोहमें असंगत बहुत आडम्बर और अनर्थक व्यय-बाहुल्य अनुचित है। वरकी पोशाक, गहने और सवारी सुन्दर और सुखकर होनी चाहिए। किन्तु वरको पुरानी सौ जनोंकी पहनी किरायेकी राजसी पोशाक पहना कर, हिलडुल रहे और त्रासजनक डोले पर बिठा कर, एक तरहका स्वाँग सा बनाकर ले जाना कभी वांछनीय नहीं।

आडम्बरके सम्बन्धमें और एक बात है। जो लोग बहुत धनाढ्य हैं, जिनके बहुतसा धन खर्च करनेकी क्षमता है, और जिनके अनुकरणको असाध्य जानकर लोग उसमें प्रवृत्त नहीं होते, वे यथायोग्य आडंबरके साथ कार्य करें; उससे किसीकी भी क्षति नहीं है। किन्तु जिनकी वैसी हालत नहीं है, जो बिना क्लेशके थोड़ासा ही धन खर्च कर सकते हैं, उन्हें अधिक व्यय करके आडम्बरके साथ कार्य करना कभी उचित नहीं है। कारण, पहले तो उनका उस तरह खर्च करना खुद उनके लिए क्षतिकर है, क्योंकि उनके पास इतना धन नहीं है कि वे रुपयेको पानीकी तरह बहा सकें। दूसरे, उनका वैसा काम करना औरोंके लिए अनिष्टकर है। कारण, उनका खर्च देखकर उनके समान श्रेणीके अथच उनकी अपेक्षा कम हैसियतके लोग उतना ही खर्च करना चाहते हैं, और कष्ट उठाकर भी उनके बराबर खर्च करते हैं। अगर उतना खर्च नहीं कर सकते, तो मन-ही-मन और भी कष्ट पाते हैं।

विवाहका उत्सव अतिपवित्र धर्मकार्य है। उसमें नाचनेवालियों या वेश्याओंके नृत्य-गीत या नट-नटी आदिके अभिनय इत्यादि किसी अपवित्र आमोद-प्रमोदका होना सर्वथा अनुचित और हानिकर भी है।

विवाह-सम्बन्धका स्थितिकाल और कर्तव्यता।

विवाहसम्बन्धका स्थितिकाल पति और पत्नीकी जिंदगी भर है। उस समयमें स्वामीका कर्तव्य स्त्रीका आदर और सम्मान करना, और उपदेश तथा अपने दृष्टान्तके द्वारा सुशिक्षा देना है। स्त्री जो है वह जीवनके सुख-दुःखकी चिरसंगिनी है, अति आदरकी वस्तु है। वह केवल विलासकी चीज नहीं है, सम्मान पानेकी अधिकारिणी है। मनु भगवान् कहते हैं:—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥

(मनु अ० ३। श्लो० ५६)

अर्थात् जहाँ नारियोंका आदर होता है वहाँ देवता सन्तुष्ट होकर निवास करते हैं। जहाँ स्त्रियोंका अनादर होता है वहाँ सब कर्म निष्फल होते हैं।

स्त्रीको शिक्षा देना ।

स्वामीका सबसे बड़ा कर्तव्य है स्त्रीको शिक्षा देना। कारण, स्त्रीकी सुशिक्षा और सच्चरित्रके ऊपर स्वामीका, खुद स्त्रीका, उनकी सन्तानका और सारे परिवारका सुख और स्वच्छन्दता निर्भर है।

शरीरार्द्धं स्मृता जाया पुण्यापुण्यफले समा ।

(दायभाग ११।१।१)

अर्थात् पत्नी पतिका आधा शरीर है। शास्त्रमें लिखा है कि पतिके पुण्य-पापका आधा फल उसे भी मिलता है। और, पत्नीके पाप-पुण्यका आधा फल पतिको मिलता है।

यह बृहस्पतिका वचन केवल स्त्रीका स्तुतिवाद नहीं है, यह अमोघ सत्य है। स्त्रीके पाप-पुण्यका फल स्वामीको और स्वामीके पाप-पुण्यका फल स्त्रीको भोग करना होता है। यह साधारण ज्ञानकी बात है, और इसे प्रायः सभी लोग जानते हैं। अतएव स्वामी यदि खुद सुखी होना चाहे, तो स्त्रीको सुशिक्षा देना उसका आवश्यक कर्तव्य है। वह अगर स्त्रीकी भलाई चाहता है तो स्त्रीको अच्छी शिक्षा देना उसका कर्तव्य है। स्त्री अगर सुशिक्षित और सच्चरित्र नहीं हुई तो स्वामी अपर्याप्त वस्त्र-अलंकार देकर और निरन्तर आदर-प्यार करके उसे सुखी नहीं कर सकेगा। इसके सिवा सन्तानकी शिक्षाके लिए भी स्त्रीके शिक्षित होनेकी आवश्यकता है। कोई कोई समझ सकते हैं कि सन्तानको शिक्षा पिता देगा, उसके लिए माताकी शिक्षाका क्या प्रयोजन है? मगर ऐसा समझना भ्रम है। हमारा यथार्थ शिक्षक, कमसे कम चरित्रगठनके विषयमें, माता ही है। हमारी शिक्षा, पाठशालामें जानेके बहुत पहले, माताकी ही गोदमें शुरू होती है। माताका हरएक वाक्य और हरएक मुखभंगी हमारे बचपनके कोमल हृदयमें सदाके लिए नये नये भाव अंकित कर देती है। और ज्ञात या अज्ञातभावसे माताकी प्रकृतिके अनुसार ही हमारी प्रकृतिका गठन होता है। इसके सिवा स्वामीके समग्र परिवारका सुख स्त्रीके चरित्रके ऊपर निर्भर है। वह पहले घरकी बहू और फिर कुछ दिनके बाद घरकी मालकिन या पुरखिन होती है। उसीकी गृह-कर्म-निपुणता और सबसे मिलकर चलनेके कौशलसे गृहस्थका कल्याण होता है।

स्त्रीकी शिक्षा केवल विद्याकी शिक्षा या केवल शिल्पकी शिक्षा नहीं है। ये शिक्षाएँ उसे दे सको तो अच्छा ही है, लेकिन स्त्रीके लिए अति आवश्यक शिक्षा कर्मकी और धर्मकी शिक्षा है। वह शिक्षा देनेके लिए स्वामीको खुद कर्मिष्ठ और धर्मिष्ठ बनना होगा, और मौखिक उपदेश तथा आचरणसे वह शिक्षा देनी होगी। आचरणके बिना केवल जबानी उपदेश संपूर्ण रूपसे कार्य करनेवाले नही होंगे।

स्त्रीको सुखी रखना, पर विलासप्रिय न बनने देना।

स्त्रीको भरसक सुख और स्वच्छन्दतासे रखना स्वामीका अवश्य-कर्तव्य है। किन्तु क्षमता रहने पर भी, स्त्रीको विलासप्रिय न बनाना उसीके तुल्य कर्तव्य है। स्वामी अगर सचमुच स्त्रीका शुभचिन्तक है तो उसे चाहिए कि स्त्रीको कभी विलासप्रिय न होने दे।

संसार कठोर कर्मक्षेत्र है। यहाँ विलासप्रिय बननेसे कर्तव्यपालनमें विघ्न पड़ता है और जिस सुखके लिए विलास-लालसा की जाती है वह भी नहीं मिलता। यह बात पहले बहुत ही कड़वी जान पड़ सकती है। कोई कोई सज्जन अपने मनमें सोच सकते हैं कि जब स्त्री सहधर्मिणी भी है और आनन्ददायिनी भी है, तब वह अगर बीच बीचमें कुछ-कुछ आमोद-प्रमोदके द्वारा स्वामीको आनन्दित न करके निरन्तर कर्तव्य-पालनके लिए कठोर भाव या उदासीनता धारण किये रहे, तो फिर संसार एक असह्य स्थान हो जायगा। किन्तु इस तरहकी आशंकाका कोई कारण नहीं है। समय समय पर आल्हाद-आमोद करनेके लिए स्त्रीके लिए क्यों, स्वामीके लिए भी कोई निषेध नहीं है। मगर आल्हाद-आमोद करना और विलासप्रिय होना एक ही बात नहीं है। आनन्दलाभके लिए ही लोग विलासकी खोज करते हैं, किन्तु उससे यथार्थ आनन्द नहीं होता। कारण, एक तो विलासकी चीजें लानेमें या जमा करनेमें कष्ट उठाना पड़ता है, खर्च करना पड़ता है। दूसरे, उन चीजोंको जमा करलेने पर भी, उनसे तृप्ति नहीं होती। दिन-दिन नई-नई भोगवासना उत्पन्न होती हैं, और उन भोगवासनाओंकी तृप्ति होना क्रमशः कठिन हो उठता है, और उनकी तृप्ति न होनेसे ही क्लेश होता है। तीसरे, विलासकी ओर मन जानेसे क्रमशः श्रमसाध्य कर्तव्यकर्म करनेमें अनिच्छा हो जाती है। चौथे, मनकी दृढ़ताका ह्रास होता है, और किसी अवश्य हो-

नहार अशुभ घटनाके होने पर उसे सहनेकी शक्ति नहीं रहती । इसी कारण विलासप्रियता निषिद्ध है, और जिससे यथार्थ आनन्दकी प्राप्ति हो उसीकी खोजमें तत्पर रहना कर्तव्य है । विलासिता, परिणाममें दुःखदायिनी होने पर भी, पहले सुखकारिणी और हृदयग्राहिणी होती है, और उधर संयमकी शिक्षा, आवश्यक होने पर भी, पहले कुछ कष्ट देनेवाली होती है । किन्तु कुछ सोचकर देखनेसे, और विलासी और संयमी दोनोंको सुख-दुःखका जमा-खर्च करके देखनेसे, इसमें संदेह नहीं कि सुखका भाग संयमीके ही हिस्सेमें अधिक पड़ेगा । कारण, यद्यपि पहले संयमीको कुछ अधिक कष्ट जान पड़ेगा, किन्तु अभ्यासके द्वारा क्रमशः उस कष्टका ऱ्हास हो आता है, और अपने कर्तव्यपालनमें संसार-संग्राममें जय पाने योग्य बलका संचय होनेसे जो आनन्द होता है वह दिन-दिन बढ़ता रहता है । उस मनुष्यका मन क्रमशः ऐसा सबल और दृढ़ हो उठता है कि वह फिर कोई अशुभ घटना होने पर विचलित नहीं होता । जो स्वामी स्त्रीके चरित्रको इस तरह संगठित कर सकता है, वही भाग्यशाली है और उसीकी स्त्री यथार्थमें भाग्यवती है ।

स्वामीके प्रति स्त्रीका प्रेम और भक्ति ।

स्वामीके प्रति स्त्रीका अकृत्रिम प्रेम और अविचलित भक्ति रहनी चाहिए। यही स्त्रीका कर्तव्य है । स्त्रीसे अकृत्रिम प्रेम पानेकी अभिलाषा सभीको होती है । मगर बहुत लोगोंके मतमें स्त्रीपुरुषका सम्बन्ध जैसा बराबरीका सम्बन्ध है, उसे देखते जान पड़ता है कि एकके प्रति दूसरेकी भक्ति उनको संगत न जान पड़ेगी । किन्तु यह पति-भक्ति किसी अनुदार प्राच्य मतकी बात नहीं है । उदार पाश्चात्य कवि मिल्टनने मानवजननी इवके मुखसे स्वामीके प्रति ये बातें कहलाई हैं—

" ईश्वर तुम्हारी विधि है, तुम मेरे हो, तुम्हारी आज्ञाके सिवा मैं और कुछ नहीं जानूँगी । यही मेरा श्रेष्ठ ज्ञान है, यही मेरा गौरव है । " (१)

(१) " God is thy law, thou mine; to know no more
Is woman's happiest knowledge and her praise."
Paradise Lost, BK. IV.

स्वामीकी इच्छाके अनुगामी होकर चलना स्त्रीका कर्तव्य है; ऐसा न होनेपर दोनोंका एकत्र रहना असंभव है। ऐसी आशा नहीं की जा सकती कि दोनोंकी इच्छा सभी बातोंमें ठीक एक-सी होगी। अतएव उनमेंसे एक दूसरेकी इच्छाका अनुगामी न होगा तो विवाद होना अनिवार्य है। ऐसी जगहपर, दोनों पक्षोंकी अवस्था पर दृष्टि रखनेसे यही संगत जान पड़ता है कि स्त्री ही स्वामीकी इच्छाके अनुगत होकर चले। स्त्रीकी अपेक्षा पुरुषका शरीर सबल और मन प्रबल है, इस खयालसे मैं यह बात नहीं कहता। स्त्रीकी अपेक्षा पुरुषके शरीरमें बल अवश्य अधिक है, किन्तु इसी लिए पुरुषका स्त्रीके ऊपर प्रभुत्व करना, कार्यतः अनिवार्य होने पर भी, न्यायकी दृष्टिसे कर्तव्य नहीं है। पुरुषके मनका बल स्त्रीकी अपेक्षा अधिक हो, तो पुरुषकी प्रधानता न्यायसंगत हो सकती है। किन्तु उस अधिकताके सम्बन्धमें अनेक लोग सन्देह करते हैं, उस सन्देहको मिटाना कठिन है और इस जगह पर निष्प्रयोजन भी है। यहाँपर यहीं तक कहना यथेष्ट होगा कि प्राकृतिक नियमके अनुसार स्त्रीको गर्भधारण और सन्तानपालनके लिए बीच बीचमें कुछ दिनके वास्ते अक्षम रहना होता है। पुरुष सभी समय कर्म-क्षम रहते हैं। अतएव कमसे कम इसी कारणसे पारिवारिक कार्योंमें पुरुषको प्रधानता देनेकी आवश्यकता है।

मनमाने तौरसे आने-जानेके सम्बन्धमें पुरुषकी अपेक्षा स्त्रीको कम स्वाधीनता है, इस बारेमें अनेक कारणोंसे स्त्रीको स्वामीकी ही राय पर चलना चाहिए। उनमेंसे एक प्रधान कारण यह है कि अनेक स्थलोंमें स्त्रीके हिताहितको स्वामी ही अच्छी तरह समझ सकता है। यह स्वाधीनताकी विषमता यथासंभव सीमाके भीतर रहे तो किसी पक्षका अनिष्ट नहीं करती, बल्कि सभीका हित करती है। स्त्री और पुरुष दोनों ही अगर स्वाधीनताके साथ बाहर बाहर घूमते रहें तो घरके कामकाज यत्नपूर्वक देखे सुने नहीं जा सकते। अगर कामकाजका बटवारा किया जाय, तो बाहरके कामोंका भार स्वामीके ऊपर और घरके कामोंका भार स्त्रीके ऊपर रहना ही यथोचित व्यवस्था है। स्त्रीको अनिष्टसे बचानेके लिए उसे अन्तःपुरमें एकदम बंद कर रखना जैसे अन्याय है वैसे ही निष्फल भी है। मनुजीने यथार्थ ही कहा है—

अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः।

आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥
(मनु अ० ९, श्लो० १२)

अर्थात् मर्द जिन औरतोंको घरमें बंद करके रखते हैं उन्हें अरक्षित ही समझना चाहिए। जो समझदार स्त्रियाँ आप अपनी रक्षा करती हैं वे ही वास्तवमें सुरक्षित हैं।

धर्मकार्य (जैसे तीर्थयात्रा, देवदर्शन आदि) और गृहकार्य (विवाहादि उत्सव और अतिथि आदिकी सेवा) में हिन्दूके घरकी स्त्रियाँ सबके सामने निकल सकती हैं और निकलती हैं, उसके लिए कोई निषेध नहीं है । हाँ, आमोद-प्रमोदके लिए वे सबके सामने नहीं निकलतीं, और इस प्रथाको बिलकुल अन्याय भी नहीं कहा जा सकता। आमोद-प्रमोद आत्मीय स्वजनोंके सामने ही भला लगता है। जिस-तिसके आगे और जहाँ-तहाँ आमोद-प्रमोद करना, स्त्रीके लिए ही क्यों, पुरुषके लिए भी निषिद्ध है । उससे चित्तकी धीरता नष्ट होती है, चंचलता आती है, और सब प्रवृत्तियाँ असंयत हो उठती हैं।

विवाहसम्बन्धका तोड़ना।

अब विवाहसम्बन्धका विच्छेद किस अवस्थामें हो सकता है, या वह कभी होना चाहिए या नहीं, इस प्रश्नकी कुछ आलोचना की जायगी।

सोचकर देखे बिना पहले जान पड़ सकता है कि दोनों पक्षोंकी सम्मतिके अनुसार इस सम्बन्धके विच्छिन्न होनेमें कोई बाधा नहीं है । किन्तु कुछ सोचकर देखनेसे समझ पड़ेगा कि इस तरहके गुरुतर सम्बन्धका विच्छेद उस तरहसे होना किसी तरह न्यायसंगत नहीं हो सकता। अगर इस तरह विवाहसम्बन्ध विच्छिन्न होगा तो दुर्निवार इन्द्रियोंकी संयत तृप्ति, सन्तान उत्पन्न करना और पालना, दाम्पत्य-प्रेम और अपत्य-स्नेहसे क्रमशः स्वार्थपरताका त्याग और परार्थपरताका अभ्यास आदि जो विवाह-संस्कारके उद्देश्य हैं वे पूरे न हो सकेंगे—उन पर पानी फिर जायगा। कारण, जब चाहो तब विवाहसम्बन्धका विच्छेद हो सकनेपर प्रकारान्तरसे यथेच्छ इन्द्रियतृप्ति प्रश्रय पावेगी; जनक-जननीका विवाहबन्धन विच्छिन्न होनेपर बच्चे जो हैं वे पालनके समय पिताके, या माताके, और कभी दोनों हीके आदर-यत्नसे वञ्चित होंगे; दांपत्यप्रेम और अपत्यस्नेह पशु-पक्षियोंकी अपेक्षा मनुष्योंमें

अधिक है—यह कह कर गौरव-गर्व करनेका अधिकार नहीं रहेगा; स्वार्थपरताके त्याग और परार्थपरताके अभ्यासकी जगह उसके विपरीत शिक्षा प्राप्त होगी। यद्यपि पाश्चात्यनीतिवेत्ता बेन्थम साहब (१) की रायमें दोनों पक्षोंकी स्वेच्छासे विवाहबन्धन विच्छिन्न हो जाना उचित है, किन्तु उस मतकी अनुयायिनी प्रथा सभ्यसमाजमें कहीं भी प्रचलित नहीं हुई।

अनेक लोगोंका यह मत है कि केवल पति-पत्नीकी इच्छासे न हो, उपयुक्त कारणसे विवाहबन्धन विच्छिन्न हो सकना उचित है। अनेक सभ्यसमाजोंकी प्रचलित प्रथा इसी मतके अनुसार संस्थापित हुई है। किन्तु यह मत और यह प्रथा उच्च आदर्शकी नहीं जान पड़ती। सच है कि पति-पत्नी दोनोंका परस्पर व्यवहार अगर बुरा हो, तो उन दोनोंका एकसाथ रहना अत्यन्त कष्टकर होता है। लेकिन जहाँ वे जानते हैं कि ऐसी अवस्थामें हम विवाह-बन्धनसे छुटकारा पा सकते हैं, वहाँ उस छुटकारा पानेकी इच्छाहीसे बहुत कुछ वैसे बुरे व्यवहारको उत्तेजना मिलने लगती है। मगर जहाँ उन्हें मालूम है कि वह बन्धन अविच्छेद्य है, वहाँ उनका वह ज्ञान ही उनके परस्पर कुव्यवहारको बहुत कुछ कम किये रहता है। हिन्दूसमाज ही मेरे इस कथनका प्रमाण है। मैं यह नहीं कहता कि हिन्दूसमाजमें विवाहबन्धनका विच्छेद न हो सकनेके कारण स्त्री-पुरुषके बीच गुरुतर विवाद होता ही नहीं। किन्तु होनेपर भी वह इतने कम स्थलोंमें, और ऐसे ढंगसे, होता है कि उसके कारण समाजकी स्थितिमें कुछ विशेष विघ्न नहीं होता, और अभी तक कोई यह नहीं सोचता कि विवाह-बन्धन-विच्छेदकी विधि बनानेकी जरूरत है।

जिस जगह एक पक्षके साथ दूसरे पक्षका व्यवहार अत्यन्त निन्दित और कलुषित है, उस जगह बहुत लोग ऐसा समझ सकते हैं कि जिस पक्षके साथ निन्दित व्यवहार किया जाता है उस पक्षका विवाहबन्धनसे छुटकारा पाना अत्यन्त प्रयोजनीय है। जो व्यक्ति खुद निर्दोष है, केवल दूसरेके दोषसे कष्ट पाता है, उसके लिए अवश्य ही सब लोग दुःखित हो सकते हैं, और उसका दुःख दूर करनेके लिए चेष्टा कर सकते हैं किन्तु विवाहबन्धनसे छुट-

(१) Bentham's Theory of Legislation, Principles of the Civil Code, Part III Ch. V. Sec II. देखो।

कारा पाकर उसे जो शान्ति और सुख मिलेगा वह जीवनसंग्राममें विजय पानेवालेकी सुख-शान्ति नहीं है, वह उस संग्राममें अशक्त होकर भागकर जो छुटकारा मिलता है उसके सिवा और कुछ नहीं हो सकता। अतएव विवाह-बन्धन-विच्छेद निर्दोषके लिए सुखकर या गौरवजनक नहीं है। उधर उसके द्वारा दोषी पक्षकी अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो जाती है। पापके बोझसे दबा हुआ आदमी पुण्यात्माके साथ मिलकर रहनेसे किसी तरह कष्टसे साथीकी सहायतासे भवसागरके पार जानेमें समर्थ भी हो सकता है, किन्तु जो उसका साथी उसे बीचमें छोड़ दे तो अकेले उसके पार होनेका उपाय नहीं रह जाता। जिसके साथ सदा एकत्र रहनेका और सुखदुःखमें समभागी होनेका अंगीकार करके विवाहकी गाँठ बँधी थी, उसे ऐसी शोचनीय अवस्थामें त्याग करना बड़ी ही निठुराईका काम है। यह सच है कि प्रणयमें प्रतारणाकी यन्त्रणा बहुत तीव्र होती है, यह सच है कि पापका संसर्ग अतिभयानक है; किन्तु जिन्होंने परस्पर एक दूसरेको सुमार्गमें रखनेका भार अपने अपने सिरपर लिया था, उनमेंसे एक आदमी अगर कुमार्गमें जाय, तो दूसरेका उसे छोड़कर निश्चिन्त होना उचित नहीं है। बल्कि उसका दोष दूर करनेकी उपयुक्त चेष्टा नहीं हुई, यह सोचकर संतप्त होना और उस दोषको कुछ-कुछ अपने कर्मका फल समझना ही उचित है। पार्थिव प्रेम प्रतिदान (बदले) की आकांक्षा रखता है। किन्तु जिसे प्रणय कहते हैं, वह स्वर्गीय पदार्थ, निष्काम और पवित्र है। वह पापके स्पर्शसे अपने कलुषित होनेका भय नहीं रखता, बल्कि सूर्यकिरणोंकी तरह अपने पवित्र तेजसे अपवित्रको पवित्र कर लेता है। पवित्रप्रेमका अमृतरस इतना गाढ़ा और मधुर है कि वह प्रतिहिंसा-दोष आदि कड़वे-तीखे रसोंको अपनी मधुरतामें एकदम डुबा दे सकता है। दाम्पत्यप्रेमका आदर्श भी इसी तरहका होना चाहिए। एक पक्षसे पवित्र प्रेमकी अमृतधारा निरन्तर बरसती रहनेसे, दूसरा पक्ष चाहे जितना नीरस हो उसे आर्द्र होना ही पड़ेगा, वह चाहे जितना कटु हो उसे मधुर होना ही पड़ेगा, वह चाहे जितना कलुषित हो उसे पवित्र होना ही पड़ेगा। ये सब बातें काल्पनिक नहीं हैं। सभी देशोंमें दाम्पत्यप्रेमका यही मधुमय पवित्र फल फलता रहता है, और अनेक लोगोंने अनेक स्थानोंमें उसके उज्ज्वल दृष्टान्त देखे हैं। भारतमें, हिन्दूसमाजमें और

चाहे जितने दोष हों, सब दोषोंके रहते भी दाम्पत्यप्रेमके उच्च आदर्शने ही हिन्दू-परिवारको इस समय भी सुखका घर बना रक्खा है, और उसीने अ-बतक इस समाजमें किसीको विवाहबन्धनके विच्छेदकी प्रयोजनीयताका अनुभव नहीं करने दिया। अतएव उपयुक्त कारणसे विवाहबन्धन विच्छेदकी प्रथा अनेक देशोंमें प्रचलित रहने पर भी वह उच्च आदर्श नहीं है।

एक पक्षकी मृत्युसे विवाहका बन्धन टूट जाना उचित है, या नहीं, यह विवाहके विषयका अंतिम प्रश्न है। मृत्युसे विवाहका बन्धन टूट जाता है, यह मत प्राय: सर्वत्र प्रचलित है। केवल पाजिटिविस्ट (Positivist) संप्रदायमें (१) और हिन्दूशास्त्रमें उसका अनुमोदन नहीं किया गया है। यद्यपि हिन्दूशास्त्रके मतमें एक स्त्रीके मरने पर स्वामी दूसरा ब्याह कर सकता है, किन्तु उससे पहली स्त्रीके साथ जो सम्बन्ध था उसका छूट जाना नहीं सूचित होता। कारण, पहली स्त्रीके मौजूद रहने पर भी हिन्दू स्वामी दूसरा ब्याह कर सकता है। किन्तु पुरुषके लिए बहुविवाह निषिद्ध न होने पर भी हिन्दूशास्त्रने उसका समादर नहीं किया है (२)। स्त्रीके लिए जैसे पतिकी मृत्युके बाद अन्य पतिको ग्रहण करना अनुचित है, वैसे ही स्वामीके लिए भी स्त्रीकी मृत्युके बाद अन्य स्त्रीको ग्रहण करना अनुचित है यह। प्रसिद्ध विद्वान् कामटी (Comte) का मत है, और इसमें सन्देह नहीं कि यह मत विवाहके उच्च आदर्शका अनुगामी है। लेकिन उस उच्च आदर्शके अनुसार जनसाधारणके चल सकनेकी आशा अब भी नहीं की जासकती। प्राय: सभी देशोंमें इसके विपरीत रीत प्रचलित है; और हिन्दूसमाजमें उस उच्च आदर्शकी अनुयायिनी प्रथा जहाँतक प्रचलित है, वह स्त्रीकी अपेक्षा पुरुषके अधिक अनुकूल होनेके पक्षपात-दोषके कारण, अन्य समाजके लोग और हिन्दूसमाजके अन्तर्गत रिफार्मर (संस्कारक) लोग उसको आदरकी दृष्टिसे नहीं देखते, बल्कि उसे अति अन्याय कहकर उसकी निन्दा करते हैं।

---

(१) Comte's System of Positive Polity, Vol. II, ch. III, P. 157 देखो।

(२) Colebrooke's Digest of Hindu Law, Bk. IV, 51, 55, Manu III, 12, 13, देखो।

चिर वैधव्य विधवा-जीवनका उच्चादर्श है ।

किन्तु यह याद रखना चाहिए कि यदि देशके आधेके लगभग आदमी किसी उच्च आदर्शकी अनुयायिनी प्रथाका पालन करते हैं, तो शेष आधे लोग उसका पालन न करनेसे खुद निन्दनीय होंगे । चिर-वैधव्य अगर उच्च आदर्शकी प्रथा है, तो यह कह कर कि पुरुष लोग पत्नीवियोगके बाद अन्य विवाह कर लेते हैं, वह प्रथा उठा देना कर्तव्य नहीं है । बल्कि समाजसंस्कारकोंको यही उचित है कि मर्द लोग भी जिससे उसी उच्च आदर्शके अनुसार चल सकें वह यत्न करें । अतएव मूल प्रश्न यह है कि पुरुष चाहे जो करें, स्त्रियोंके जीवनका उच्च आदर्श चिरवैधव्यपालन है कि नहीं ?

इस प्रश्नका ठीक उत्तर देनेके लिए यह आवश्यक है कि विवाहके उद्देश्यों-पर दृष्टि रक्खी जाय ।

विवाहका पहला उद्देश्य अवश्य यही है कि संयत भावसे इन्द्रिय-तृप्ति, सन्तान उत्पन्न करना और उनका पालन पोषण करना । किन्तु विवाहका एक यही उद्देश्य नहीं है, और न इसको श्रेष्ठ उद्देश्य ही कह सकते हैं । विवाहका दूसरा और श्रेष्ठ उद्देश्य है दाम्पत्यप्रेम और अपत्य स्नेहसे क्रमशः चित्तकी सत्प्रवृत्तियोंका विकास, उसके द्वारा मनुष्यकी स्वार्थपरताका क्षय, परार्थपरताकी वृद्धि, और अध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करना। अगर पूर्वोक्त पहला उद्देश्य ही विवाहका एकमात्र उद्देश्य होता, तो सन्तान पैदा करनेके पहले पतिवियोग हो जानेपर दूसरे पतिको ग्रहण करनेमें विशेष दोष न रहता । मगर हाँ, सन्तान पैदा करनेके बाद द्वितीय पति ग्रहण करनेसे उस सन्तानके पालन-पोषणमें बाधा पड़ती, अतएव उस अवस्थामें चिर वैधव्य, केवल उच्च आदर्श क्यों, प्रयोजनीय भी होता । किन्तु विवाहके दूसरे उद्देश्य पर दृष्टि रखनेसे चिरवैधव्यपालनके ही उच्च आदर्श होनेमें कोई सन्देह नहीं रह जाता।

जिस पति-प्रेमका विकास क्रमशः पत्नीकी स्वार्थपरताके क्षय और आध्यात्मिक उन्नतिका कारण होगा, वह अगर पतिके अभावमें लुप्त हो जाय, और अगर पत्नी अपने सुखके लिए उस पति-प्रेमको अन्य पतिमें स्थापित करे, तो फिर स्वार्थपरताका क्षय क्या हुआ ? इसके उत्तरमें कभी कभी विधवा-विवाहके अनुकूल पक्षके मुखसे यह बात सुन पड़ती है कि " जो लोग विधवाविवाहका निषेध करते हैं वे विवाहको केवल इन्द्रियतृप्तिके लिए आव-

श्यक समझते हैं, और विवाहके उच्च आदर्शको भूल जाते हैं । वास्तवमें विधवाका फिर विवाह करना केवल इन्द्रिय-तृप्तिके लिए कर्तव्य नहीं है, वह पतिप्रेम, अपत्यस्नेह आदि सब उच्च वृत्तियोंके विकासके लिए कर्तव्य है।" उन लोगोंका यह कथन बेशक विचित्र ही है । विधवाविवाहका निषेध विधवाकी आध्यात्मिक उन्नतिमें बाधा डालनेवाला है, और विधवाविवाहकी विधि उस उन्नतिके साधनका उपाय है, यह बात कहाँतक संगत है, देखना चाहिए । पतिप्रेम जो है वह एक साथ ही सुखका आकर और स्वार्थपरताके क्षयका उपाय है । किन्तु उसे वैषयिक भावसे सुखकी खान समझ कर अधिक आदर करनेसे उसके द्वारा स्वार्थपरताके क्षयकी अर्थात् आध्यात्मिक भावके विकासकी संभावना बहुत ही थोड़ी है । विधवाके आध्यात्मिक भावसे पतिप्रेमके अनुशीलनके लिए दूसरे पतिको ग्रहण करना निष्प्रयोजन है, और बल्कि उस पतिप्रेमके अनुशीलनमें बाधा डालनेवाला है । उस विधवाने प्रथम पति पानेके समय उसीको पतिप्रेमका पूर्ण आधार समझकर उसे आत्मसमर्पण किया था, अतएव उसकी मृत्युके बाद, स्मृति-मन्दिरमें स्थापित उसकी मूर्तिको जीवित रखकर, उसीके प्रति प्रेमको अविचलित रखसकनेसे, वही निःस्वार्थप्रेमका और आध्यात्मिक उन्नतिका साधन होगा । उस प्रेमका प्रतिदान अवश्य ही वह नहीं पावेगी । किन्तु उच्च आदर्शका प्रेम प्रतिदान चाहता भी नहीं। पक्षान्तरमें विधवा यदि दूसरे पतिसे ब्याह कर लेगी, तो अवश्य ही उसके पतिप्रेमके अनुशीलनमें भारी संकट आपड़ेगा । जिस प्रथम पतिको पतिप्रेमका पूर्ण आधार जानकर आत्मसमर्पण किया था, उसे भूलना होगा, उसकी हृदयमें अंकित मूर्तिको वहाँसे निकाल देना होगा, और उसे जो प्रेम अर्पण किया था वह उससे फेरकर अन्य पात्रको सौंपना होगा। ये सब कार्य आध्यात्मिक उन्नतिके साधनमें भारी बाधा डालनेवाले होनेके सिवा उसके लिए उपयोगी कभी नहीं हो सकते । यह सच है कि मृत पतिकी मूर्तिका ध्यान करके उसके प्रति प्रेम और भक्तिको अविचलित रखना अति कठिन कार्य है, किन्तु असाध्य या असुखकर नहीं है, और हिन्दू विधवाका पवित्र जीवन ही उसका प्रशस्त प्रमाण है, जो कि बहुतायतसे देखनेको मिल सकता है । मैं यह नहीं कहता कि सभी विधवाएँ चिरवैधव्यपालनमें

समर्थ हो सकती हैं, या हैं। जो असमर्थ हैं उनके लिए देखने-सुननेवालोंका हृदय अवश्य ही व्यथित होता है। अगर वे दूसरा पति ग्रहण कर लें तो उन्हें मैं मानवी ही कहूँगा, किन्तु जो विधवाएँ चिरवैधव्यका पालन करनेमें समर्थ हैं उन्हें देवी कहना होगा, और अवश्य उन्हींके जीवनको विधवाके जीवनका उच्च आदर्श कहना चाहिए।

विधवाविवाहकी प्रथाके अनुकूल और प्रतिकूल युक्तियाँ।

चिरवैधव्यको उच्च आदर्श स्वीकार करके भी अनेक लोग कहते हैं कि वह उच्च आदर्श सर्वसाधारण विधवाओंके लिए अनुसरण योग्य नहीं है— सर्वसाधारण विधवाओंके लिए विधवाविवाहका प्रचलित होना ही उचित है। इस सम्बन्धमें जो अनुकूल युक्तियाँ हैं उन्हींकी पहले कुछ आलोचना की जायगी।

इस आलोचनाके पहले ही कुछ बातें स्पष्ट करके कह देना उचित है। विधवाविवाहके बारेमें अबतक जो कुछ मैंने कहा है वह हिन्दूशास्त्रकी बात नहीं है, *सामान्य युक्तिकी* बात है। यह कह देना भी आवश्यक है कि अब भी आगे जो कुछ आलोचना करूँगा वह केवल युक्तिमूलक आलोचना होगी, हिन्दूशास्त्रमूलक आलोचना न होगी। सुतरां यहाँपर यह प्रश्न नहीं उठता कि विधवाविवाह कभी होना उचित है कि नहीं। चिरवैधव्यपालन उच्च आदर्श होनेपर भी यह बात नहीं सोची जा सकती कि उस आदर्शके अनुसार सभी स्त्रियाँ चल सकेंगी या चल सकती हैं। यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि दुर्बलदेहधारिणी मानवीके लिए प्रथम अवस्थामें वैधव्य कष्टकर है। वह कष्ट कभी कभी, जैसे बालवैधव्यकी हालतमें, मर्मविदारक होता है, और विधवाके कष्टसे सभीके हृदयको व्यथा पहुँचेगी। जो विधवाएँ आध्यात्मिक बलके प्रभावसे उस कष्टको कातर हुए विना सह कर धर्मव्रतमें अपना जीवन अर्पण कर सकती हैं, उनका कार्य अवश्य ही प्रशंसनीय है। जो विधवा ऐसा करनेमें असमर्थ हैं उनका कार्य प्रशंसनीय न होने पर भी उनकी निन्दा करना उचित नहीं है। कारण, हम लोग अवस्थाके अधीन हैं, हमारे दोष-गुण संसर्गसे उत्पन्न हुआ करते हैं। पिता-माताके निकटसे जैसा शरीर और मन (प्रकृति) हमने पाया है, और शिक्षा, दृष्टांत व नित्य आहार-व्यवहारके द्वारा वह शरीर और मन जैसा गठित हुआ है, उसीके

ऊपर हमारे सब कार्य निर्भर हैं। अतएव अगर कोई विधवा चिरवैधव्यके पालनमें असमर्थ हो, तो उसकी उस असमर्थताकी जिम्मेदारी केवल उसीके ऊपर नहीं है। उसकी जिम्मेदारी उसके माता-पिताके ऊपर, उसे शिक्षा देनेवालोंके ऊपर, और उसके समाजके ऊपर भी है। वह इच्छा करे तो अवश्य ही विवाह कर सकती है, उसमें बाधा डालनेका अधिकार किसीको नहीं है। और वह विवाह, हिन्दूशास्त्र चाहे जो कहे, स्वर्गीय ईश्वरचंद्र विद्यासागर महाशयके उद्योगसे पास हुए सन् १८५६ के १५ वें आईनके अनुसार सिद्ध है। अतएव प्रयोजन होनेपर, विधवाविवाह उचित है कि नहीं यह प्रश्न, अन्य समाजकी तो कोई बात ही नहीं, हिन्दूसमाजमें भी अब उठ नहीं सकता। अब प्रश्न यह है कि विधवाविवाहका सर्वत्र प्रचलित प्रथा होना, और चिरवैधव्यपालनके उच्च आदर्श होने पर भी उसका विधवाविवाहप्रथाके व्यतिक्रमस्वरूपसे रहना उचित है, या चिरवैधव्यपालनका ही सर्वत्र प्रचलित प्रथा होना और विधवाविवाहका चिरवैधव्यपालनके व्यतिक्रमस्वरूपसे रहना उचित है? अर्थात् चिरवैधव्यपालन मुख्य प्रथा और विधवाविवाह गौण प्रथा हो, या विधवाविवाह मुख्य प्रथा और चिरवैधव्यपालन गौण प्रथा हो? इस प्रश्नका ठीक उत्तर क्या है, इसीकी अब विवेचना करनी है।

जिन सब देशोंमें विधवाविवाहकी प्रथा प्रचलित है, वहाँ इसके उठ जानेकी कोई संभावना नहीं है। प्रसिद्ध पाश्चात्य पण्डित काम्टी (Comte) बहुत दिन हुए, चिरवैधव्यपालनकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन कर गये हैं। किन्तु उनके उस कथनसे उक्त पाश्चात्यप्रथामें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। मगर हाँ, इस समय पाश्चात्यदेशकी स्त्रियाँ अपनी स्वाधीनता स्थापित करनेके लिए जैसा दृढव्रत धारण किये कमर कस कर मैदानमें खड़ी हुई हैं, उससे जान पड़ता है, विधावाएँ ही क्यों, कुमारियाँ भी धीरे धीरे विवाह-बन्धनमें बँधनेमें अनिच्छा प्रकट करने लगेंगी। और, वैसा होनेपर शायद उनके उस दृढव्रतका एक फल यह होगा कि पाश्चात्य देशोंमें भी पवित्र चिरवैधव्यका उच्च आदर्श स्थापित हो सकेगा। किन्तु ये सब बहुत दूरकी बातें हैं। इस समय निकटकी बात यह है कि हिन्दूसमाजमें जो चिरवैधव्यप्रथा प्रचलित है उसका उठ जाना उचित है कि नहीं?

इस प्रथाके प्रतिकूल जो युक्तियाँ पेश की जाती हैं वे नीचे लिखी जाती हैं। पहले तो यह कहा जाता है कि इस प्रथाका फल स्त्रियों और पुरुषोंके प्रति अति विसदृश है। अर्थात् पुरुष स्त्रीके मरने पर फिर ब्याह कर सकते हैं, और स्त्रियाँ पुरुषके मरनेपर फिर ब्याह नहीं कर सकतीं। इस आपत्तिका उल्लेख और कुछ आलोचना पहले हो चुकी है। पुरुष स्त्रीवियोगके बाद फिर ब्याह करते हैं, इसीलिए स्त्रियाँ भी मर्दके मरने पर फिर ब्याह करेंगी, यह एक असंगत प्रतिहिंसा है। स्वाभाविक नियमके अनुसार स्त्री-पुरुषके अधिकारमें विषमता अनिवार्य है। सन्तान पैदा करने और पालनेमें प्रकृतिने ही पुरुषकी अपेक्षा स्त्रीपर अधिक भार रख दिया है। भ्रूणका निवासस्थान माताके गर्भमें है, बच्चेका आहार माताकी छातीमें है। स्त्रीकी गर्भावस्थामें या सन्तानकी शैशवावस्थामें पतिकी मृत्यु होनेपर दूसरे पतिके ग्रहणमें अवश्य ही विलंब करना होगा। उसके बाद ये सब शारीरिक बातें छोड़ देकर मन और आत्माकी बात देखनेमें भी स्त्री और पुरुषके अधिकारकी विषमता अवश्य ही रहेगी। और, यह बात मैं पुरुषका पक्षपाती होकर नहीं, स्त्रीका पक्षपाती होकर ही कहता हूँ। पुरुषकी इच्छासे या अनिच्छासे संसारयात्राके निर्वाहके लिए अनेक अवसरोंपर कठोर और निष्ठुर कर्म करने होते हैं, और इसके कारण उसका शरीर और मन निष्ठुर हो जाता है, जिससे आत्माके पूर्ण विकासमें बाधा पड़ती है। स्त्रीको यह कुछ नहीं करना पड़ता। इसीसे उसका हृदय और मन कोमल रहता है। इसके सिवा स्वभावसे ही (जान पड़ता है, सृष्टिकी रक्षाके लिए) स्त्रीकी मति स्थितिशील और निवृत्तिमार्गमुखी होती है। स्त्रीकी सहनशीलता, स्वार्थत्यागकी शक्ति और परार्थपरता पुरुषकी अपेक्षा बहुत अधिक होती है। अतएव उसके लिए स्वार्थत्यागका नियम अगर पुरुषसे सम्बन्ध रखनेवाले नियमकी अपेक्षा कठिनतर हुआ हो, तो समझना चाहिए कि वह उसका पालन करनेमें समर्थ है, इसीसे ऐसा हुआ है। वह नियमकी विषमता उनके गौरवहीका कारण है, लाघवका नहीं। इसी कारण इस जगह उनकी प्रतिहिंसाको मैंने असंगत बतलाया है। जो लोग स्त्रियोंके इस असंगत प्रतिहिंसाको लिए प्रोत्साहित या उत्तेजित करते हैं उन्हें उनका यथार्थ मित्र या हितचिन्तक कहनेमें सन्देह होता है।

चिर-वैधव्य-प्रथाके विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि वह अतिनिर्दय प्रथा है—वह विधवाओंकी दुःसह वैधव्य-यन्त्रणा पर दृष्टिपात भी नहीं करती। विधवाकी शारीरिक अवस्था पर नजर डाली जाय तो अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि यह आपत्ति अत्यन्त प्रबल है। ऐसे दयाहीन हृदय थोड़े ही निकलेंगे जो विधवाओंके शारीरिक कष्टके लिए व्यथा न पाते हों। किन्तु सोचना चाहिए, मनुष्य केवल देहधारी ही नहीं है। मनुष्यके मन और आत्मा भी है, जो कि शरीरकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान् और अधिक प्रबल है—देहरक्षाके लिए कई एक अभाव (कमी) अवश्य पूरणीय हैं, किन्तु मन और आत्माके ऊपर देहकी प्रभुताकी अपेक्षा देहके ऊपर मनका और आत्माका अधिकार अधिकतर वांछनीय है। देहका कुछ कष्ट स्वीकार करनेसे अगर मन और आत्माकी उन्नति होती हो तो उस कष्टको कष्ट नहीं समझना चाहिए। देहका कष्ट स्वीकार करके बुद्धिके द्वारा प्रवृत्ति शासन करना, और आगे होनेवाले अधिक सुखके लिए वर्तमानके अल्पसुख लोभको दबाना ये ही दो गुण ऐसे हैं जिनके कारण मनुष्यजाति पशुओंसे श्रेष्ठ समझी जाती है, और उसकी उत्तरोत्तर क्रमोन्नति हुई है। पशु भूख लगने पर अपने-परायेका विचार न करके जो सामने पाता है वही खा जाता है। असभ्य मनुष्य भी प्रयोजन होने पर अपने-परायेका विचार न करके निकट जिस प्रयोजनीय वस्तुको पाता है उसीको ले लेता है। किन्तु सभ्य मनुष्य हजार प्रयोजन होने पर भी परस्वके अपहरणसे पराङ्मुख रहता है, अर्थात् पराई चीजको नहीं छूता। विधवा अगर कुछ दैहिक कष्ट स्वीकार करके चिरवैधव्यपालनके द्वारा अधिकतर अपनी आत्माकी उन्नति और पराया हित करनेमें समर्थ हो, तो उसका वह कष्ट कष्ट ही नहीं है, और जो लोग उसे वह कष्ट स्वीकार करनेका उपदेश देते हैं वे उसके मित्र ही हैं, शत्रु नहीं। चिरवैधव्यपालन करनेमें अन्यान्य सत्कर्मोंकी तरह उसके लिए भी शिक्षा और संयमकी आवश्यकता है। विधवाका आहार-व्यवहार संयत ब्रह्मचर्यके लिए उपयुक्त (सात्विक) होना आवश्यक है। मछली-मांस आदि शारीरिक वृत्तियोंको उत्तेजित करनेवाले आहार, और वेषभूषा विलास विभ्रम आदि मानसिक प्रवृत्तियोंको उत्तेजना देनेवाले व्यवहार त्याग किये विना चिरवैधव्यका पालन कठिन है। इसी कारण विधवाके लिए ब्रह्मचर्यकी

व्यवस्था है। यह ठीक है कि ब्रह्मचर्य-पालनमें इन्द्रियतृप्तिकर आहार-विहारादि कुछ दैहिक सुखभोग अवश्य छोड़ने पड़ते हैं, किन्तु उसके बदलेमें उससे शरीर नीरोग सबल सुस्थ होता है, और मानसिक स्फूर्ति और सहनशीलता उत्पन्न होती है, जिसके फलसे विशुद्ध स्थायी सुख प्राप्त होता है। अतएव ब्रह्मचर्य, पहले कठोर जान पड़ने पर भी, वास्तवमें चिरसुखका आकर है। बिना समझे बूझे अदूरदर्शी लोग ब्रह्मचर्यकी निन्दा करते हैं, और बिना जाने ही भारतकी व्यवस्थापक सभाके एक मनस्वी मेंबरने, विधवाविवाह-आईन विधिबद्ध होनेके समय, हिन्दूविधवाके ब्रह्मचर्यपालनको भयंकर बतलाया था। इस सम्बन्धमें और एक कठिन बात है। विधवा कन्या या पुत्रवधूसे ब्रह्मचर्यपालन कराना हो, तो उसके मा-बाप या साससुरको भी वैसे ही ब्रह्मचर्य-पालन करना चाहिए। किन्तु वह उनके लिए पहले असुखकर होने पर भी परिणाममें शुभकर है, और उनकी कन्या या पुत्रवधूके चिरवैधव्यपालनजनित पुण्यका फल कहा जासकता है। ब्रह्मचर्यपालनमें दीक्षित विधवा अपने सुस्थ सबल शरीरके द्वारा तरह तरहके अच्छे काम करनेका दृढ़ व्रत धारण कर सकती है। जैसे—परिजनवर्गकी सुश्रूषा परिवारके बच्चोंका लालन-पालन और रोगियोंकी सेवा-टहल तथा दवा-पानी देना, धर्मचर्चा, स्वयं शिक्षा प्राप्त करना और परिवारकी अन्य स्त्रियोंको यथासंभव शिक्षा देना। इस प्रकार विधवाका परहितमें लगा हुआ जीवन, तीव्र किन्तु दुःखमिश्रित विषय-सुखमें नहीं, प्रशान्त निर्मल आध्यात्मिक सुखमें, बीत जाता है। यह कल्पनाका असंभव चित्र नहीं है। ऐसे शान्तिमय ज्योतिर्मय पवित्र चित्रने इस समय भी भारतके अनेक घरोंको अपनी दिव्य ज्योतिसे उज्ज्वल कर रक्खा है। मेरी अयोग्य जड़ लोहेकी लेखनी उसके यथार्थ सौन्दर्यको अङ्कित करनेमें असमर्थ है। जिस प्रथाका फल खुद विधवाके लिए और उसके आत्मीय-परिजनवर्गके लिए परिणाममें इतना शुभकर है, उस प्रथाको आरंभमें कठोर देखकर निर्दय कहना उचित नहीं है।

चिरवैधव्यप्रथाके प्रतिकूल तीसरी आपत्ति यह है कि इस प्रथाके अनेक कुफल हैं, जैसे—गुप्त व्यभिचार और गर्भपात। यह नहीं कहा जासकता कि इस तरहके कुफल कभी कहीं फलते ही नहीं। किन्तु उनकी संख्या कितनी है? दो-एक जगह ऐसा हुआ है, या होता है, इसी लिए चिरवैधव्य पालनकी-

प्रथा निन्दनीय नहीं ठहराई जासकती। विधवाओंमें ही क्यों, सधवाओंमें ही क्या व्यभिचार नहीं है? किन्तु इस अप्रिय विषयको लेकर इस समय अधिक बातें कहना निष्प्रयोजन है। कारण, अब विधवाका विवाह सरकारीआईनके अनुसार सिद्ध है, और जो विधवा चिरवैधव्यपालनमें असमर्थ है वह इच्छा करे तो विवाह कर सकती है। उसके लिए प्रथापरिवर्तनका प्रयोजन नहीं है। चिरवैधव्यप्रथाके विरुद्ध चौथी और शायद अंतिम आपत्ति यह है कि वह प्रथा जबतक प्रचलित रहेगी, तबतक विधवाएँ इच्छानुसार अपना व्याह करनेका साहस नहीं करेंगी; कारण, प्रचलित प्रथाके विरुद्ध कार्य करनेमें सभीको संकोच होता है, और वैसा कार्य जनसमाजमें निन्दित अथवा अत्यन्त अनादृत होता है। अतएव आन्दोलनके द्वारा लोगोंका मत बदलकर, जिसमें यह चिरवैधव्यपालनकी प्रथा उठ जाय वही करना समाजसंस्कारकोंका कर्तव्य है।

जान पड़ता है इसी लिए विधवाविवाह आईनके द्वारा सिद्ध होने पर भी, और उसमें बाधा डालनेका किसीको अधिकार न रहने पर भी, विधवाविवाहके अनुकूल पक्षवाले लोग चिरवैधव्यप्रथाको उठा देनेके लिए इतना यत्न कर रहे हैं। यद्यपि वे सब, अथवा उनमेंसे अधिकांश लोग स्वीकार करते हैं कि अपनी इच्छासे चिरवैधव्यपालन उच्च आदर्श है, तथापि वे चाहते हैं कि उस उच्च आदर्शका पालन प्रथा न होकर प्रथाके व्यतिक्रम स्वरूपसे रहे, और विधवाविवाह ही प्रचलित प्रथा हो। जब इच्छा करनेहीसे बिना किसी बाधाके विधवाका विवाह होसकता है, फिर वे क्यों स्वीकृत उच्च आदर्शकी अनुयायिनी चिरवैधव्यपालनकी प्रथाको उठा देकर विधवाविवाहकी प्रथाको प्रचलित करना चाहते हैं, यह ठीक समझमें नहीं आता। वे चिरकौमारव्रतकी बहुत बहुत प्रशंसा करते हैं, लेकिन चिरवैधव्यप्रथाको उठा देनेके लिए कमर कसे हुए हैं, यह एक विचित्र बात जान पड़ती है। यदि यह प्रथा प्रयोजन या इच्छाके माफिक विधवाविवाहके लिए बाधाजनक होती, तो इसे उठा देनेकी चेष्टाका यथेष्ट कारण होता। किन्तु समाजबन्धन इतना शिथिल है और समाजकी शक्ति इतनी थोड़ी है कि समाजकी प्रथा किसीकी भी इच्छाकी गतिमें रुकावट नहीं डाल सकती। हाँ, यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि यद्यपि चिरवैधव्यपालनकी प्रथा, विधवा अगर ब्याह करनेकी इच्छा करे तो उसमें बाधा नहीं डाल सकती, किन्तु विधवाके मनमें वह इच्छा पैदा करनेमें

अवश्य रुकावट डालती है। और, इसी कारणसे, यद्यपि विधवाविवाहका आईन पास हुए आधी शताब्दीसे भी अधिक समय बीत गया है, तो भी अबतक साधारणतः हिन्दूविधवाके मनमें विवाहके लिए पहलेकी सी अनिच्छा बनी हुई है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। तो फिर असल बात यह सिद्ध होती है कि हिन्दूविधवाओंकी ब्याहके लिए जो परम्परागत अनिच्छा है उसे दूर करके विधवाविवाहके लिए प्रवृत्ति पैदा करना ही समाजसंस्कारकोंका उद्देश्य है। उससे विधवाओंको कुछ कुछ क्षणभंगुर ऐहिक सुख हो सकता है, किन्तु उसके द्वारा न तो उन्हें कोई स्थायी सुख प्राप्त होगा, और न समाजहीका कोई विशेष कल्याण होगा। पक्षान्तरमें, पहले ही दिखाया जा चुका है कि चिरवैधव्यके पालनमें विधवाओंको निर्मल पवित्र स्थायी सुख मिलता है, और समाजकी भी बहुत कुछ भलाई और उपकार होता है। आत्मसंयम, स्वार्थत्याग, परार्थपरायणता आदि उच्च गुणोंके विकाससे हम अन्यान्य विषयोंमें मनुष्यकी क्रमोन्नतिका लक्षण मानते हैं, किन्तु विधवाओंके विवाहके विषयमें क्यों उसके विपरीत ढंग पकड़ना चाहते हैं, इसका कारण समझना कठिन है। शायद कोई कोई यह समझ सकते हैं कि पाश्चात्य देशोंमें विधवाविवाहकी प्रथा प्रचलित है, और उन्हीं सब देशोंने वैषयिक उन्नति अधिक की है, इसी लिए हमारे देशमें भी वह प्रथा प्रचलित होनेसे हमारी भी वैसी ही उन्नति हो सकेगी। पहले तो यह बात युक्तिसे सिद्ध नहीं है। बाल्यविवाहके साथ देशकी अवनतिका कार्यकारण-सम्बन्ध रहना संभव भी है, किन्तु चिरवैधव्यपालनके साथ देशकी अवनतिका क्या सम्बन्ध है, सो कुछ समझमें नहीं आता। अगर यह बात ठीक होती कि समाजमें स्त्रियोंकी अपेक्षा पुरुषोंकी संख्या अधिक है, और विधवाविवाह प्रचलित न होनेसे पुरुष अविवाहित रह जाते हैं, तथा इसी कारण देशके लोगोंकी संख्या समुचित रूपसे बढ़ने नहीं पाती, तो भी यह बात समझमें आ सकती थी। किन्तु वास्तवमें हमारे यहाँ पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंकी संख्या अधिक है, अतएव विधवाविवाहप्रथा प्रचलित होनेसे उसका फल यह होगा कि अनेक कुमारियाँ वर नहीं पावेंगी। इसी कारण यह स्वीकार किये बिना कि पाश्चात्य देशोंकी सभी रीतियोंका आँख मूँदकर अनुकरण करना चाहिए, विधवाविवाह प्रचलित करनेकी चेष्टाका और कोई कारण नहीं देख पड़ता।

शीतोष्णमय जड़ जगत्में हम उसीको सबलशरीर कहते हैं जो रोगसे पीड़ित न होकर बिना क्लेशके गर्मी-सर्दीको सह सके। वैसे ही इस सुखदुःखमय संसारमें उसीको सबल मनवाला कहा जा सकता है जो समान भावसे सुख-दुःख दोनोंको भोग सकता हो, जिसका मन दुखमें उद्विग्न न हो, और जो सुखमें स्पृहाशून्य रह सके। निरन्तर सुख किसीको नहीं मिलता, सभीको दुःख भोगना पड़ता है। अतएव वही शिक्षा यथार्थ शिक्षा है, जिससे शरीर और मनका ऐसा संगठन हो कि दुःखका बोझ उठानेमें कोई कष्ट न हो। सुखकी अभिलाषा करनी हो तो उसी सुखकी अभिलाषा चाहिए जो कभी घटे नहीं और जिसमें दुःखकी कालिमा न मिली हो। पतिके न रहनेपर दूसरा पति मिलना संभव है, लेकिन पुत्र या कन्याके मर जाने पर उसके अभावकी पूर्ति कैसे होगी? जिस राह पर जानेसे सब तरहके अभावोंकी पूर्ति हो, अर्थात् अभाव अभाव ही न जान पड़े, वही निवृत्तिमुख-मार्ग, प्रेय न होने पर भी, श्रेय है। उसी मार्गमें जो लोग चलते हैं, वे खुद सुखी हैं, और अपने उज्ज्वल दृष्टान्तसे अन्यके दुःखभारको, एकदम भले ही न उतार सकें, कम अवश्य कर देते हैं। हिन्दूविधवाएँ ब्रह्मचर्य और संयमसे अपने शरीर और मनका संशोधन करके उसी निवृत्तिमार्गका अनुसरण करती हैं। उनको उस सुखसे फिराकर विपथमें चलानेकी चेष्टा करना न तो उन्हींके लिए अच्छा है, और न सर्वसाधारण समाजके लिए हितकर है। हिन्दूविध-वाके दुःसह कष्टको स्मरण करके अन्तःकरण अवश्य अत्यन्त व्यथित होता है, किन्तु उसकी अलौकिक कष्टसहिष्णुता और असाधारण स्वार्थत्याग पर दृष्टि डालनेसे हृदय एकसाथ ही विस्मय और भक्तिसे परिपूर्ण हो उठता है। हिन्दूविधवाएँ ही संसारमें पतिप्रेमकी पराकाष्ठा दिखा रही हैं। उनके उज्ज्वल चित्रने ही अनेक दुःख और अन्धकारसे परिपूर्ण हिन्दूके घरको प्रकाशित कर रक्खा है। उनका प्रकाशमान दृष्टान्त ही हिन्दू नरनारियोंकी जीवनयात्राका पथप्रदर्शक हो रहा है। हिन्दूविधवाका निष्काम पवित्र जीवन पृथ्वीका एक दुर्लभ पदार्थ है। ईश्वर करे, वह पृथ्वीपरसे कभी विलुप्त न हो। हिन्दूविध-वाके चिरवैधव्यकी प्रथा हिन्दूसमाजका देवीमन्दिर है। हिन्दूसमाजमें संस्का-रके लिए अनेक स्थान हैं, संस्कारकोंके लिए और बहुतसे काम पड़े हुए हैं। उन्हें उसके अनेक स्थानोंको वर्तमान समय और अवस्थाके लिए उपयोगी

बनाकर संगठित करना पड़ेगा। किन्तु वे विलासभवन बनानेके लिए उल्लिखित देवीमन्दिरको न तोड़ें, यही उनसे मेरा विनीत निवेदन है।

मैंने ऊपर थोड़ी अवस्थाके विवाहके अनुकूल कई बातें कही हैं, और यहाँ पर भी चिरवैधव्यपालन प्रथाके अनुकूल अनेक बातें कही हैं, इससे कोई महाशय मुझे समाजसंस्कारका विरोधी न समझ लें। मैं यथार्थ संस्कारका विरोधी नहीं हूँ। मैं जानता हूँ कि समय समय पर समाजमें परिवर्तन हुआ करते हैं; समाज कभी जड़भावसे स्थिर नहीं रह सकता। मैं विश्वास करता हूँ कि यह जगत् निरन्तर गतिशील है, और वह गति, बीच बीचमें व्यतिक्रम होने पर भी, अन्तको उन्नतिमुखी हुआ करती है। मेरी अत्यन्त इच्छा है कि समाजसंस्कारका लक्ष्य सच्ची उन्नति (अर्थात् आध्यात्मिक उन्नति) की ओर अविचलित रहे। और इसीसे, कोई कुछ भी कहे, मैंने समाज-संस्कारक सज्जनोंसे इतनी बातें कही हैं।

(२) पुत्र-कन्याके सम्बन्धमें कर्तव्यता।

पुत्र-कन्याके प्रति पहला कर्तव्य उन्हें इस तरह पालना-पोसना है कि वे सुस्थ और सबल शरीर बन सकें। इसमें कुछ खर्चकी जरूरत है; परन्तु यदि हम वृथा बड़े आदमियोंका चाल-चलन न पकड़ें तो अधिक खर्च नहीं पड़ सकता।

बच्चेके आहारके लिए माताका दूध अत्यन्त आवश्यक है। उसके बाद अच्छा विशुद्ध गऊका दूध भी चाहिए। धीरे धीरे लड़की-लड़कोंके कुछ बड़े होने पर अन्न (रोटी-दाल-भात-पूरी आदि) दिया जा सकता है। मगर अब वह समय आ लगा है कि अच्छा घी दुर्लभ हो रहा है, इस लिए घीकी पकी चीजें अधिक न खिलाना ही उचित जान पड़ता है।

बच्चेके कपड़ोंको सदा साफ रखना एक बहुत जरूरी बात है। सफेद सूतके कपड़े ही अच्छे होते हैं। उन्हें धोना सहज है, और धोनेसे उनका रङ्ग नहीं बिगड़ता। रेशमी, ऊनी या लाल रंगके कपड़ोंका उतना प्रयोजन नहीं है।

बच्चेकी शय्यामें मल-मूत्र लगनेकी संभावना है, इस कारण वह ऐसी होनी चाहिए कि सदा धोई जा सके और बीच बीचमें एकदम छोड़ दी जा सके। उसमें गद्दी या तोशक न रहनी चाहिए। कारण, उन्हें हरघड़ी धो नहीं

सकते, और उनके भीतर रुईमें मूत्र आदि प्रवेश करने पर वह वैसा ही रह जाता है, साफ नहीं होता। सुना है, नवाब लोग नित्य नई तोशकका इस्तेमाल करते थे। जो लोग वैसे धनाढ्य हैं और बच्चेकी पलँगड़ी पर नित्य नई तोशक डाल सकते हैं, वे ही बच्चेको तोशक पर सुलानेकी इच्छा करें। लेकिन मेरी समझमें वैसी इच्छा करना और इस तरह वृथा धन खर्च करना उन्हें भी उचित नहीं है। धन पास रहने पर भी उसे वृथा नष्ट करना निषिद्ध है। धनके अनेक प्रयोजनीय व्यवहार हैं, उनमें उसे खर्च करना चाहिए। इसके सिवा बच्चेके लिए बिल्कुल ही कोमल शय्या उतनी उपयोगी नहीं होती, कुछ कठिन शय्या ही उपकार करती है। कारण, उसमें सोनेसे बच्चेकी रीढ़ (मेरुदण्ड) सीधी होती है, और शरीर सुगठित होता है।

दास-दासियोंपर भरोसा नहीं रखना चाहिए।

सन्तान-पालन और घरके कामोंकी देख-रेख, इन दोनों कामोंको अन्यकी सहायताके बिना अच्छीतरह संपन्न करना अनेक जगह पिता-माताके लिए असंभव होता है और इसीलिए दास-दासी आदिका प्रयोजन होता है। किन्तु सुनियमके साथ चलनेसे कई दास-दासियोंका प्रयोजन नहीं होता, थोड़ेमें ही काम चलता है। किन्तु बच्चोंके पालनका भार दास-दासीके ऊपर छोड़कर निश्चिन्त होना पिता और माताका कर्तव्य नहीं है। एक तो, दास-दासी जो हैं वे धनके लिए कुछ दिनोंके वास्ते काम करते हैं और पिता-माता जो हैं वे स्नेहवश होकर बच्चेके परिणामको सोच समझकर काम करते हैं। अतएव दास-दासियोंके कर्तव्यपरायण होने पर भी उनका यत्न जनक-जननीके यत्नकी अपेक्षा अवश्य ही कम होगा। दास-दासीको शिशुपालनमें यत्न न करते देखकर जब पिता-माता नाराज होते हैं, तब उन्हें यह याद रखना चाहिए कि वे अगर अपत्यस्नेहके रहने पर भी दूसरोंके ऊपर शिशुपालनका भार छोड़कर खुद उसमें शिथिल-प्रयत्न हो सकते हैं, तो केवल तनख्वाहके लिए जो लोग काम करते हैं उनका यत्न शिथिल होना कुछ विचित्र नहीं। दूसरे, जिस श्रेणीके लोगोंमेंसे दास-दासी पाये जाते हैं उनकी बुद्धिविवेचना प्रायः वैसी अधिक नहीं होती। अतएव शिशुपालनमें पिता-माताकी देख-रेख होनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। तीसरे, माता-पिता स्वयं सर्वदा सन्तानका पालन या सन्तानपालनकी देख-रेख करते हैं, तो सन्तानके हृदयमें भी उनके

प्रति अनुराग बढ़ता रहता है। सच है कि माता-पिताका स्नेह स्वभावसिद्ध हुआ करता है, किन्तु अवस्था-भेदसे उसमें कमी बेशी भी हो जाती है। उच्च प्रकृतिकी बात मैं नहीं कहता, किन्तु सर्वसाधारणके लिए संसारमें सभी विषय लेन देनके नियमके अधीन हैं, और पुत्र-कन्याकी भक्ति तथा पिता-माताका स्नेह भी उस नियमके बाहर नहीं है। लोगोंकी पितृ-मातृ-भक्तिका अभाव देखकर जब कोई क्षोभके साथ कहते हैं कि "इस समयके लड़के कलिकालके लड़के ठहरे, कहाँ तक अच्छे होंगे," तब मैं मन-ही-मन कहता हूँ— "इस समयके माता-पिता क्या कलिकालके माता-पिता नहीं हैं? वे और कितने अधिककी आशा करते हैं?" माता या पिता अगर सन्तानको बचपनमें दास-दासीकी देखरेखमें रखकर निश्चिन्त होते हैं, तो उनकी वह सन्तान अगर उन्हें बुढ़ापेमें नौकरोंके जिम्मे रखकर उनकी सेवासे निश्चिन्त हो जाय, तो इसमें विचित्र क्या है?

रोगमें चिकित्सा और सेवा।

पुत्र-कन्याके पीड़ित होने पर यथोचित चिकित्सा और सेवा आवश्यक है। इस बारेमें अपत्यस्नेह ही यथेष्ट उत्तेजक और पथप्रदर्शक है। अतएव इस जगह पर अधिक कुछ कहनेकी जरूरत नहीं है। हाँ, जिन दो-एक बातोंको लेकर लोगोंको सहज ही भ्रम हो सकता है, केवल उन्हींका उल्लेख करूँगा। बहुत जगह पहले रोग अति सामान्य भाव धारण करता है, लेकिन पीछे गुरुतर हो उठता है। इस कारण रोगको साधारण समझकर कभी उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। पहलेसे ही यथाशक्ति अच्छे चिकित्सकको दिखाना और उसकी व्यवस्थाके अनुसार चलना मुनासिब है (१); किन्तु घबराकर अकारण अधिक ओषधका प्रयोग भी उचित नहीं है। एकतरफ जैसे रोगके आरंभसे ही सतर्कताका प्रयोजन है, दूसरी तरफ वैसे ही रोगके अच्छी तरह आराम न होनेतक सतर्क रहना भी आवश्यक है।

किस रोगमें किस चिकित्सकको दिखावें, यह गृहस्थके लिए अतिकठिन प्रश्न है। चिकित्सामें खर्च होता है, और सभी लोग सर्वश्रेष्ठ चिकित्सकको रोगी दिखा नहीं सकते। जितनी हैसियत और सुविधा होती है, उसीके

(१) इस सम्बन्धमें चरकसंहिताका ग्यारहवाँ अध्याय देखना चाहिए।

अनुसार चिकित्सक भी बुलाया जाता है । इसके सिवा वैद्यकी, हकीमकी डाक्टरकी, एलोपैथी, होमियोपैथी आदि अनेक प्रकारकी चिकित्साएँ हैं। किस प्रकारकी चिकित्सा कराई जाय, यह भी अतिकठिन समस्या है । जो रोग उपस्थित हो, उसके आसपासके दस आदमी कैसी चिकित्सा कराते हैं और उस चिकित्साका फल कैसा होता है, यह सब देख सुनकर कार्य करना ही अच्छी युक्ति है । कारण, जिस तरहकी चिकित्सासे एक आदमीको लाभ हुआ है, उससे निकटस्थ और एक आदमीके वैसे ही रोगका शान्त होना बहुत कुछ संभव है ।

गृहस्थके लिए यह भी एक अतिगुरुतर प्रश्न है कि पीड़ा बढ़ने पर, और जो चिकित्सा चल रही है उससे कोई फल न होने पर, चिकित्सकको या चिकित्सा-प्रणालीको बदल देना कर्तव्य है कि नहीं । चिकित्सक लोग अक्सर परिवर्तनके विरोधी ही होते हैं । किन्तु गृहस्थ उतना स्थिर होकर रह नहीं सकते । विज्ञ चिकित्सक महाशयोंको गृहस्थकी वह अस्थिरता क्षमा करनी चाहिए। चिकित्सकके बदलनेमें बहुतसी असुविधाएँ हैं । जो पहलेहीसे देख रहा है वह जितना रोगकी गतिको जान चुका है, बादको जो देखेगा, उसका उतना रोगकी गतिको जानना कभी संभव नहीं । अथच दो चिकित्सकोंको दिखाना भी सबके लिए साध्य नहीं होता। जिसके क्षमता है, उसका कर्तव्य है कि दूसरे चिकित्सकको अगर बुलावे तो पहलेसे जो चिकित्सक देख रहा है उसे भी साथ रक्खे । चिकित्साके सम्बन्धमें और एक बात है । जहाँ दो तीन चिकित्सक एक साथ दवा करते हैं, वहाँ वे आपसमें सलाह करते समय जो कुछ बातचीत करते हैं वह रोगीके अभिभावकोंको नहीं जानने देते । रोगी उन सब बातोंको सुनकर अधिक चिन्तित हो सकता है और उसकी वह दुश्चिन्ता रोगकी शान्तिमें बाधा भी डाल सकती है । किन्तु अभिभावकके बारेमें यह आशंका नहीं है । इस लिए चिकित्सक महाशयोंका कर्तव्य है कि वे सब बातें स्पष्टरूपसे अभिभावकोंको बता दें । अगर उनमें मतभेद हो, तो वह बात भी रोगीके अभिभावकको बता देना उचित है । ऐसा होनेसे अभिभावक भी अपने कर्तव्यको उपयुक्त रूपसे ठीक कर सकेंगे । वकील बैरिस्टर लोगोंसे जो कोई मवक्किल सलाह लेने जाता है उससे वे लोग अपना मतामत नहीं छिपा रखते । फिर समझमें नहीं आता कि चिकि-

त्सक लोग क्यों रोगीके अभिभावकोंसे भी अपनी सलाह छिपा रखते हैं। ऐसा न करना ही अच्छा है।

सन्तानकी शिक्षा।

पाँच वर्षकी अवस्था तक सन्तानका लालन-पालन ही करना उचित है। उसके बाद उनकी शिक्षा शुरू कर देनी चाहिए। चाणक्य लिखते हैं—

लालयेत् पंचवर्षाणि दशवर्षाणि ताड़येत्।
प्राप्ते तु षोड़शे वर्षे पुत्रे मित्रवदाचरेत्॥

अर्थात् पाँच वर्ष तक लालन-पालन और दस वर्षतक ताड़ना उचित है। इसके बाद जब पुत्रकी अवस्था पूरी सोलह वर्षकी हो जाय तब उसके साथ मित्रका ऐसा व्यवहार करना चाहिए।

मोटे तौर पर यह नीति युक्तिसिद्ध भी है। पाँच वर्षकी अवस्था तक प्रधान रूपसे इसी पर दृष्टि रखनी चाहिये कि बच्चेका शरीर सुगठित और सबल हो। परन्तु मेरी समझमें यह सलाह ठीक नहीं है कि उस अवस्थामें बच्चेको बिल्कुल ही शिक्षा न दो, या जरा भी शासन न करो। हाँ, उस समय ऐसी कोई शिक्षा मत दो जिसमें बालकको क्लेश या श्रम जान पड़े। छः से लेकर पंद्रह वर्षकी अवस्थातक बालकको शासन (दबाव) में रक्खो, अर्थात् उसकी विद्याशिक्षा और चरित्रगठन पर ही विशेष दृष्टि रक्खो। हाँ, यह कहना भी संगत नहीं कि उस समय उसका लालन-पालन करो ही नहीं। और, यह बात भी ठीक नहीं है कि सोलह वर्षकी अवस्था होते ही फिर पुत्रको शिक्षा मत दो। हाँ, उस समयसे फिर शासनके ढंगसे शिक्षा मत दो, मित्रकी तरह उपदेशके द्वारा शिक्षा दो। केवल पुत्रहीको शिक्षा देना कर्तव्य नहीं है, कन्याको भी शिक्षा देनी चाहिए। मगर हाँ, शिक्षा जब जीवनयात्राकी पूँजी मानी गई है तब जिसे जिस ढंगसे अपना जीवन बिताना होगा उसे उसीके उपयोगी शिक्षा मिलनी चाहिए, यह बात याद रखकर पुत्र और कन्याकी शिक्षाका प्रबंध करना कर्तव्य है।

शिक्षा तीन तरहकी होती है—
शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक।

पुत्र-कन्याकी शिक्षाके सम्बन्धमें स्मरण रखना चाहिए कि शिक्षाका अर्थ केवल विद्या-शिक्षा ही नहीं है। ऊपर कहा गया है कि शिक्षा जीवनयात्राकी

पूँजी है। जीवनयात्राको बहुत अच्छी तरह निबाहनेके लिए जो आयोजन (तैयारियाँ) आवश्यक हैं उन सबका एकमात्र उपाय शिक्षा ही है। शरीर, मन और आत्मा, ये तीनों पहले अपूर्ण रहते हैं, और इन तीनोंको पूर्ण बनाना आवश्यक है। इस लिए शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक, तीनों तरहकी शिक्षा देनी चाहिए। इनकी आवश्यकताके तारतम्य (न्यूनाधिकता) के अनुसार इनमेंसे हरएक तरहकी शिक्षाके लिए यत्न करना पिता-माताका कर्तव्य है।

शरीरकी रक्षा सबसे पहले आवश्यक है। अतएव शरीररक्षाके लिए जो शिक्षा आवश्यक है उसके लिए सबसे पहले यत्न करना चाहिए। इसके सिवा कसरत आदिका उतना प्रयोजन नहीं है। मन जो है वह शरीरकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, और मानसिक शिक्षा सभीके लिए आवश्यक है। इस लिए शरीर-रक्षाके लिए उपयोगी शिक्षा देनेके बाद ही मानसिक शिक्षाके लिए यत्न करना उचित है। आत्मा सर्वोपरि है, और आत्माकी उन्नति अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए शरीररक्षाके वास्ते उपयोगी शिक्षाके साथसाथ कुछ आध्यात्मिक शिक्षा भी सभीके लिए प्रयोजनीय है।

पुत्रकन्याके शरीर-पालनका भार भृत्यके ऊपर देकर निश्चिन्त होना जैसे पिता-माताके लिए अकर्तव्य है, वैसे ही सन्तानके मन और चरित्रके गठनका भार शिक्षकके ऊपर छोड़ कर निश्चिन्त होना भी उनका कर्तव्य नहीं है। यह सच है कि शिक्षक जो है वह भृत्यकी अपेक्षा बहुत उच्च श्रेणीका आदमी है, और बहुत जगह शिक्षा-कार्यमें पिता-माताकी अपेक्षा अधिकतर योग्य होता है। किन्तु तो भी, उससे पिता-माताकी जिम्मेदारी कम नहीं होती। विद्याशिक्षाके सम्बन्धमें, अगर पिता-माता पढ़े-लिखे नहीं हैं, तो शिक्षकके ऊपर भरोसा करना ही पड़ेगा—ऐसी अवस्थामें उसका होना अनिवार्य है। मगर वैसी अवस्थामें भी, सन्तानकी कैसी उन्नति हो रही है—वह कैसा पढ़ता-लिखता है, इसकी यथाशक्ति खबर रखना पिता-माताका कर्तव्य है। किन्तु मन और चरित्रके गठनके सम्बन्धमें जुदी बात है। पुत्र-कन्याका भला या बुरा किस बातसे होता है, यह हिताहितका ज्ञान, शिक्षककी अपेक्षा मा-बापको कम नहीं होता, और उनके शास्त्रलब्ध ज्ञानका अभाव रहने पर भी उनकी स्नेह-प्रेरित व्यग्र शुभचिन्तकता उस अभावकी पूर्ति कर देती है

कोई कोई कहते हैं, कि घरमें पिता-माताकी देख-रेखमें रहनेकी अपेक्षा विद्यालयके छात्रनिवासमें, शिक्षककी देखरेखमें, रहना चरित्रगठनके लिए अधिक उपकारक है। किंतु छात्रकी बहुत थोड़ी अवस्थामें वैसा होना किसी तरह संभव नहीं है। और, किसी अवस्थामें भी उसके संभवपर होनेमें सन्देहके लिए बड़ी गुंजाइश है। बहुत लोग कहते हैं, प्राचीन भारतमें छात्रोंके गुरुगृहनिवासका बहुत अच्छा फल होनेके बारेमें कोई कुछ सन्देह नहीं करता, तो फिर वर्तमान समयमें शिक्षकोंके तत्त्वावधानमें बोर्डिंगहाउसमें रहनेका वैसा ही अच्छा फल क्यों नहीं होगा? किन्तु प्राचीन भारतमें जो गुरुगृहनिवासकी प्रथा थी उसमें और वर्तमानकालकी विद्यालयके अन्तर्गत छात्रालयमें रहनेकी प्रणालीमें बहुत बड़ा अन्तर यह है कि उस समय छात्र गुरुभक्तिके बदलेमें गुरुका स्नेह और उनके घरमें रहनेकी अनुमति प्राप्त करते थे, और इस समय छात्र धनके बदलेमें छात्रनिवासमें रहने पाते हैं। भक्ति और स्नेहके परस्पर विनिमयके फलके साथ धन और आहार-निवास आदिके विनिमयका फल किसी तरह तुलनीय नहीं है। अपने घरमें रहनेसे जैसा चित्तवृत्तिका स्वाधीनभावसे विकास और संसारयात्रानिर्वाहके लिए उपयोगी शिक्षाका लाभ होता है, वह छात्रालयमें रहनेसे कभी नहीं हो सकता। अतएव अत्यन्त प्रयोजन या लाचारी हुए बिना, केवल अपने नित्यकी देखरेखके परिश्रमको बचानेके लिए पुत्र-कन्याको छात्रनिवासमें रखना पिता-माताका कर्तव्य नहीं है।

शारीरिक शिक्षा।

ऊपर कहा गया है कि शरीररक्षाके लिए उपयोगी शिक्षा सबसे पहले आवश्यक है। उस शिक्षाके भीतर कुछ व्यायाम (कसरत) भी आ जाता है, किन्तु केवल व्यायाम ही वह शिक्षा नहीं है। कुछ एक शारीरिक नियमोंका स्थूलतत्त्व, और उसके लंघनके कुफल, बता देना ही उस शिक्षाका प्रधान अंग है। ये सब बातें पुत्र-कन्याके मनमें अच्छीतरह बिठा देनी चाहिए कि आहार केवल रसनाकी तृप्तिके लिए नहीं किया जाता, वह देहकी रक्षा और पुष्टिके लिए आवश्यक है, अतएव भोजनके पदार्थ केवल मुखरोचक होनेसे ही काम नहीं चलेगा, वे निर्दोष और पुष्टिकर होने चाहिए, और निद्रा तथा विश्राम केवल आरामके लिए नहीं, स्वास्थ्यके लिए आवश्यक है, और इसी लिए वह यथासमय और उचित मात्रामें ही होना चाहिए। ऊपर

लिखी बातोंका ठीक ठीक पालन कर सकनेसे अतिभोजन, आलस्य और उनसे होनेवाले तरह तरहके रोगों और कष्टोंसे सन्तान बची रहेगी ।

शारीरिक शिक्षाके सम्बन्धमें और एक कठिन बात है । जवानीके प्रारंभमें जो इन्द्रिय अति प्रबलभाव धारण करती है, उसकी तृप्तिके लिए अनेक जगह युवक लोग अवैध उपायोंको काममें लाते हैं, और उसका फल अतीव अनिष्टकर होता है । उस अनिष्टको रोकनेके लिए पितामाताका क्या कर्तव्य है ? इस बारेमें स्पष्ट उपदेश देनेमें केवल लज्जा और शिष्टाचारकी ही बाधा नहीं है, सत्‌युक्ति भी उसका विरोध करती है । कारण, उस बारेमें उपदेश देनेसे जिन सब बातोंका उल्लेख करना होता है वे भी कुछ कुछ चित्तको विचलित और इन्द्रियतृप्तिकी प्रवृत्तिको उत्तेजित कर सकती हैं । इस गुरुतर अनिष्टको रोकनेके दो ही उपाय जान पड़ते हैं ।

एक तो युवकोंको पढ़नेके लिए साधारण देहतत्त्वविषयक सरल और संक्षिप्त ग्रंथ देना है । इस तरहके ग्रन्थ अगर युवकोंके विद्यालयकी पाठ्य-पुस्तकोंमें रक्खे जासकें तो और भी अच्छा हो । एक ही इन्द्रियके सम्बन्धमें खास उपदेश सुननेसे, अथवा कोई खास ग्रंथ या ग्रंथका अंश पढ़-नेसे, उस इन्द्रियकी ओर मनके आकृष्ट होनेकी जैसी अशंका रहती है, वैसी आशंका साधारण देहतत्त्वविषयक ग्रंथ पढ़नेसे, अथवा विद्यालयका पाठ्यविषय समझकर उस ग्रंथको पढ़नेसे, नहीं रहती । और, वैसे ग्रंथमें अगर इन्द्रि-यकी अवैधतृप्तिका कुफल साधारण भावसे वर्णन किया गया हो, तो उसे पढ़ना लज्जाकर या अन्य किसीतरह बाधाजनक नहीं जान पड़ता ।

दूसरे, युवकोंको एक ओर कसरतमें, दूसरी ओर पढ़ने-लिखनेमें और अन्यान्य ऐसे ही कामोंमें इस तरह लगा रखना चाहिए कि वे लोग अवैध इन्द्रियतृप्तिके विषयको सोचनेके लिए समय ही न पावें । साथ ही उन्हें इन्द्रियतृप्तिकी प्रवृत्तिको उत्तेजना देनेवाला कोई नाटक-उपन्यास आदि ग्रंथ पढ़ने देना, अथवा वैसा ही नृत्य अभिनय आदि देखनेके लिए जाने देना भी उचित नहीं है । युवकोंके लिए विलासिताका वर्जन और कुछ कठोर होने पर भी ब्रह्मचर्यव्रतधारण सर्वथा विधेय और श्रेयस्कर है ।

मानसिकशिक्षाके बारेमें, इस पुस्तकके प्रथम भागमें, ‘ ज्ञानलाभके उपाय ’ शीर्षक अध्यायमें, जो कुछ कहा जा चुका है, उससे अधिक और कुछ यहाँपर कहनेका प्रयोजन नहीं है ।

आध्यात्मिक शिक्षा—नीतिशिक्षा।

आध्यात्मिकशिक्षाके दो भाग हैं—नीतिशिक्षा और धर्मशिक्षा । नीति-शिक्षाका प्रयोजन होनेके बारेमें कोई मतामत नहीं है—उससे सभी सह-मत हैं । हाँ इस बारेमें मतभेद है कि वह शिक्षा किस प्रणालीसे देनी चाहिए । उन सब मतामतोंकी आलोचना करना यहाँका और इस समयका उद्देश्य नहीं है । पुत्र-कन्याकी नीतिशिक्षाके लिए जैसा काम करना पिता-माताका कर्तव्य जान पड़ता है, उसके सम्बन्धकी दो चार मोटी मोटी बातें संक्षेपमें इस जगहपर लिखी जाती हैं ।

पुत्र-कन्याकी नीतिशिक्षाके लिए पिता-माताका प्रथम कर्तव्य यह है कि वे इस तरहसे अपना जीवन बितावें कि उनका दृष्टान्त ही सन्तानको नीतिकी शिक्षा दे । ऐसा हुए विना, उनके या अन्य किसी शिक्षकके मौखिक उपदेशसे-कुछ विशेष काम नहीं होता । अनेक स्थलोंमें, अनेक कारणोंसे, अन्तको पुत्र-कन्या अपने पिता-माताकी अपेक्षा भले होते हैं, या बुरे होते हैं । किन्तु प्रायः यह देखा जाता है कि वे पहले पिता-माताकी रीति-नीतिके अनुसार ही चलना सीखते हैं । और, वह रीतिनीति अगर उच्च आदर्शकी हुई, तो उनकी सुनीति-शिक्षा सुगम होती है । एक साधारण उदाहरण दूँगा । किसी समय एक घरमें एक लकड़ीका गट्ठा लानेवाला मजूर आया और वह जब लकड़ीका गट्ठा रख चुका तब आँगनमें फल भारसे झुके हुए नींबूके पेड़को देखकर उसने घरकी मालकिनसे कहा—" मालकिन, इस पेड़में खूब फल लगे हैं । मैं एक ले लूँ ?" घरकी मालकिन बड़ी ही धर्मपरायणा थीं, उनका हृदय भी कोमल था । किन्तु किसी कारणसे उस समय उनका मन खराब हो रहा था । इसीसे उन्होंने कुछ कड़े स्वरमें कहा—" खूब ! फकीर आता है वह भी नींबू माँगता है, और मुटिया-मजूर आता है वह भी नींबू मागता है ! अच्छा नाकमें दम कर रक्खा है ! " यह उत्तर सुन कर लकड़ियोंके पैसे लेकर वह मजूर और कुछ कहे विना दुःखित भावसे चला गया । कुछ देर बाद घरकी माल-किनका वह भाव जाता रहा । तब उन्होंने पछताकर बहुत ही दुःखित हो कर कहा—" क्यों मेरी ऐसी कुबुद्धि हुई ? क्यों मैंने बेकार उस गरीबको झिड़क दिया ? वह अगर एक नींबू ले ही लेता तो क्या हानि हो जाती ? " उसके बाद दो-तीन दिन तक लगातार वे यही कहती रहीं ।

उन्होंने अपने बालक पुत्रसे कई बार पूछा कि जब तू स्कूल जाता है तब राहमें क्या वह मजदूर मिलता है ? अगर वह मिले तो उससे कहना, आकर नींबू ले जाय।" एक साधारण आदमीको एक कड़ी बात कहनेसे माताकी ऐसी आन्तरिक व्यथा और व्यग्रता देखकर उस बालकके मनमें अवश्य ही यह ध्रुव-धारणा हुई होगी कि किसीसे भी कटु या कठोर बात न कहनी चाहिए। वैसी धारणा कभी जानेकी नहीं, और केवल उपदेशके द्वारा जो नीतिकी शिक्षा दी जाती है उसके द्वारा ऐसी धारणा उत्पन्न भी नहीं हो सकती। इसीके साथ यह भी याद रखना चाहिए कि जैसे अन्यके प्रति अच्छा व्यवहार करना पिता-माताका कर्तव्य है, वैसे ही पुत्रकन्याके साथ भी अच्छा व्यवहार करना उनका कर्तव्य है। लड़की-लड़कोंको मिथ्या भय या मिथ्या-लोभ दिखाकर किसी कार्यमें प्रवृत्त करना कभी उचित नहीं है। ऐसा करनेसे मिथ्याव्यवहारके ऊपर समुचित अश्रद्धा उनके हृदयमें नहीं उत्पन्न होती। पुत्र-कन्याको कोई चीज देनेके लिए कहे तो ठीक समय पर उन्हें वह चीज दे देनी चाहिए। नहीं तो पिता-माताकी बात पर उनका दृढ़ विश्वास नहीं रहेगा।

दूसरे, पुत्र-कन्याका कोई दोष देखकर तत्काल उसका संशोधन करना भी पिता-माताका कर्तव्य है। ऐसा न करनेसे उन्हें दोषकी बात करनेका अभ्यास हो जाता है, और पीछे उसका संशोधन कठिन हो जाता है। जैसे रोगके प्रथम उपक्रममें ही उसकी चिकित्सा करना आवश्यक होता है, वैसा न करनेसे बादको रोग असाध्य हो उठता है, वैसे ही दोषका भी संशोधन पहलेहीसे न किया गया, तो बादको उसका संशोधन दुःसाध्य हो जाता है। मगर तीव्र तिरस्कारके साथ दोषके संशोधनकी चेष्टा करना उचित नहीं है। ऐसा किया जायगा तो दोषी अपने दोषको छिपानेकी चेष्टा करेगा, और दोषके संशोधनको सुखकर नहीं समझेगा। स्नेहके साथ मधुर उपदेशके वचनों द्वारा दोषका संशोधन करना कर्तव्य है, और यह समझा देना आवश्यक है कि इस दोषका फल ऐसा अशुभ है। ऐसा करनेसे पुत्र या कन्याके मनमें यह विश्वास जम जायगा कि इस दोषके कामको न करना केवल पिता-माताकी आज्ञा माननेके लिए आवश्यक नहीं है, बल्कि अपने हितके लिए भी आवश्यक है। और, यह विश्वास ही अन्याय कार्यसे निवृत्तिको बद्धमूल करनेका प्रधान उपाय है।

इसीके साथ यह भी याद रखना होगा कि दोष होते ही उसके संशोधन द्वारा क्रमशः पुत्र-कन्याको बुरा काम न करने और भला काम करनेका अभ्यास एकबार करा दे सकनेसे बादको वे उसी अभ्यासके फलसे आपसे ही अनायास बुरे कार्यसे निवृत्त और भले काममें प्रवृत्त होंगे, उसमें फिर उन्हें अधिक कष्ट नहीं होगा।

तीसरे, कई एक प्रधान प्रधान नैतिक विषयोंका यथार्थ बोध पुत्र-कन्याको करा देना पिता-माताका अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य है। बहुत जगह लोग जान बूझकर बुरा काम नहीं करते, बल्कि इस धारणासे कि मैं अच्छा काम कर रहा हूँ, बुरा काम कर बैठते हैं। यह केवल मूल नैतिक विषयका यथार्थ बोध न रहनेका फल है। जिनमें उक्त प्रकारकी भ्रान्त धारणा होना संभव है, वैसे विषयोंमेंसे कुछ एकका वर्णन आगे किया जाता है।

१—देहकी अपेक्षा मन और आत्मा बड़ा है, यह बात बालक बालिकाओंको अच्छीतरह समझा देना आवश्यक है। इस बातको समझ लेने पर उसके साथहीसाथ यह भी हृदयंगम हो जायगा कि देहके सुखदुःखकी अपेक्षा मन या आत्माके सुख-दुःखपर अधिक दृष्टि रखनी चाहिए। उत्तम आहार और उत्तम पोशाकसे देहको सुख अवश्य होता है, लेकिन उसके लिए अधिक यत्न करनेसे, विद्या-शिक्षा आदि जो मनके लिए सुखकर या हितकर कार्य हैं उनमें बाधा पड़ती है। अतएव वैसा करना अकर्तव्य है। इसके सम्बन्धमें और एक बात है। बहुत लोग कहते हैं, अगर कोई देहके ऊपर प्रहार करनेके लिए उद्यत हो तो मनुष्यदेहकी मर्यादा-रक्षाके लिए उस दैहिक अपमान करनेवालेपर प्रहार करना कर्तव्य है। किन्तु वे भूल जाते हैं कि बिल्कुल ही आत्मरक्षाके लिये लाचार होनेके सिवा, केवल मानरक्षाके लिए, प्रहार करनेके लिए उद्यत आदमी पर भी प्रहार करना उचित नहीं है। कारण, अगर वह खुद विवेकशक्तिसंपन्न है तो वह प्रतिपक्षी पर प्रहार करके खुद अपने मन और आत्माका अपमान करता है। इस तरह मानरक्षाके लिए मार-पीट करनेसे मनुष्यके विवेकका गौरव नष्ट हो जाता है। सच है कि साहित्यमें अनेक स्थानोंपर प्रतियोगीके ऊपर पाशव बलके प्रयोगकी प्रशंसा हुई है। किन्तु वे सब प्रायः मनुष्यजातिकी प्रथम अवस्था अर्थात् बाल्यावस्थाकी ही बातें हैं। लड़कपनमें मनुष्य-

जातिने जो काम किया है वह उसकी प्रौढ़ अवस्थामें नहीं सोहता। अब भी वही बचपन करना संगत नहीं होगा। फिर काव्यमें भी, उच्च आदर्शचरित्रमें भिन्न भाव देखा जाता है। जैसे—रामचरित्रमें एकतरफ जैसे अतुलनीय बल-विक्रम है, वैसे ही दूसरी तरफ प्रतिद्वन्द्वीके साथ भी असाधारण सौजन्य, कारुण्य और बलप्रयोगमें अनिच्छा है (१)। इसके सिवा वर्तमानकालमें, युद्ध आदिमें भी दैहिकबलकी कार्यकारिता बहुत कम है, बुद्धिबलसे ही सब काम होता है। पण्डितोंका कहना है कि क्रमविकासके नियमानुसार पशुदेह तीक्ष्ण नख-दन्त आदिका लोप होकर क्रमशः मनुष्यशरीरके आकारमें परिणत हुई है। अगर जीवदेहकी ऐसी क्रमोन्नति हो सकती है, तो क्या मानवप्रकृतिकी इतनी भी क्रमोन्नतिकी आशा नहीं की जासकती कि उसकी जिघांसा (मार डालनेकी प्रवृत्ति) और पाशव बलके प्रयोगकी इच्छा क्रमशः घटती जायगी? देहका सबल होना सर्वथा वांछनीय है। किन्तु विपत्तिमें पड़े हुएकी रक्षामें और अन्यान्य हितकर कामोंमें ही देहके बलका प्रयोग होना चाहिए। बलका घमंड करके औरके साथ झगड़ा खड़ा करके उसे परास्त करनेके लिए दैहिक बल नहीं होता, कमसे कम उसके लिए होना न चाहिए।

इस सम्बन्धमें और एक बात है। आक्रमणकारी पर उसके बदलेमें आक्रमण न कर सकनेको बहुत लोग कायरपन और दुर्बलताका लक्षण समझते हैं। किन्तु जो मनुष्य उसे अन्याय समझकर वैसा कार्य नहीं करता, उसे भीरु कहना अनुचित है। जो मनुष्य प्रतिहिंसाप्रवृत्तिके प्रबल प्रलोभनको सँभालकर उससे निवृत्त रह सकता है उसमें, शारीरिक बल चाहे जैसा हो, मानसिक बल असाधारण है, इसमें कोई सन्देह नहीं रह सकता।

२—स्वार्थकी अपेक्षा परार्थ बड़ा है। यह बात पुत्रकन्याके मनमें अच्छीतरह बिठा देनेके लिए विशेप यत्न करना भी पिता-माताका कर्तव्य है। ऐसी आशंका करनेका प्रयोजन नहीं है कि स्वार्थके बारेमें यत्न न करनेसे पुत्र-कन्या अपना हित नहीं कर सकेंगे। स्वार्थपरता जो है वह मनुष्यकी ऐसी स्वभावसिद्ध प्रबल प्रवृत्ति है कि उसके लुप्त होनेकी संभा-

---

(१) संस्कृत भाषा जाननेवाले पाठक इस सम्बन्धमें भवभूतिरचित वीर-चरित नाटक पढ़कर देखें।

वना नहीं है। उसकी अत्यन्त अधिकताको रोकनेके लिए ही उक्त प्रकारकी शिक्षा आवश्यक है। क्योंकि, क्या व्यक्तिविशेषके, क्या संपूर्ण समाजके, क्या संपूर्ण जातिके सभीतरहके अनिष्टोंकी जड़ असंयत स्वार्थपरता ही है। उस स्वार्थपरताका संयम जिसमें लोग थोड़ी अवस्थासे ही सीखें, इसका उपाय अत्यन्त वांछनीय है। यह बात सभी लोगोंको अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि मैं जो चाहूँगा वही पाऊँगा, मेरी ही इच्छा सर्वोपरि प्रबल होगी, इस तरहकी आशा करना अत्यन्त अन्याय है, और ऐसी आशाका सफल होना बिलकुल ही असंभव है। जब कि इस पृथ्वीपर मैं ही अकेला नहीं हूँ, मेरी तरहके और भी अनेक लोग हैं, तब जो कुछ मैं चाहता हूँ वही और लोग भी चाह सकते हैं, और मैं जो इच्छा करता हूँ उसके विपरीत भी और लोग इच्छा कर सकते हैं, और उस परस्परकी आकांक्षा और इच्छाके विरोधका सामञ्जस्य हुए विना संसार नहीं चल सकता। इस तरहके विरोधकी जहाँ संभावना हो, वहाँ हरएक प्रतिद्वन्द्वी ही अगर स्थिर और संयतभावसे यह देखनेका कष्ट उठावे कि उसका न्यायसंगत अधिकार कहाँ तक है, तो फिर विरोध नहीं उपस्थित हो सकता। और, अगर कोई पक्ष अपने स्वार्थका कुछ अंश अन्य पक्षके अनुकूल छोड़ दे, तो उससे उसकी जो कुछ थोड़ी क्षति होगी, उसकी निर्विरोध भावसे—और इसी लिए शीघ्र ही—कार्य सिद्ध होनेके कारण बहुतसी पूर्ति हो जायगी। ऐसा होनेसे जो मनको शान्ति और सुख मिलेगा उसका भी मूल्य कम नहीं होगा। जो लोग इस तरह कार्य करते हैं, वे सुखी तो होते ही हैं, बल्कि उन्हें आर्थिक लाभ भी कम नहीं होता। और, जो लोग अनुचित स्वार्थके वशीभूत होकर विरोध करते हैं, उन्हें विवाद करनेमें उत्पन्न होनेवाले विकृत उत्साहके सिवा और सुख तो होता ही नहीं, बल्कि लाभका हिसाब करके देखा जाय तो मालूम होगा कि वह भी सर्वत्र अधिक नहीं होता।

३—अपना दोष आप देखना और उसे सहज ही स्वीकार कर लेना उचित है। हमारे दोषको कोई दूसरा दिखा देगा—इसकी अपेक्षा न करके, अपने दोषको खुद देखना और अपने दोषको सहज ही स्वीकार कर लेना उचित है। यह शिक्षा अत्यन्त प्रयोजनीय है, और पुत्र-कन्याको यह शिक्षा देना पिता-माताका कर्तव्य है। हम सबमें कोई भी एकदम दोषशून्य नहीं

है। लेकिन वृथाका आत्माभिमान अपने दोषको नहीं देखने देता, बल्कि वह पराया दोष देखकर एक तरहके निकृष्ट सुखका अनुभव करता है। अपने दोषको आप देख सकनेका अभ्यास करनेसे, शीघ्र उस दोषका संशोधन होता है, और उस अपने दोषके लिए औरके आगे अप्रतिभ या लज्जित नहीं होना पड़ता। उक्त अभ्यासका और भी एक फल है। जिसकी विकृत मानस-दृष्टि खुद दोषका काम करनेके बाद, वह दोष देखने नहीं देती, और जिसकी सत्यके ऊपर अनास्था, अपना दोष देख पानेपर भी, उसे सहजमें स्वीकार नहीं करने देती, उसकी वह दोष देख पानेकी अक्षमता, और दोषको अस्वीकार कर सकनेका साहस दोषको छोड़नेके बारेमें बाधाजनक हो उठता है। किन्तु जो मनुष्य अपनी मानस-दृष्टिको अपने दोष देखनेका अभ्यास कराता है, और जिसकी सत्यनिष्ठा दोष होनेपर उसे अस्वीकार नहीं करने देती, उसकी वह दोष देख पानेकी तीक्ष्ण दृष्टि, और यह भय कि दोष होनेपर सत्यके अनुरोधसे उसे अवश्य स्वीकार करना होगा, उसे दोष छोड़नेके लिए सर्वदा सतर्क रखता है। कहनेका मतलब यह है कि जो मनुष्य जितने सहजमें अपना दोष देख पाता है और उसे स्वीकार कर लेता है, वह उतने ही सहजमें उस दोषको छोड़कर काम कर सकता है।

४—अपने दोष पर कड़ी दृष्टि रखनेसे जैसे सुफल होता है, वैसे ही दूसरेके दोषपर कोमल दृष्टि रखनेसे भी सुफल होता है। पराये दोषको क्षमा करनेका अभ्यास करनेसे परार्थपरता बढ़ती है, और अपना चित्त उत्कर्षको प्राप्त करता है।

५—औरके अन्याय-व्यवहार या अहितचेष्टासे वृथा चिढ़ उठना या क्रोध करना ठीक नहीं है, बल्कि उसके कारणका पता लगाना और यथासाध्य उसे दूर करनेकी चेष्टा करना ही उचित है। पुत्र-कन्याको इस बातकी शिक्षा देना सब तरहसे पिता-माताका कर्तव्य है। यह शिक्षा पानेसे वे सदा सुखी रहेंगे। सभीको थोड़ा बहुत अन्यका अन्याय और अहितकर आचरण सहना पड़ता है। उसके लिए वृथा चिढ़नेसे या क्रोध करनेसे कोई लाभ नहीं, बल्कि मन खराब होता है, और प्रतिहिंसाकी प्रवृत्ति उत्तेजित होकर तरह तरहकी बुराइयाँ पैदा कर सकती है। किन्तु जो हम स्थिर-धीर-भावसे वैसे आचरणके कारणका पता लगा सकें, तो देख पावेंगे कि जबतक वह कारण मौजूद

रहेगा, तबतक उसका कार्य भी अवश्य ही होगा, और उसका कारण दूर कर सकनेसे ही उसका कार्य भी बंद हो जायगा। और, जहाँ वह कारण दूर करना असाध्य हो, वहाँ उसके कार्यको अनिवार्य समझकर उसे सहना ही सच्चे आर्यका कर्तव्य है। इस ज्ञानके द्वारा, जहाँ साध्य है वहाँ अनिष्टका निवारण हो सकता है, और जहाँ अनिष्टनिवारण असाध्य है वहाँ भी, वृथा चेष्टाको एक प्रकारसे छोड़कर मनकी शान्ति पाई जा सकती है।

ऊपर जो कहा गया है वह दूसरी तरहसे संक्षेपमें यों कहा जा सकता है कि पुत्रकन्याको जगत्‌के सब लोगोंसे मित्रता स्थापित करनेका उपदेश देना पिता-माताका कर्तव्य है।

६–जीवनका उच्च उद्देश्य वैषयिक अर्थात् ऐहिक उन्नति नहीं, आध्यात्मिक उन्नति है। और, जीवनका चरम लक्ष्य यह नहीं है कि सकाम कर्मके द्वारा उस धनको जमा करना, जो केवल कुछ समयतक भोगा जा सकेगा। बल्कि निष्कामकर्मके द्वारा अनन्तकालस्थायी सुख प्राप्त करना ही जीवनका चरम लक्ष्य है। धीरे धीरे यह बात पुत्र-कन्याके हृदयमें जमा देना भी पिता-माताका कर्तव्य है। पूर्वोक्त प्रकारका ज्ञान एक बार पैदा हो जाने पर फिर कोई न तो नीचकर्ममें प्रवृत्त होगा, और न जीवनयात्रामें ही लक्ष्यभ्रष्ट होगा।

७–हररोज संध्याके समय अपने दैनिक कामोंके दोष-गुणका हिसाब करना सीखना सभीके लिए उचित है। वैसा करते रहनेसे अपने दोषोंके संशोधन करनेके लिए नित्य मौका मिलता है, और कोई दोषकी आदत बढ़ने नहीं पाती।

धर्मशिक्षा।

धर्मशिक्षाके सम्बन्धमें मतभेद और तर्कके लिए जगह है। कोई कोई कहते हैं, "जब धर्मके संबंधमें इतना मतभेद है, तो फिर बालक-बालिकाओंको थोड़ी अवस्थामें किसी भी धर्मकी शिक्षा देना उचित नहीं है; धर्मके सम्बन्धमें उनके मनको अशिक्षित और संस्कार-शून्य रखना ही मुनासिब होगा। वे जब सयाने होंगे, और उनकी बुद्धि पक्की होगी, तब जिस धर्मको वे सत्य समझेंगे उसीको ग्रहण करेंगे।" किन्तु उनका यह कथन संगत नहीं जान पड़ता। पिता-माता जिस धर्मको मानते हैं, उसी धर्मको अगर बालक-बालिका भी थोड़ी अवस्थामें ग्रहण करें, तो उसमें कोई बाधा या बुराई नहीं

देख पड़ती । बल्कि यह बात अनिवार्य और उचित ही प्रतीत होती है । उनके शरीरका पालन-पोषण अवश्य ही मा-बापकी इच्छाके अनुसार होगा । उनकी मानसिक और नैतिक शिक्षा भी अवश्य ही मा-बापकी इच्छाके अनुसार होगी । तब समझमें नहीं आता कि यह बात कैसे संगत मान ली जाय कि उनकी धर्मशिक्षा ही, जो सर्वोपरि शिक्षा है, बाकी पड़ी रहेगी । और तरहकी शिक्षाएँ तो केवल इसी लोकके लिए प्रयोजनीय हैं, किन्तु, धर्म माननेसे, धर्मकी शिक्षा तो इस लोक और परलोक दोनोंके लिए प्रयोजनीय है । जो धर्मको मानते ही नहीं, उनके खयालसे धर्मशिक्षामें केवल इतना ही दोष है कि बालक-बालिकाओंको अकारण भ्रमकी शिक्षा दी जाती है । किन्तु उससे कोई क्षति नहीं हो सकती । कारण, बालक-बालिका बड़े होनेपर चाहें तो अपने अपने मतके अनुसार चल सकते हैं । और वे लोग अगर यह कहें कि धर्मके विषयमें भ्रमकी शिक्षा देना अन्याय है, तो वे ही बतावें, किस विषयकी शिक्षा भ्रमसे रहित है ?

मनुष्य कदापि अभ्रान्त नहीं है । किसी किसी विषयमें, इस समय जो शिक्षा दी जाती है वह कुछ दिनके बाद भ्रमपूर्ण मानी जा सकती है । सिवा इसके बालक-बालिका जब माता-पिताके पास रहेंगे, तब धर्मके विषयमें उनको एकदम अशिक्षित रखना असंभव है । माता-पिता जिस धर्मको मानते हैं, वे भी उसी धर्मके अनुकूल काम करेंगे, और उनके लड़की-लड़के भी, नियमित रूपसे न सही, देख सुन करके ही, एक प्रकारसे उसी धर्मके संस्कारोंसे युक्त हो पड़ेंगे ।

धर्मशिक्षाके सम्बन्धमें अधिक बातें कहनेका प्रयोजन नहीं है । थोड़ी अवस्थामें बालक-बालिकाओंको अधिक सूक्ष्म धर्मतत्त्वकी शिक्षा देना असंगत भी है, और असाध्य भी है । धर्मके जो स्थूलतत्त्व हैं वे प्रायः सभी धर्मोंमे समान् हैं । धर्मके स्थूलतत्त्वमें अधिकतर ईश्वर और परकालमें विश्वास और आत्मसंयमपूर्वक अच्छी राहमें चलना, ये ही दो बातें हैं । सबसे पहले इन्हीं दो बातोंकी शिक्षा देना आवश्यक है ।

पुत्र-कन्याका विवाह ।

योग्य समयमें योग्य पात्री और पात्र ठीक करके पुत्र और कन्याका ब्याह कर देना पिता-माताका कर्तव्य है । कोई कोई यह सोच सकते हैं कि विवा-

हके सम्बन्धमें पुत्र और कन्याको अपनी अपनी इच्छाके अनुसार चलने देना ही कर्तव्य है । किन्तु पहले ही कहा चुका है कि इस विषयमें उनका आप ही निर्वाचन करना अनेक कारणोंसे भ्रान्तिपूर्ण हो सकता है । अतएव इस बारेमें पिता-माताका अलग रहना उचित नहीं हो सकता ।

पुत्रका ब्याह उसकी कमसिनीमें कर देनेसे पिताके लिए बहूके यथायोग्य लालन-पालन और शिक्षा देनेकी एक नई जिम्मेदारी पैदा हो जाती है ।

इस सम्बन्धमें केवल एक बात कह देना ही यथेष्ट होगा । वह यह कि पुत्रवधूको अपनी कन्यासे भी अधिक स्नेह और यत्नसे रखना चाहिए । क्योंकि, उसे उसके मा-बापके स्नेह और यत्नसे अलग करके नई जगह लाते हैं । अतएव अपने मा-बापसे वह जो स्नेह और यत्न पाती थी उससे अधिक स्नेह और यत्न अगर सास-ससुरसे न पावेगी तो उसके उस अभावकी पूर्ति नहीं हो सकेगी ।

पिता-माताका और एक कर्तव्य है, पुत्रकन्याके भरण-पोषणके लिए कुछ धनका संचय करना । जब इसका कुछ निश्चय नहीं है कि पुत्र जल्दी या देरमें अपने भरण-पोषणके लायक धन पैदा कर सकेगा, तब पुत्रके लिए कुछ धन-संचय करना भी पिताकी एक कर्तव्य है । धनसंचयके और भी अनेक उद्देश्य हैं । इतना धन सभीको जमा करना चाहिए कि कभी समय पड़ने पर उससे अपना काम निकल सके, और दूसरेका उपकार किया जासके । किसे कितना धन जमा करते रहना चाहिए, इसका निर्णय हरएककी आमदनी और आवश्यक खर्चके ऊपर है; किन्तु कुछ जमा करते रहना सभीके लिए उचित है । और, जो धन जमा करना हो उसे खर्च करनेके पहले ही निकालकर अलग रख देना चाहिए । यह न सोचना चाहिए कि खर्च करनेके बाद जो बचेगा वह जमा कर देंगे ।

पुत्र-कन्या जब सयाने (बालिग) हो जायँ तब उन्हें संपूर्ण स्वाधीनता दे देनी चाहिए । लेकिन किसी बातमें उनका आचरण अगर भ्रमपूण देख पड़े, तो मित्रभावसे उसका संशोधन करनेके लिए उन्हें सदुपदेश देना उचित है ।

(३) पिता-माताके सम्बन्धमें कर्तव्यता ।

पिता-माताकी भक्ति, थोड़ी अवस्थामें उनकी इच्छाके अनुसार चलना और सयाने होने पर भी उनकी बात पर श्रद्धा करना, पुत्र-कन्याका कर्तव्य है ।

पिता-माता अगर किसी स्पष्ट अवैध कार्यको करनेके लिए कहें, तो पुत्र-कन्या उसे करनेके लिए वाध्य नहीं हैं। मगर हां, उन्हें चाहिए कि विनीत भावसे वह बात माता-पिताको समझा दें। पिता-माताके वैसी अनुचित आज्ञा देनेके कारण उनके ऊपर अश्रद्धा करना अनुचित है। कारण, सन्तान जो पिता-माताकी भक्ति करती है उसका कारण पितामाताके गुण नहीं हैं, उनके साथ होनेवाला सन्बन्ध ही है। जिसके मा-बाप सद्गुणसंपन्न हैं, उसकी माता-पिताकी भक्ति सम्बन्ध और गुण दोनोंके कारण है। किन्तु दुर्भाग्यवश जिसके मा-बाप गुणहीन या दुर्गुणयुक्त हैं, उसे केवल सम्बन्धहीके अनुरोधसे उन-पर भक्तिभाव रखना चाहिए।

कभी कभी नाबालिग लड़की-लड़के मा-बापके धर्मको भ्रान्त मानकर उसका पालन अपने लिए अविहित समझते हैं, और साथ ही अन्य धर्मको ग्रहण करना उचित मान बैठते हैं। ऐसी जगहपर क्या कर्तव्य है? यह प्रश्न पहले कुछ कठिन जान पड़ता है।

एक पक्षमें कहा जासकता है कि धर्म जब मनुष्यके ईश्वरके साथके सम्बन्ध पर निर्भर है, और वह सम्बन्ध जब सब लौकिक सम्बन्धोंके ऊपर है, तब ऐसी अवस्थामें सन्तान अपने मा-बापके धर्ममें रहनेके लिए वाध्य नहीं है, खुद उसको जिस धर्म पर विश्वास हो उसी धर्मको ग्रहण करनेके लिए वह वाध्य है। दूसरे पक्षमें कहा जा सकता है कि पहले तो थोड़ी अवस्थामें, जब बुद्धि कच्ची रहती है, धर्मके सूक्ष्मतत्त्व समझमें नहीं आते, और इसी लिए उस अवस्थामें धर्म बदलना अकर्तव्य है। दूसरे, जब सभी धर्मोंकी मोटी बात यह है कि ईश्वर और परकाल पर विश्वास रक्खो और आत्मसंयमके साथ सुमार्ग पर चलते रहो, और केवल सूक्ष्मबातोंके लिए ही धर्मोंमें भेद है, तब जबतक बुद्धि पक्की न हो ले तबतक धर्म बदलनेमें रुके रहनेसे, किसीका विशेष अनिष्ट होनेकी संभावना नहीं है। इसके सिवा थोड़ी अवस्थामें मा-बापकी इच्छाके विरुद्ध काम किया जायगा तो धीरे धीरे स्वेच्छाचारिता प्रश्रय पावेगी, और अंतको वह आध्यात्मिक उन्नतिमें बाधा डाल सकती है। अत-एव इस तरह अनुकूल और प्रतिकूल युक्तियोंकी आलोचना करके देखनेसे यही जान पड़ता है कि नाबालिग सन्तानके लिए धर्मका परिवर्तन अकर्तव्य है।

जो लोग लड़की-लड़कोंको पिता-माताका धर्म छोड़कर दूसरा धर्म स्वीकार करनेके लिए उपदेश या उत्साह देते हैं, उनका उद्देश्य धर्मप्रेरित होने पर भी, उनका वह कार्य अनेक रूपसे अनिष्टकर ही है । जिन्हें धर्मपरिवर्तनकी प्रवृत्ति दी जाती है उनकी स्वेच्छाचारिता प्रश्रय पाकर बढ़ जाती है । उनकी पितृमातृभक्ति, नष्ट चाहे न हो, लेकिन घट जरूर जाती है, जिससे भक्तिवृत्तिके पूर्ण विकासमें बाधा पड़ती है । मा-बापके नाराज होनेसे, या अलग हो जानेसे, उनकी रक्षा, देख-रेख और विद्याशिक्षामें विघ्न पड़ता है । उनके इस कार्यसे उनके मा-बापके मनमें नानाविध असुख और आशान्ति उपस्थित होती है । इस समय जो हिन्दू-बालकोंमें पिता-माता शिक्षक आदिके प्रति भक्तिका अभाव या कमी देख पड़ती है उसका एक कारण शायद यह भी है कि उन्हें जो शिक्षा मिलती है वह उनके मनमें मा-बापके धर्म अर्थात् हिन्दूधर्म पर अश्रद्धा पैदा कर देती है ।

यह कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती कि सन्तान योग्य हो तो उसका कर्तव्य है कि यथाशक्ति पितामाताकी भलाई और सेवा करे ।

४—जातिबन्धु आदि अन्यान्य स्वजनोंके सम्बन्धमें कर्तव्यता ।

इस विषयमें अधिक बातें कहनेका प्रयोजन नहीं है । शायद इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि सम्बन्ध और व्यवहारकी घनिष्ठताके अनुसार जिसे जहाँतक भक्ति, स्नेह और शारीरिक तथा आर्थिक सहायता पानेकी न्यायसंगत आशा हो सकती है, उसकी आशाको यथाशक्ति वहाँतक पूर्ण करना सर्वथा कर्तव्य है । अपनी अवस्था अपेक्षाकृत अच्छी हो तो ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि स्वजनोंमेंसे कोई अपनेको घमंडी न समझे । अगर अपनी अवस्था बुरी हो तो ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि कोई अपनेको असंगत उपकारकी प्रत्याशा रखनेवाला न समझे ।

चौथा अध्याय।

सामाजिक नीतिसिद्ध कर्म।

मनुष्यके अधिकांश कर्मोंका अनुशासन सामाजिक नीतिके द्वारा होता है। उन सब कर्मोंकी आलोचनाके लिए यह निश्चय करना आवश्यक है कि समाज और समाजनीति क्या है। सामाजिक नीतिका निर्णय हो जानेसे उसके साथ साथ सामाजिक नीतिसिद्ध कर्मोंका भी निर्णय हो जायगा, उनकी अलग आलोचना करनेका प्रयोजन नहीं रहेगा। जीवजगत्में समाज एक अति विचित्र वस्तु है। केवल मनुष्य ही नहीं, चींटी ममाखी आदि कीट-पतंग, और बगले आदि पक्षी और भेड़ भैंसे आदि पशु भी दल बाँधकर रहते हैं। जगत्में आकर्षण और विप्रकर्षण, ये दोनों शक्तियाँ सर्वत्र प्रतीयमान हैं। जीवजगत्में, जीवका समाज उसी आकर्षण शक्तिका फल है, और जीवकी स्वतन्त्रता उसी विप्रकर्षण शक्तिका कार्य है।

जान पड़ता है, जीवकी आदिम अवस्थामें निकटवर्ती परिवारसमूहको लेकर ही समाजकी सृष्टि हुई थी। क्रमशः अनेक प्रकारके समाजोंकी उत्पत्ति हुई। और, वर्तमान कालमें सभ्य जगत्में समाज इतने प्रकारके देखनेको मिलते हैं कि समाजोंका श्रेणीविभाग करना अत्यन्त कठिन कार्य हो उठा है। एकस्थाननिवासी और एकधर्मावलम्बी व्यक्तियोंको लेकर प्रधानरूपसे समाजका संगठन हुआ था। किन्तु इस समय रेलके द्वारा जाने आनेका सुभीता हो जानेके कारण दूरताका एक प्रकारसे लोप हो गया है, और सुशिक्षाके फलसे मतवैषम्य बहुत कुछ शान्त हो जानेके कारण धर्मविरोध भी अधिकतर घट गया है, इस कारण अनेक स्थानोंके निवासी और विभिन्न

धर्मावलम्बी लोग भी कार्यविशेषमें एकमत होकर एक ... तिके अन्तर्गत होते हैं। उधर भिन्न भिन्न उद्देश्योंकी प्रेरणा... रके आदमी भी भिन्न भिन्न समाजोंमें चले जाते हैं। एक ही राजाके ... नाधीन रहना भी एक समाजके अन्तर्गत होनेके लिए प्रयोजनीय नहीं। विद्याके अनुशीलन आदि अनेक कार्योंमें भिन्न भिन्न राजाओंकी प्रजा एक समाजमें शामिल हुआ करती है (१)। अतएव समाज शब्दको संकीर्ण अर्थमें न लेकर, उसका व्यवहार विस्तृत अर्थमें करनेसे, समाज-बन्धनके लिए, एक वंशमें जन्म, या एक स्थानमें निवास, या एक धर्ममें विश्वास, या एक ही राजाके शासनाधीन रहना इत्यादि कोई भी बात अत्यन्त प्रयोजनीय नहीं जान पड़ती। केवल समाजमें संमिलित हरएक आदमीका समाजके उद्देश्यके साथ एकमत होना और समाजके अन्तर्गत होनेकी इच्छा भर आवश्यक है। समाजबन्धन जब समाजमें संमिलित लोगोंकी इच्छाके ऊपर निर्भर है, तो सामाजिक नियम भी स्पष्ट रूपसे या प्रकारांतरसे अवश्य ही उसी इच्छाके ऊपर निर्भर होंगे। कारण, उसके वे नियम अगर समाजस्थ किसी आदमीकी इच्छाके विरुद्ध होंगे, तो वह मन पर धरे तो समाजको छोड़ दे सकता है। मगर समाजका घेरा संकीर्ण न होगा तो समाजके नियम और नीति न्यायके अनुगामी होना ही संभव है। क्योंकि इसके विपरीत होनेसे बहुसंख्यक लोगोंके द्वारा उस नियम या नीतिका अनुमोदन नहीं हो सकता। समाजबन्धन और सामाजिक नियम लोगोंकी इच्छाके अनुगामी होनेहीके कारण जनसाधारण उनका इतना संमान करते हैं।

सामाजिक नीति।

सामाजिक नीतियाँ पृथक् पृथक् समाजोंमें अनेक प्रकारकी हैं। उनमें कुछ नीतियाँ सभी समाजोंमें ग्राह्य हैं, और उन्हें **साधारण समाजनीति** कहा जा सकता है। और, कुछ नीतियाँ खास समाजोंमें ग्राह्य हैं, और उन्हें **विशेषसमाजनीति** कहते हैं। मनुष्य मनुष्यमें परस्पर न्यायसंमत व्यवहार

(१) "Association of all Classes of all Nations" नामकी एक सभा Robert Owen ने इंगलैंडमें, १८३५ ई० में स्थापित की थी। Socialism शब्दका व्यवहार पहले पहल उसीकी कार्यप्रणालीमें हुआ था। Encyclopaedia Britannica, 9th Ed, Vol XXII, Article Socialism देखो।

नके लिए जिन नियमोंके अनुसार चलना उचित है, उन्हीं सब नियमोंकी समष्टि साधारण समाजनीति है। उनमेंसे निम्नलिखित कईएक नियम विशेष-रूपसे उल्लेखयोग्य हैं।

साधारण समाजनीति।

१ किसीको अन्यका अनिष्ट न करना चाहिए। अगर किसीका गुरुतर अनिष्ट दूर करनेके लिए अनिष्टकारीका कुछ अनिष्ट करना बहुत ही आवश्यक हो तो वहाँ पर उतना सा अनिष्ट निषिद्ध नहीं है।

इस विधिका प्रथम अंश सर्ववादिसंमत है, और दूसरे अंशके सम्बन्धमें, भी जान पड़ता है, किसीको कुछ विशेष आपत्ति न होगी।

२ यथासाध्य अपना और अन्यका न्यायसंगत हित करना चाहिए; उसमें किसीका अहित हो तो उसके लिए आपत्ति न करनी चाहिए।

यह बात अभी उतनी स्पष्ट नहीं हुई। इसे खुलासा करनेके लिए और भी कुछ कहना आवश्यक है। प्रथमोक्त विधिका उद्देश्य है, अनिष्टनिवारण। और यह जो कहा गया कि खास खास जगह अनिष्टकर कार्य निषिद्ध नहीं है, यह भी गुरुतर अनिष्टके निवारणार्थ है। दूसरी विधिका उद्देश्य लोगोंको हितकर कार्यमें उत्तेजना देना है। जैसे अरिष्टनिवारणका प्रयोजन है, वैसे ही हितसाधनका भी प्रयोजन है। अगर हम अनिष्टकर कार्य न करके साथ ही हितकर कार्योंसे भी हाथ खींच लें, (कल्पना कर लो) निश्चेष्ट होकर बैठे रहें, तो अकार्य भी न होगा, और कार्य भी न होगा, और थोड़े दिनके बाद सब झंझट मिट जायगा, कार्य या अकार्य करनेके लिए कोई आदमी ही नहीं रहेगा। कुछ खाने-पीनेको न पाकर पृथ्वीपरसे मनुष्यजाति ही उठ जायगी। किन्तु ऐसा होनेकी संभावना नहीं है। कारण, हमारी आत्मरक्षाकी प्रवृत्ति इतनी प्रबल है कि परस्पर एक दूसरेका अनिष्ट करके भी हम अपनी अपनी रक्षाकी चेष्टा करते रहेंगे। आत्मरक्षाकी चेष्टाके साथ ही आत्मविनाशकी भी संभावना लगी रहती है। इस कारण ऊपर कही गई प्रवर्तक और निवर्तक, इन दोनों नीतियोंके आनुषंगिक प्रतिरोधका प्रयोजन है।

जो कार्य अनिष्टकर है, वह केवल गुरुतर अरिष्टनिवारणके लिए छोड़कर और सब जगह अन्याय और निषिद्ध है। किन्तु जो कार्य हितकर है, उसे

सर्वत्र विधिसिद्ध नहीं कहा जा सकता। रामका धन घनश्याम ले ले तो श्यामका हित होगा,, किन्तु इसीलिए श्यामका रामके धनको लेना विधिसिद्ध नहीं हो सकता। इसी लिए कहा गया है कि केवल न्यायसंगत हितसाधन ही कर्तव्य है। अब यह प्रश्न उठता है कि न्यायसंगत हित-साधन किसे कहते हैं ? इसका उत्तर बिल्कुल सहज नहीं है।

एक तो जो काम एक आदमीके लिए हितकर है, और अन्य किसीके लिए अहितकर नहीं है, वह अवश्य ही न्यायसंगत हितकर है और उस कामको करना न्यायसंगत हितसाधन कहा जा सकता है। अन्तर्जगत् या आध्यात्मिक जगत्के सभी हितकर काम न्यायसंगत कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनके द्वारा किसीका भी अनिष्ट होनेकी संभावना नहीं है। एक आदमी अगर ज्ञानका या धर्मका अनुशीलन करे, तो उसमें उसका हित है और उसके कार्य तथा दृष्टान्तके द्वारा दूसरेका भी हित हो सकता है। और, उसके द्वारा किसीका अहित भी नहीं हो सकता। कारण, ज्ञान और धर्म असीम हैं, जिसे वह लेना चाहता है। उसके लेनेसे ज्ञान या धर्म चुक नहीं जायगा। जगत्के सब जीव उसे जितना लेना चाहेंगे उतना ही वह घटेगा नहीं, बल्कि बढ़ता ही जायगा। किन्तु बहिर्जगत्के या जड़जगत्के कार्यके सम्बन्धमें यह बात नहीं कही जा सकती। एक प्रसिद्ध कविने अवश्य कहा है कि पृथ्वी बहुत बड़ी है सही, किन्तु काम करनेवाले लोग उसे क्षुद्र ही समझते हैं, सागरपर्यन्त पृथ्वीका राज्य पाकर भी वे सन्तुष्ट नहीं हो सकते। साधारण रूपसे यह बात यों कही जा सकती है कि बहुत लोग थोड़ीसी क्षमता पा जाते ही इस पृथ्वीको तुच्छ समझने लगते हैं। इस पृथ्वीकी भोग्यवस्तुओं-का परिमाण बहुत होनेपर भी उससे लोगोंकी आकांक्षा निवृत्त नहीं होती। फिर एक वस्तुको अनेक लोग चाहेंगे तो उसमें झगड़ा होना अनिवार्य है इसी कारण बुद्धिमानोंने जन-धन-सम्पत्ति आदि पार्थिव वस्तुओंकी कामनासे निवृत्ति, और ज्ञान तथा धर्म, इन अपार्थिव पदार्थोंमें प्रवृत्तिको ही प्रकृत सुखका उपाय बतलाया है। किन्तु कुछ पार्थिव पदार्थ, जैसे खानेके लिए अन्न, पहननेके लिए वस्त्र, रहनेके लिए स्थान इत्यादि, मनुष्यकी देहयुक्त अवस्थामें अत्यन्त प्रयोजनीय हैं, इनके न मिलनेसे देहकी रक्षा नहीं होती, और जिस जाति या समाजमें इन वस्तुओंके अभावकी यथेष्ट पूर्ति नहीं होती,

उसका स्वास्थ्य, संख्या और समृद्धि क्रमशः घटती जाती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमारा भारतवर्ष हो रहा है।

दूसरे खाने-पीने-पहनने-रहनेके सुभीतेके लिए, अन्यका स्पष्ट अनिष्ट न करके जो अपने हितके काम करने होते हैं, उन्हें न्यायसंगत हितकर काम कहना होगा। आर उनके द्वारा किसीका कुछ (साधारण) अहित होने पर भी आपत्ति न करनी चाहिए।

बहिर्जगत्में एकके हितके साथ साथ अन्यका कुछ अहित होना अगर अनिवार्य कहा जाय तो कहा जा सकता है। मनुष्यका जगत्में आना ही इस-तरहके अहितसे सम्बन्ध रखता है। पैदा होते ही मनुष्य अनेक स्थलोंमें दूस-रेका शत्रु होता है। वह कोई और गैर नहीं, उसीका छोटा सहोदर (सगा छोटा भाई) है। और, वह शत्रुता भी सामान्य शत्रुता नहीं है। वह अपने अग्रजको उसके श्रेष्ठ आहार माताके दूधसे, और उसके श्रेष्ठ निवासस्थान माताकी गोदसे कुछ वञ्चित करता है। उसके सभी सुखोंमें हिस्सा लगाता है। किन्तु वह शैशवका वैरभाव जैसे अवस्था बढ़नेके साथ साथ भ्रातृस्नेहका रूप रख लेता है, वैसे ही आशा की जाती है कि व्यक्तिव्यक्तिमें जाति जातिमें जो खाने-पहनने-रहनेके सामानोंके लिए विरोध देख पड़ता है, वह सभ्यजग-त्के साधारण और वृत्तिसम्बन्धी ज्ञानकी वृद्धिके साथसाथ मैत्रीका भाव धारण कर लेगा। मनुष्य मनुष्य और जाति जातिमें भी एक प्रकारका भ्रातृसम्बन्ध है, सभी उसी जगदीश्वर परम पिताकी सन्तान हैं।

इस उद्देश्यसे कि जगत्के लोगोंके खाने-पीने-पहनने-ओढ़ने और रहनेके लिए अच्छी तरह सुभीता हो, सभ्यजगत्में तरह तरहकी सभा-समितियाँ स्थापित हुई हैं, अनेक प्रकारके सामाजिक, वृत्तिसम्बन्धी और राजनीतिक मतोंका प्रचार हुआ है, और उन सबको सामाजिकत्व (Socialism) नामसे अभिहित किया जासकता है। किन्तु इस सम्बन्धमें चाहे जिस किसी प्रकारकी सभा-समिति, नियम और मत स्थापित क्यों न हों, उन सबका मूलमन्त्र यही है कि हरएक व्यक्ति और हरएक जाति जिन सब अपने न्याय-संगत हितकर कामोंको करती है, अर्थात् यथायोग्य खाने-पहनने-रहनेके सुभीतेके लिए जिन सब कामोंको करती है, उनसे अन्य व्यक्ति या अन्य जातिका जो कुछ अहित होता है, या होनेकी संभावना है, उसमें आपत्ति

नहीं करनी चाहिए। मतलब यह कि संपूर्ण मनुष्यजातिके हितके लिए हरएक मनुष्यको अपने हितकी आकांक्षा कुछ छोड़नी चाहिए। यह होनेसे ही मनुष्यजातिमें मैत्रीका भाव स्थापित हो सकता है । इसके सिवा अन्य किसी उपायसे मनुष्यजातिमें मैत्रीका भाव स्थापित नहीं हो सकता ।

कोई कोई कहते हैं, सभी मनुष्य समान हैं, सभी स्वाधीन हैं, सभी पृथ्वीकी भोग्य वस्तुओंके तुल्य अधिकारी हैं और जो सब नियम इसके विपरीत हैं वे अग्राह्य हैं । इस मतको **सामाजिकत्व** या **साम्यवाद** कहते हैं । आजकलका बोल्शेविज्म इसीसे मिलता जुलता है ।

और एक संप्रदायके मतमें सभी मनुष्यों और सभी जातियोंकी प्रकृति जुदी जुदी है, हरएक अपनी अपनी शक्तिहीके अनुसार काम करता है, क्रम-विकासके नियमानुसार वे सब शक्तियाँ विकासको प्राप्त होती हैं और अन्तको जीवनसंग्राममें योग्यतमहीकी जय होती है । जो व्यक्ति और जो जातियाँ योग्यतम होती हैं, वे ही अन्तको बच रहती हैं, और सब विध्वस्त या परास्त होती हैं । इस मतको व्यक्तिगत **वैषम्यवाद** कहा जाता है ।

इन दोनों विरुद्ध मतोंमेंसे कोई भी युक्तिसिद्ध नहीं है । सभी मनुष्य समान नहीं हैं । मनुष्यकी शारीरिक और मानसिक प्रकृति अनेक प्रकारकी है । कुछ विषयोंमें, जैसे शारीरिक स्वाधीनतामें और खाने-पीने पहनने और रहनेके उपयोगी पदार्थोंमें, सभीका तुल्य अधिकार अवश्य है, लेकिन अनेक विषयोंमें, जैसे अन्यके निकट संमान, भक्ति या स्नेह पानेमें, सबका अधिकार समान नहीं है । और इन चीजोंमें अधिकारकी न्यूनाधिकताका नियम न रहनेसे समाज चल नहीं सकता ।

सभी मनुष्य समान हों और समान अधिकार पावें, यह सभीके लिए वांछनीय है, और जिसमें सभी समान हो सकें इसके लिए सबको उपयुक्त शिक्षा देना और इसके लिए सर्वत्र उपयुक्त व्यवस्था स्थापित होना कर्तव्य है । किन्तु जबतक सबके पूर्ण ज्ञान न उत्पन्न हो, और उस ज्ञानके अच्छे अभ्यासके फलसे सबकी स्वार्थपर निकृष्ट और अनिष्टकर प्रवृत्तियाँ शान्त न हों, तबतक सभी मनुष्योंको समान और सब विषयोंमें समान अधिकारी नहीं कहा जा सकता । अतएव साम्यवाद संपूर्णरूपसे सत्य नहीं है । वैषम्य-

वाद भी संपूर्ण सत्य नहीं माना जा सकता। यह सच है कि सभी मनुष्य समान नहीं हैं। यह भी सत्य है कि जीवनसंग्राममें योग्यतमहीकी जय होती है। किन्तु योग्यतम किसे कहते हैं? जीवनसंग्राम ही क्या चीज है और उसका फल ही क्या है? जब इस पृथ्वीके जीवविभागमें आध्यात्मिक भावका आविर्भाव नहीं हुआ था, तबके जीवोंमें जो शारीरिक बलमें प्रबल और 'आत्मरक्षाके लिए आवश्यकतानुसार अपनेको बचानेमें तत्पर' होता था वही योग्य कहा जाता था। शत्रुविनाश ही उस समयका जीवनसंग्राम था और, उसका फल योग्यतमकी वृद्धि तथा अयोग्यतमका घटना और मिट जाना था। किन्तु जिस समय पृथ्वी पर मनुष्य जातिके साथ साथ आध्यात्मिक भावका आविर्भाव हुआ, उस समयसे योग्यताका लक्षण क्रमशः परिवर्तित होता आ रहा है (१)। शत्रुको नष्ट करनेके पाशव बलकी अपेक्षा, शत्रुकी रक्षा करने, उसका संशोधन करने और उसे मित्र बना लेनेके लिए दया, उपकारकी इच्छा, प्रेम आदि उच्चतर आध्यात्मिक शक्तियाँ ही अब योग्यताका यथार्थ लक्षण समझी जाती हैं, अर्थात् आत्माकी उदारता बढ़ती जाती है और अपने-परायेका भेद कम होता जा रहा है। जीवनसंग्राममें भी, अयोग्यको केवल बलके द्वारा विनष्ट करनेका नृशंसभाव न रखकर अयोग्यको अपने गुणोंसे परास्त करनेका शान्तभाव पैदा होता जा रहा है, अर्थात् पहले नृशंसभावके पिछले शान्तभावके रूपमें बदल जानेके ढंग नजर आ रहे हैं। आशा की जाती है कि इस तरहके जीवन-संग्रामका फल, योग्यतमकी जयके साथ उसकी अपेक्षा कम योग्यका विनाश न होकर, क्रमशः अपेक्षाकृत अयोग्यकी रक्षा और उसका अधिकतर योग्य बनना ही होगा। यह सच है कि इस समय भी वह सुदिन बहुत दूर है, इस समय भी उस भावके बहुतसे व्यतिक्रम उपस्थित हैं। यह भी सच है कि सभ्यजगत्के बीच बीच बीचमें स्वार्थपरताकी ऐसी प्रबल लहरें उठती हैं कि वे उक्त मंगलकी जो थोड़ीसी संभावना है उसको बहा ले जा सकती हैं। किन्तु सब लोग जगत्के मंगलके लिए भलेही स्वार्थपरताको न छोड़ें और परार्थपरताका व्रत न ग्रहण करें, उन्हें अपने अपने मंगलके लिए ही शीघ्र वही राह पकड़नी पड़ेगी।

---

(१) इस सम्बन्धमें आनुषंगिक रूपसे Marshall's Principles of Economics pages 302—3 देखना चाहिए।

लक्षण ऐसे ही देख पड़ते हैं। भिन्न भिन्न जातियोंमें होनेवाला युद्ध जब केवल धरती पर और सागरके भीतर ही न होकर आकाशमार्गमें भी होगा, तब वह ऐसा भयानक रूप धारण करेगा कि युद्धप्रेमी उसे बंद करनेके लिए लाचार होंगे। इसके सिवा एक ही जातिके बीच धनिकों और मजदूरोंमें जैसा घोरतर विरोध होता जा रहा है, उसे देखनेसे जान पड़ता है कि दोनों ही पक्षोंको आत्मरक्षाके लिए स्वार्थकी दुराकांक्षा कुछ कुछ छोड़नी ही पड़ेगी। इसी कारणसे आशा की जाती है कि कमसे कम अपने अपने स्वार्थकी रक्षाके लिए लोग कुछ कुछ परार्थपर होंगे और मनुष्योंमें जो परस्पर वैरभाव देख पड़ता है वह दूर होकर मैत्रीका भाव स्थापित होगा।

३ तीसरी साधारण समाजनीति यह है कि जहाँतक किसीका अनिष्ट न हो, वहाँतक सभी अपनी अपनी इच्छाके अनुसार चल सकते हैं। जहाँ एककी इच्छाके साथ दूसरेकी इच्छाकी टक्कर हो, वहाँ दोनोंहीको रुक जाना चाहिए, और विचार करके जिसकी इच्छा न्यायसंगत निश्चित हो उसीको उसकी इच्छाके अनुसार चलने देना उचित है। आपसमें प्रतिद्वन्द्विता रखनेवाले आप ही अगर वह विचार कर सकें तो वह सबसे अच्छी और सुखकी बात है। अगर वे ऐसा न कर सकें तो दोनोंको रुक जाना चाहिए, अथवा किसी मध्यस्थ आदमीकी सहायतासे विरोधकी मीमांसा करा लेनी चाहिए।

४ अपने वाक्य या कार्यके द्वारा दूसरेके मनमें जो संगत आशा उत्पन्न की जाय, उसे पूरा कर देना सभीका कर्तव्य है। यद्यपि आईनके अनुसार सभी-जगह ऐसी आशा पूरी करनेके लिए लोग वाध्य नहीं किये जा सकते, किन्तु सामाजिक नीतिके अनुसार सभी जगह उसे पूर्ण करना सबका कर्तव्य है। आईन और सामाजिक नीतिके ऐसे प्रभेदका कारण यह है कि आईन जो है वह केवल उसी जगह हस्तक्षेप करता है जहाँ पर वह अत्यन्त प्रयोजनीय होता है, और समाज नीति जो है वह अत्यन्त प्रयोजनीय जगहके अलावा भी हस्तक्षेप करना चाहती है। आईन केवल अनिष्टनिवारणके लिए है, समाजनीति उसके अतिरिक्त इष्टसाधनके निमित्त है। आईन जो है वह लोगोंको बुराईसे रोक कर ही रह जाता है, किन्तु समाजनीति जो है वह लोगोंको बुरे कामोंसे रोककर ही चुप नहीं रहती, लोगोंको भला बननेके

लिए, भलाई करनेके लिए, भी उत्तेजना देती है। आईन और समाजनीतिके कार्यक्षेत्रमें जैसे अन्तर है, वैसे ही शासनमें भी अन्तर है। आईनका क्षेत्र संकीर्ण है, किन्तु शासन कठिन है। समाजनीतिका क्षेत्र विस्तृत है, किन्तु शासन कोमल है। कोई आदमी अगर किसीको, बिनाबदलेके, दो दिनके बाद कुछ धन देनेके लिए कहकर फिर न दे, तो उस जगह आईन हस्तक्षेप नहीं करेगा, किन्तु समाज उस आदमीको, जिसने कहकर फिर नहीं दिया, निन्दनीय ठहरावेगा। और अगर किसी वस्तुके बदलेमें वह धन देनेका वादा किया गया हो तो उस जगह आईन हस्तक्षेप करेगा, और जिसे वह धन मिलना चाहिए उसे वसूल करके दिला देगा।

५ किसी समाज या समितिका कार्य उस समाज या समितिके अन्तर्गत अधिकांश लोगोंके मतके अनुसार होना चाहिए। यही समाज या समितिका साधारण नियम है। मगर किसी किसी जगह इसका व्यतिक्रम भी देखा जाता है। जैसे—जहाँ समाजपतिकी, या समितिके सभापतिकी, अथवा समाजकी कार्यकारिणी सभाकी जिम्मेदारी बहुत बड़ी है, अथवा समाजके अन्तर्गत सभी व्यक्तियोंका समान-शिक्षित और सद्विवेचक होना संभवपर नहीं है, ऐसे स्थलोंमें समाजके या समितिके अधिकांश आदमियोंकी इच्छाके अनुसार पुराने नियमको निकाल डालना या किसी नये नियमको चला देना, समाजपति या कार्यकारिणी सभाके द्वारा रोका जा सकता है। किन्तु समाजपति सभापति या कार्यकारिणी सभा खुद सारे समाजकी इच्छाके विरुद्ध पुराने नियमको रद भी नहीं कर सकती और नये नियमको चला भी नहीं सकती। साधारणतः अधिकांश व्यक्तियोंके मतानुसार कार्य करनेके नियमका कारण यह है कि एक तो जिस कार्यके द्वारा सारे समाजकी हानि या लाभ हो सकता है वह कार्य समाजके—कमसे कम अधिकांश आदमियोंके—मतानुसार होना ही न्याय-संगत है। और, दूसरे, हरएक व्यक्तिका मत उसकी पूर्व-शिक्षा और पूर्व-संस्कारका फल है, और उसका भ्रान्त होना असंभव नहीं है। इसी कारण हम सबके मत इसीतरह परस्पर विभिन्न हैं। अतएव जो मत किसी समाजके अधिकांश व्यक्तियोंके द्वारा अनुमोदित है, उसका व्यक्तिविशेषकी कुशिक्षा या कुसंस्कारके द्वारा दूषित होना संभव नहीं है, और उसके भ्रान्त न होनेकी आशा भी की जा सकती है।

विशेष समाजनीति।

अब विशेष समाजनीति और उसके अनुयायी कामोंके सम्बन्धमें कुछ कहना आवश्यक है। विशेष समाजनीति केवल विशेष विशेष समाजोंमें ही ग्राह्य है, इसलिए पहले समाजका श्रेणीविभाग कर लेनेसे अच्छा होगा।

समाज, उसकी सृष्टि होनेके नियमानुसार, दो तरहका है। कुछ समाज तो समाजबद्ध व्यक्तियोंकी स्पष्ट प्रकाशित इच्छासे स्थापित हैं—जैसे, पण्डितसभा, ब्राह्मणसभा, कायस्थसभा, विज्ञानसभा इत्यादि। और, अन्य कुछ समाज, समाजबद्ध व्यक्तियोंकी किसी स्पष्ट प्रकाशित इच्छाके अनुसार नहीं स्थापित हैं, किन्तु समाजबद्ध लोगोंकी उसके विरुद्ध इच्छा न प्रकाशित होनेसे, वे उसके अन्तर्गत गिने जाते हैं। इस तरहके समाज हिन्दूसमाज, नवद्वीपसमाज, वैष्णवसमाज, इत्यादि हैं। पूर्वोक्त समाज **इच्छाप्रतिष्ठित** और पीछे कहे गये समाज **स्वतःप्रतिष्ठित** नामसे संक्षेपमें कहे जा सकते हैं।

वे उद्देश्यभेदसे अनेक प्रकारके हैं।

विषय या उद्देश्यके भेदसे समाज अनेक प्रकारके हैं। जैसे, कुछ धर्मके अनुशीलनके लिए हैं, कुछ धनके अनुशीलनके लिए हैं, कुछ अन्यान्य कर्मोंके अनुशीलनके लिए हैं।

इनके सिवा तीन 'सम्बन्ध' हैं, जो नीति, नियम (आईन) और धर्मनीतिके साथ कुछ सम्बन्धयुक्त होनेपर भी, समाजनीतिसे विशेष सम्बन्ध रखते हैं। वे तीनों सम्बन्ध हैं—गुरु-शिष्यसम्बन्ध, प्रभु-भृत्यसम्बन्ध, और देने लेनेवालोंका सम्बन्ध।

आलोच्य विषय।

जिन कईएक विशेष प्रकारके समाज या सम्बन्ध और उनकी नीति तथा उस नीतिसे सिद्ध कर्मोंकी यहापर आलोचना की जायगी वे नीचे लिखे जाते हैं।

(१) जातीयसमाज, (२) प्रतिवासीसमाज, (३) एकधर्मावलम्बी-समाज, (४) धर्मानुशीलनसमाज (५) ज्ञानानुशीलनसमाज, (६) अर्थानुशीलनसमाज (७) गुरुशिष्यसम्बन्ध, (८) प्रभु-भृत्यसम्बन्ध, (९) देनेवाले और लेनेवालेका सम्बन्ध।

१ जातीय समाज और उसकी नीति।

जातीय समाज क्या है, यह ठीक करनेके लिए पहले यह जान लेना चाहिए कि जाति किसे कहते हैं। 'जन' धातुके आगे 'क्ति' प्रत्ययको संयुक्त करनेसे जाति शब्द बनता है, अतएव उसका यौगिक अर्थ जन्मके साथ संबन्ध रखता है। मूलमें एक पिता-मातासे, या एक देशमें जिन्होंने जन्म लिया है, वे ही प्रायः एकजातीय हैं। मगर इसके अनेक व्यतिक्रम भी देख पड़ते हैं। ईसाइयों या यहूदियोंके धर्म-शास्त्रके अनुसार (१) सभी मनुष्य नूहकी सन्तान हैं, लेकिन सभी एक जातीय नहीं हैं। सभी मनुष्य-जातिके अन्तर्गत अवश्य हैं, लेकिन मनुष्यजाति जिस अर्थमें एक जाति है, जातीय समाज कहनेसे, उसमें, उस अर्थमें जाति शब्दका व्यवहार नहीं किया जाता। एक देशमें जन्म होने पर भी, सभी जगह लोग एक जाति नहीं होते। भारतमें, वर्तमान समयमें, अँगरेज और मुसलमान भी पैदा होते हैं, पर वे सब एक ही जातिके नहीं है। मूलमें एक पिता-मातासे जिनका जन्म है, उन्हें एक जातीय कहनेमें बहुत कम बाधा देखी जाती है। एक देशमें उत्पन्न सब लोगोंको एक जातीय कहनेमें उसकी अपेक्षा अधिक बाधा है।

ऊपर जो कुछ कहा गया वह जातिशब्दका स्थूल अर्थ है। इसी बातको जरा और सूक्ष्म भावसे देख लिया जाय तो अच्छा होगा। प्रायः सभी पदार्थोंके सम्बन्धमें जातिशब्दका प्रयोग किया जाता है, और वैसे प्रयोगकी जगह उसका अर्थ 'प्रकार' या 'तरह' है। उस विस्तृत अर्थके साथ वर्तमान आलोचनाका कोई सम्बन्ध नहीं है। मानवसमष्टिके सम्बन्धमें जिस जिस अर्थमें जाति शब्दका व्यवहार होता है, उसीकी इस समय विवेचना करनी है। वे अर्थ प्रधानतः दो हैं। आकार-प्रकार और भाषा-व्यवहार आदिके भेदसे मनुष्यजाति जिन सब भिन्न भिन्न श्रेणियोंमें बाँटी जाती है उन्हींको जाति कहते हैं। जैसे—आर्यजाति, हबशीजाति, हिन्दूजाति, ब्राह्मणजाति, इत्यादि। जातिशब्दका यह एक अर्थ है। और, एक देशमें या एक राजाकी अधीनतामें जो रहते हैं उन्हें भी एक जाति कहते हैं। जैसे, अँगरेज जाति है। जाति शब्दका यह और एक अर्थ है। जातितत्त्वके ज्ञाता पाश्चात्य पण्डि-

(१) Genesis X, P. ३२ देखो।

तोंने प्रथमोक्त अर्थके अनुसार जातिविभागके सम्बन्धमें कुछ नियम निर्द्धारित कर दिये हैं। उनके अनुसार आकार और वर्णका सादृश्य एक जातित्वका निश्चित लक्षण है। भाषाका सादृश्य भी एक लक्षण है सही, लेकिन उतना निश्चित लक्षण नहीं है। उनके मतसे पृथ्वीके सब मनुष्य तीन प्रधान जातियोंमें बँटे हुए हैं। जैसे—(१) इथिओपियन या कृष्णवर्ण, (१) मंगोलियन या पीतवर्ण, (३) काकेशियन या शुक्लवर्ण। भारतके हिन्दू-लोग इनमेंसे किस विभागके अन्तर्गत हैं, इस बारेमें कुछ मतभेद है। दो यूरोपियन पण्डित (जो इस देशमें आये थे) इस मतको ठीक नहीं मानते। उनमेंसे एक तो यहाँ तक पहुँचे हैं कि उनके मतसे भारतवासियोंका आर्य और अनार्य इन दो श्रेणियोंमें विभक्त होना स्वीकार करने योग्य नहीं है, और ' बनारसके संस्कृतकालेजके उच्चजातीय छात्रोंको और रास्तेमें झाडू देनेवाले भंगियोंको देखकर यह कोई सपनेमें भी नहीं खयाल करेगा कि वे दोनों जुदी जुदी जातिके हैं ' (१)। यह बात ठीक हो या न हो, भाषा अगर जरा और संयत होती तो अच्छा होता। किन्तु भाषाके संयत न होनेसे किसीके चिढ़ने या नाराज होनेकी जरूरत नहीं है। असंख्यवैचित्र्यपूर्ण मानवमुखमण्डलके अवयवोंका स्थूल परिचय सिर्फ कुछ लोगोंके मुँहसे लेकर सारे देशके लोगोंकी जातिके निर्देशका नियम कहाँ तक संगत है, यह ठीक न कह सकने पर भी, यह ठीक कहा जा सकता है कि घात-प्रतिघातका नियम जगत्में अप्रतिहत है। अतएव जिन उच्च जातीय हिन्दुओंने पाश्चात्योंको म्लेच्छ कहा है उन्हें अगर एक पाश्चात्य पण्डित झाडूदारके समान बतलावे तो कोई बड़े विस्मयकी बात नहीं है। मगर कुछ आश्चर्यकी बात यह अवश्य है कि हिन्दुओंके वर्णभेद अर्थात् जातिभेदकी जो लोग इतने तीव्रभावसे निन्दा करते हैं, उन्हींमें वह वर्णभेदका ज्ञान इतना तीव्र है। मतलब यह कि जो आत्माभिमान इस वर्णभेद या जातिभेदकी जड़ है, उसे त्याग करना अतिकठिन है। अतएव इस आलोचनामें आनुषंगिक रूपसे यह नीति उपलब्ध होती है कि

किसी वर्ण या जातिको अन्य वर्ण या जातिकी अवहेला न करनी चाहिए।

---

(१) Sir H. H. Risley's "The People of India" Pages 20-25 देखो।

इसे समाजकी प्रथम नीति मानना उचित है।

इसकी संभावना बहुत थोड़ी है कि सब शुक्लवर्ण, या सब पीतवर्ण, या सब कृष्णवर्ण मनुष्यमण्डली एक जातीय समाजके अन्तर्गत होगी। हरएकके भीतर इतने अवान्तर विभाग हैं, इतना स्वार्थका अनैक्य है कि किसीकी एकताका होना सहज नहीं है।

स्वार्थ और उद्देश्यकी एकता न रहनेसे जातीय समाज गठित नहीं हो सकता, मगर वह स्वार्थ और उद्देश्य बुरा न होना चाहिए। यह जातीय समाजकी दूसरी नीति है।

बुरे स्वार्थ या बुरे उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिए अगर जातीय समाज गठित हो, तो वह न तो सुफल ही दे सकता है, और न बहुत समय तक टिक ही सकता है।

इस जगह पर भारतके हिन्दूसमाजमें रहनेवाले जातिभेद और हिन्दू तथा मुसलमानोंके जातीय विरोधके सम्बन्धमें दो-एक बातें कहना आवश्यक है।

हिन्दूसमाजमें जातिभेद।

हिन्दूसमाजमें जातिभेद संभवतः पहले वर्णभेदसे ही पैदा हुआ होगा। वर्ण शब्दका व्यवहार इस समय भी जातिके प्रतिशब्दके रूपमें होता है। शुक्लवर्ण आर्यगण जब कृष्णवर्ण शूद्रोंके साथ आकर मिले, दोनोंका परस्पर संघर्षण हुआ, उस समय आर्य और शूद्र, यह जातिविभाग या वर्णविभाग सहज ही हुआ होगा। फिर शुक्लवर्ण आर्यगण भी कार्यके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, इन तीन विभागोंमें बँट गये होंगे। इस तरह हिन्दूसमाज ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन चार वर्णोंमें बँट गया। पूर्वकालमें विद्यामें, बुद्धिमें और अन्य अनेक सद्गुणोंमें ब्राह्मण लोग सबसे श्रेष्ठ थे। इसी कारण उस समयके नियम विशेषरूपसे ब्राह्मणोंके अनुकूल थे। उस समय शूद्र जातिमें वैसे सद्गुण नहीं थे, इसी कारण उस समयके नियम उनके अनुकूल नहीं हैं। किन्तु अच्छे कर्म करनेसे शूद्र भी प्रशंसनीय होते हैं और मृत्युके उपरान्त स्वर्गलोकको जाते हैं—यह बात भी स्पष्टरूपसे शास्त्रमें लिखी है (१)।

गीतामें भी भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

---

(१) मनुसंहिता १०। १२७—१२८ देखो।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

अर्थात् जो लोग पण्डित हैं वे विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मणको, गऊको, हाथीको, कुत्तेको और चाण्डालको, सबको सम-दृष्टिसे देखते हैं ।

मर्यादापुरुषोत्तम आदर्शचरित्र रामचन्द्रने गुह (चाण्डाल) के साथ मित्रता की थी । अतएव हीनजाति कहकर किसीकी अवज्ञा करना हिन्दूमात्रका कर्तव्य नहीं है ।

जातिभेद या वर्णभेदने एक समय समाजकी उन्नतिमें सहायता की है (१)। किन्तु इस देशकी और हिन्दूसमाजकी इस समय जैसी अवस्था है, उससे निम्नश्रेणीकी जातियोंने बहुत कुछ उन्नति पाई है, अतएव वे आदरके योग्य हुई हैं । इस समय पहलेकी तरह उनका अनादर करना उनके साथ अन्याय व्यवहार करना होगा, और उससे समाजका भी अपकार होगा। कारण उससे वर्ण-वर्णमें वैरभाव उपस्थित होनेके कारण हिन्दूसमाज छिन्नभिन्न तथा और भी निर्बल हो जायगा। अतएव न्यायपरता और आत्मरक्षा इन दोनोंके अनुरोधसे आवश्यक है कि हिन्दूसमाज संकीर्णता छोड़कर उदार भाव धारण करे। रोटी-बेटीके सम्बन्धको छोड़कर, अन्यान्य मामलोंमें निम्नश्रेणीकी जातियोंके साथ आत्मीय भावसे व्यवहार करना, इस समय उच्च हिन्दूजातियोंका परम कर्तव्य है। यही उच्च हिन्दू प्रकृतिके योग्य है, और यही उदार हिन्दूशास्त्रके द्वारा अनुमोदित है ।

कोई कोई कह सकते हैं कि रोटी और बेटी इन्हीं दो मामलोंको क्यों बाद किया जाय ? इस प्रश्नके दो अच्छे और ठीक उत्तर हैं। एक तो, इन दो बातोंको बाद किये विना काम नहीं चलेगा। कारण, असवर्णविवाह जो है वह केवल हिन्दूशास्त्रमें नहीं, अदालतमें प्रचलित हिन्दू-लाके अनुसार भी असिद्ध है । और, लौकिक हिन्दूविवाहका आईन (सन् १८७२ ई० का १५ वाँ आईन) हिन्दुओंके लिए लागू नहीं होता । फिर अनेक हिन्दुओंका अटल विश्वास है कि निम्न वर्णके साथ भोजन करना शास्त्रमें निषिद्ध है और वैसा करनेमें अधर्म होगा। इस विश्वासके विरुद्ध आचरणकी चेष्टा अवश्य

(१) Marshall's Principles of Economics P. 304 देखो ।

निष्फल होगी। दूसरे, इन दो बातोंको छोड़ देनेसे समाजकी एकताके संपादनमे विशेष विघ्न नहीं होगा। साधारणतः लोगोंका जीवनभरमें एक दिन एक बार विवाह होता है। किसका किसके साथ ब्याह हो सकता है, यह जाननेके लिए भी लोग उतने व्यग्र नहीं हैं। अतएव असवर्ण विवाह न चलने पर भी, परस्परके देखने, सुनने, बैठने, खड़े होने, बातचीत करने और सन्तुष्ट करने आदि प्रतिदिनके कामोंसे (किसीके मनके भीतर किसीके प्रति घृणा या ईर्षाका भाव अगर न हो तो) भिन्न भिन्न जातियोंमें आत्मीयता और एकता स्थापित करनेमें कोई बाधा नहीं हो सकती। आहार अवश्य ही प्रतिदिनका कार्य है, और सबके एक साथ एक जगह बैठकर भोजन न कर सकनेसे अवश्य ही कुछ असुविधा होती है। आहारके सम्बन्धका जातिभेद देशभ्रमणके लिए भी असुविधाजनक है। किन्तु उस असुविधाके साथ कुछ सुविधा भी है। जहाँ तहाँ और जब चाहो तब भोजनका होना ेय नहीं है। अगर जहाँ तहाँ और जब तब भोजन किया जाय, तो भोजनके समय और भोजनकी सामग्री, दोनों बातोंमें अनियम होनेकी संभावना है। और, उससे स्वास्थ्यहानि भी हो सकती है। यह बात नहीं कही जा सकती कि स्वास्थ्यके नियमों पर सभी लोगोंकी समान आस्था है। इसी लिए जैसे तैसे आदमीके हाथसे खानेकी सामग्री लेना युक्तिसिद्ध नहीं है। देखा जाता है कि जो लोग इस मामलेमें दृढ़ नियम पालन करके चलते हैं उनका स्वास्थ्य औरोंकी अपेक्षा अच्छा रहता है, और उन्हें प्रायः उत्कट रोग नहीं होते।

ब्राह्मणसभा, कायस्थसभा, वैश्यसभा आदि जो सभाएँ भिन्न भिन्न जातियोंकी उन्नतिके लिए स्थापित होती हैं उनके द्वारा हिन्दूसमाजका हित हो सकता है। किन्तु वे सभायें यदि परस्परके प्रति विरुद्ध आचरण करनेमें प्रवृत्त हों, तो न खुद उनका कुछ भला हो सकता है, और न हिन्दूसमाजमेंसे किसीका उपकार हो सकता है।

हिन्दू-मुसलमानोंका विवाद।

हिन्दू और मुसलमान दोनों भिन्न भिन्न धर्मावलम्बी हैं, इस खयालसे उन्हें परस्पर झगड़ा या विरोध न करना चाहिए। किसीका भी धर्म यह नहीं कहता कि तुम दूसरेका अहित करो। फिर दोनोंको जब एक ही देशमें

एक साथ रहना है, तब उनके परस्पर सद्भाव स्थापित करनेकी बड़ी आवश्यकता है। दोनों कुछ सोचकर समझसे काम लें, तो वह असाध्य या दुःसाध्य भी नहीं है। मुसलमान लोग इस देशमें बहुत दिनोंसे हैं। वे लोग जब पहलेपहल आये थे उस समय, और उसके कुछ दिन बाद तक भी, हिन्दुओंके साथ उनका असद्‌भाव था। किन्तु वे दिन चले गये। इस समय उस बकाया हिसाबके निकालनेकी जरूरत नहीं है। इस समय बहुत दिनोंसे दोनोंमें सद्‌भाव होता आ रहा है। उस सद्भावको बढ़ानेकी चेष्टा करना सबका कर्तव्य है।

हिन्दू और मुसलमान कभी एक जाति हो सकेंगे या नहीं, यह मैं नहीं कह सकता। किन्तु देशकी शिक्षा, स्वास्थ्य, शिल्प, वाणिज्य आदिकी उन्नति करनेमें वे सभी बिना किसी रुकावटके एकसमाजबद्ध होकर काम कर सकते हैं। अनेक जगह ऐसा करते भी हैं, और सब जगह ऐसा ही करना कर्तव्य है।

२ प्रतिवासीसमाज और उसकी नीति।

हमारा परोसियोंके साथ अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रतिवासीके इष्ट अनिष्टके साथ हमारा अपना इष्ट-अनिष्ट अनेक प्रकारसे विजड़ित है। एक परोसीके घरमें कोई संक्रामक रोग उपस्थित होनेपर हमारे अपने घरमें और अन्य परोसीके घरमें उस रोगके पहुँचनेकी संभावना है, अतएव परोसी लोग सुस्थ रहें, यह देखना हमारा कर्तव्य है। केवल हमारा घर साफ रहना ही यथेष्ट नहीं है। किसी परोसीका घर गंदा रहनेसे उसके कारण वहाँ रोग प्रवेश कर सकता है, और वह रोग क्रमशः हमारे परिवारके लोगों पर भी आक्रमण कर सकता है। हमारे किसी परोसीके घरमें कोई अमंगल घटना होनेसे, उसे देखकर या सुनकर हमारे परिवारके लोगोंको सन्ताप अथवा त्रास हो सकता है, और उस सन्ताप या त्रासके कारण उनका स्वास्थ्य और उत्साह नष्ट हो सकता है। किन्तु हमारे परोसी अगर सुख और स्वच्छन्दतासे रहेंगे, तो उसे देखकर हमारे परिवारके लोग उल्लास उत्साह पाकर सुखी हो सकते हैं। अतएव सहानुभूति उपकारकी इच्छा आदि परार्थपरायण प्रवृत्तियोंकी बात छोड़ देनेसे भी, यथार्थ स्वार्थपरताके अनुरोधसे परोसियोंका दुःख दूर करने और उन्हें सुखी बनानेका यत्न करना हमारा कर्तव्य है।

जिनकी अवस्था अच्छी है उनका कर्तव्य है कि धन और सामर्थ्यके द्वारा यथाशक्ति परोसियोंका उपकार करें। उन्हें कभी ऐसा काम न करना चाहिए जिससे किसी परोसीके मनको कष्ट पहुँचे।

किसीके भी मनको कष्ट देना उचित नहीं है। हम जैसे अपना सुख चाहते हैं, वैसे ही और सब भी सुख चाहते हैं। सारा जगत् सुख चाहता है, दुःख नहीं चाहता। मैं क्षुद्र होने पर भी उसी जगत्का अंश हूँ। मैं जब जगत्की उस इच्छाके अनुकूल काम करूँगा, तभी मेरा जगत्में आना और रहना सार्थक होगा। और, जो मैं उस इच्छाकी प्रतिकूलता करूँगा, तो जगत् मुझे सहजमें नहीं छोड़ेगा। मैं किसीके मनको कष्ट दूँगा, तो वह कष्ट विद्वेष-भावका रूप धारण कर लेगा, और उस विद्वेषके फलसे तरह तरहकी अशान्ति और अनिष्ट हो सकता है।

जो लोग श्रीसम्पन्न हैं, उन्हें कोई भी काम अमित और असंयत आडम्बरके साथ न करना चाहिए। उसमें अकारण बहुतसा धन खर्च होता है। वह धन बचे तो अनेक अच्छे कामोंमें लग सकता है। फिर वैसे दृष्टान्तका फल भी अहितकर है। जिनके पास कुछ धन है, वे उनकी देखादेखी, कष्ट होने पर भी, वैसे ही आडंबरके साथ काम करनेकी चेष्टा करते हैं, और फिर पीछे अपनेको क्षतिग्रस्त समझते हैं। जिनके पास कुछ भी पूँजी नहीं है, वे यह सोचकर कष्ट पाते हैं कि हाय, हम वैसे ढंगसे काम नहीं कर सके! हमारे समाजमें, विवाह आदि अनेक कामोंमें अतिरिक्त अर्थव्यय, इसी तरह दो-चार आदमियोंकी देखादेखी उन्हींके दृष्टान्तके अनुसार होने लगा है। मैंने एक प्रतिष्ठित रईस आदमीके मुँहसे सुना है—उनके पिताका नियम था कि वह अपनी कन्याओंके विवाहमें अतिरिक्त अर्थव्यय न करके ब्याहके बाद कन्याको कुछ स्थायी संपत्ति दे देते थे। अन्य एक बहुत बड़े ऐश्वर्यशाली बुद्धिमान् युवकने मुझसे कहा था कि उन्होंने अपनी स्त्रीको उपदेश दिया है कि साधारण निमन्त्रणमें, जहाँ अनेक स्त्रियोंके जमा होनेकी संभावना हो, वह मामूली गहने और कपड़े पहन कर जाया करे। कारण, बहुमूल्य मणिमुक्ताजटित अलंकार पहन कर जानेसे अपने मनमें गर्व और औरोंके मनमें क्षोभ उत्पन्न हो सकता है। इस लिए बहुमूल्य अलंकार आदि केवल मा-बहन वगैरह स्वजनोंके सामने ही पहनना उचित है, क्योंकि उन्हें उससे सुख होगा,

क्षोभ नहीं होगा। इन दोनों आदमियोंकी बातें बहुत ठीक और अच्छी हैं। हरएक आदमीको इन्हें याद रखना चाहिए।

जिसकी अवस्था अच्छी नहीं है उसे चाहिए कि किसी संपन्न परोसीकी अवस्था देखकर अपने मनमें क्षोभ न आने दे। उससे उसका कोई लाभ नहीं है, बल्कि अपनी गरीबीके कारण वह जो कष्ट भोग रहा है वह कष्ट और भी तीव्र और असह्य जान पड़ेगा। साथ ही अपनी आध्यात्मिक उन्नतिकी राह रुँध जायगी। इस लिए परसन्ताप न करके यथाशक्ति अपनी अवस्था अच्छी बनानेकी चेष्टा करना, और परोसियोंके सुखमें सुखी होनेका अभ्यास करना उचित है। ऐसा करेंगे तो अपनी चेष्टा और पराये मंगलकी कामनासे उनका मंगल होगा। अन्यकी, खास कर परोसियोंकी, प्रीति और शुभकामना बिल्कुल ही तुच्छ बात नहीं है। मैं यह नहीं कहता कि उसका कोई अनैसर्गिक या अलौकिक फल है। नैसर्गिक नियमसे ही उसका सुफल मिलता है। जिसे परोसी प्यार करते हैं, और जिसका भला होनेसे सुखी होते हैं, उसका सभी यथाशक्ति उपकार करते हैं, और वक्त-बेवक्त सभी उस गुण गाते हैं। वह गुणगान मौका पड़ने पर उसके काम आता है, उपकार करता है।

प्रतिवासी समाजकी चर्चाके साथ साथ हिन्दूसमाजकी दलबंदीके बारेमें भी दो-एक बातें कहनी आवश्यक हैं। हिन्दूसमाजका बंधन शिथिल हो जानेसे उसमें दलबंदीका आडम्बर और साथ ही उत्साहकी मात्रा बहुत कुछ घट गई है। जब दलबंदीकी प्रबल अवस्था थी तब उसके द्वारा एक उपकार यह होता था कि कुछ सामाजिक अपराधोंका शासन समाज ही किया करता था, उनके लिए अदालतका दरवाजा नहीं खटखटाना पड़ता था। और, मुकद्दमा ठननेसे बहुतसे धनका नाश और उत्तरोत्तर झगड़ा बढ़ना आदि जो गुरुतर अनिष्ट इस समय होते हैं, उस समय नहीं होते थे। किन्तु सामाजिक शासन अपनी इच्छाका शासन होने पर भी, समय समय पर, सबल और निर्बलके विरोधकी जगह, उसका अन्याय भी असह्य हो उठता है। सामाजिक शासनके बीच, एक पंक्तिमें बैठकर भोजन करना रोक दिया जाना उतना असह्य नहीं है, लेकिन पुरोहित नाई धोबी वगैरहका दण्डितके घर जाना रोक देना बड़ा ही कष्टदायक होता है। धोबी

नाई वगैरहका जाना इसी लिए रोक दिया जाता है कि उससे अपराधीको कष्ट मिले। इसके सिवा धर्मकी दृष्टिसे उसका कुछ प्रयोजन नहीं है, और वर्तमान कालमें इस दण्डकी प्रथा उठ भी गई है । अपराधी अगर अपने धर्मसे पतित हो जाय, तो उसके घर पुरोहितको न जाने देना शास्त्रसंगत हो सकता है, लेकिन इस समय वह दण्ड भी उतना कष्टदायक नहीं रह गया है । कारण, इस समय पुरोहितोंका प्रयोजन कम हो गया है। फिर प्रयोजन होने पर ऐसे वैसे पुरोहितोंको सभी पासकते हैं, और वैसे पुरोहितोंको पाकर ही लोग सन्तुष्ट हो जाते हैं। पंक्तिभोजन बंद कर देना ही इस समय दलबंदीका एकमात्र अस्त्र और समाजका शासन रह गया है । उस शासनसे छुटकारेकी राह केवल यही है कि अपराधका अगर प्रायश्चित्त हो सकता हो तो वह कर डालो । सामाजिक अपराध जितना ही प्रायश्चित्तके द्वारा मिट सकता हो, और वह प्रायश्चित्त जहाँ तक युक्तिसंगत हो, उतना ही कल्याण है । दण्ड चाहे सामाजिक हो और चाहे राजनीतिक हो, वह आगे होनेवाले अपराधको रोकनेके लिए ही विहित है; उसका उद्देश्य अपराधीको कष्ट देना कभी न होना चाहिए। अतीत अपराधका जिसमें संशोधन हो, वही चेष्टा करना कर्तव्य है । समाजकी पवित्रता बनाये रखनेके लिए दोषसे घृणा करना आवश्यक है, किन्तु साथ ही लोगोंकी सत्प्रवृत्ति बढ़ानेके लिए दोषी पर दया करना भी उचित है, और जिससे दोषीके दोषका संशोधन हो वही राह पकड़ना कर्तव्य है ।

प्रतिवासीसमाजके संबंधमें और एक बात सभीको स्मरण रखनी चाहिए । वह यह कि समाजके अन्तर्गत कोई भी व्यक्ति चाहे जितना बड़ा धनी मानी विद्वान् या कुलीन हो, समाज उसकी अपेक्षा बड़ा और संमाननीय है । इस बातसे किसीके भी आत्माभिमानको धक्का नहीं लग सकता । कारण, समाजका हरएक आदमी जानता है कि उसको और अन्य दस आदमियोंको भी लेकर ही समाज है । अतएव समाज अवश्य ही उससे कुछ बड़ा है ।

३ एक धर्मावलम्बी समाज और उसकी नीति ।

एक धर्मावलम्बी सभी आदमी कल्पनामें एकसमाजभुक्त हैं । तो भी वैसे व्यक्तियोंकी संख्या अत्यन्त अधिक और उनके निवासस्थान अतिदूरवर्ती होने पर उन्हें एक समाजके अन्तर्गत कहनेमें कोई फल नहीं है । कारण

वैसा विस्तृत समाज किसी विशेष कार्यको नहीं कर सकता। केवल धर्मसम्बन्धी बड़े बड़े उत्सवोंमें या मेलोंमें (जैसे कुंभके मेलेमें) वैसे विस्तृत समाजके लोग एकत्र हो सकते हैं। साधारणतः एक गाँवके या निकटस्थ दो चार गाँवोंके रहनेवालोंको लेकर ही एक धर्मावलम्बी लोगोंके समाजका संगठन हुआ करता है। एक धर्मावलम्बी लोगोंके समग्र समाजका कोई बँधा हुआ नियम नहीं रहता, और रहना संभवपर भी नहीं है। हिन्दूसमाज, वैष्णव-समाज, मुसलमानसमाज, क्रिश्चियनसमाज आदि इसी तरहके हैं।

४ धर्मानुशीलनसमाज और उसकी नीति।

अनेक जगह लोग धर्मका अनुशीलन करनेके लिए समाजबद्ध होते हैं। वैसे समाज भी प्रायः एक धर्मावलम्बी लोगोंको ही लेकर संगठित हुआ करते हैं। इस तरहके समाजों और पूर्वोक्त प्रकारके समाजोंमें भेद यही है कि पूर्वोक्त प्रकारके समाज स्वतःप्रतिष्ठित होते हैं, और इस तरहके समाजोंकी स्थापना मनुष्यकी इच्छासे होती है। भारतधर्म महामण्डल, बंगधर्ममण्डल, आदिब्राह्मसमाज, नवविधानसमाज, साधारण ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज आदि-समाज इच्छाप्रतिष्ठित समाजके दृष्टान्त हैं।

ऊपर कहा गया है कि ऐसे समाज अकसर एक धर्मावलंबी लोगोंको लेकर ही गठित होते हैं। किन्तु विद्वेषभावयुक्त न होनेपर, भिन्न भिन्न धर्म मानने-वाले भी एक जगह बैठकर धर्मकी चर्चा कर सकते हैं, वैसा होना असंभव नहीं है। पृथ्वीके प्रायः सभी प्रधान प्रधान धर्मोकी मूल बातोंमें अधिक विरोध नहीं है, और जिन बातोंमें विरोध है उनकी भी आलोचना शान्तभा-वसे की जा सकती है। और, उस आलोचनाके फलसे आलोचना करनेवाले धर्मको भले ही न बदल डालें, उनमें परस्पर श्रद्धा स्थापित हो सकती है।

इस तरहके समाजकी प्रधान और अत्यन्त आवश्यक नीति यह है कि कोई किसीके धर्मके ऊपर किसी तरहकी अश्रद्धा न दिखावे।

इस जगह पर यह कह देना आवश्यक है कि धर्मके अनुशीलनका उद्देश्य दो तरहका हो सकता है—एक लौकिक, दूसरा पारलौकिक। पहले उद्दे-श्यके अनुसार धर्मानुशीलनका फल है, अपनेको धर्मके विषयमें ज्ञान मिलना और समाजमें सुश्रृंखला-स्थापन। दूसरे उद्देश्यसे धर्मके अनुशीलनका फल है अपने धर्मके अनुष्ठानमें दृढ़ता और परकालमें सद्गति होनेका उपाय करना।

पहला उद्देश्य प्रधान रूपसे इस लोकके साथ, और दूसरा उद्देश्य प्रधान रूपसे परलोकके साथ सम्बन्ध रखता है । द्वितीय उद्देश्यकी बातें प्रयोजनके अनुसार ' धर्मनीतिसिद्ध कर्म ' शीर्षक अध्यायमें कुछ कही जायँगी । प्रथम उद्देश्यके सम्बन्धमें वक्तव्य यह है कि धर्मविषयकी आलोचना ज्ञानलाभहीके लिए विधिसिद्ध है । अपनी बुद्धिमत्ताका परिचय देनेके लिए या दूसरेको जीतनेकी इच्छा चरितार्थ करनेके लिए धर्मविषयकी आलोचना अकर्तव्य है । कारण, उस तरहकी इच्छा रहने पर शान्त भावसे और सत्यकी खोजके लिए आलोचना नहीं होगी—उसमें दंभका भाव और कुतर्क आ पड़ेगा ।

५ ज्ञानानुशीलनसमाज और उसकी नीति ।

सभ्य जगत्में ज्ञानानुशीलन समाज बहुतसे और अनेक प्रकारके हैं । उनकी नियम-प्रणाली भी अनेक प्रकारकी है । अधिकांश ज्ञानानुशीलन समाज इच्छाप्रतिष्ठित हैं । कुछ राजाके द्वारा स्थापित भी हैं । विश्व-विद्यालय प्रायः सभी जगह राजाके द्वारा स्थापित हैं । अन्यान्य विद्यालय प्रायः सभी जगह राजाके द्वारा स्थापित हैं । अन्यान्य विद्यालय, पुस्तकालय, और ज्ञानानुशीलनसे सम्बन्ध रखनेवाली सभासमितियाँ प्रायः इच्छाप्रतिष्ठित हैं । राजप्रतिष्ठित समाजके नियमोंको राजा या राजाकी आज्ञाके अनुसार समाज निश्चित करता है । इच्छाप्रतिष्ठित समाज अपने अपने अभिप्रायके अनुसार अपने नियम निश्चित करते हैं । किन्तु ज्ञान-की सीमा बढ़ाना और शिक्षाकी सुप्रणाली स्थापित करना, इन दोनों विष-योंके अलावा और विषयोंमें परस्पर प्रतियोगिता (लाग-डाँट) रहना अनु-चित है । सभी ज्ञानानुशीलन समाजोंको इस साधारण नीतिका पालन करना चाहिए । अनेक जगह विद्यालय आदिकी परस्पर प्रतियोगिता अहितका कारण हो उठती है । जहाँ विद्यार्थियोंकी संख्या अधिक नहीं है, वहाँ एक विषयके एकसे अधिक विद्यालय रहनेसे किसीको भी सुभीता नहीं होता । एक तो सुशासनमें बाधा पड़ती है । एक विद्यालयके नियम अधिकतर दृढ़ होनेसे विद्यार्थी लोग दूसरे विद्यालयमें चले जाते हैं, जहाँ पहलेकी अपेक्षा कम दृढ़ नियम होते हैं । दूसरे एक ही कार्यके लिए दो विद्यालय रहनेसे अकारण एक गुनेकी जगह दुगना धन और सामर्थ्य लगाना पड़ता है । प्रति-योगितामें एक सुफल भी है । वह यह कि हरएक प्रतिद्वन्द्वी यथाशक्ति

अपनी अवस्था उत्तरोत्तर अच्छी बनानेकी कोशिश करता है। किन्तु उस चेष्टाकी सफलता धनके ऊपर निर्भर है, और उस धनकी आमदनी अगर विद्यार्थियोंसे मिलनेवाली फीस और स्थानीय लोगोंसे मिलनेवाले चंदेके सिवा और कुछ न हो, और उसका परिमाण अगर दो विद्यालयोंके चलनेके लिए यथेष्ट न हो, तो एक ही जगह दो विद्यालय चलाना सुयुक्तिसंगत नहीं है।

विद्यालयके सम्बन्धमें जो कहा गया वही अन्यान्य ज्ञानानुशीलन समितियोंके बारेमें भी कहा जा सकता है।

प्रतियोगिताको रोकनेके लिए कोई कोई इतने व्यग्र हैं कि उनके मतसे अर्थका अभाव (धनकी कमी) न रहने पर भी, एक स्थानमें एक प्रकारके एकसे अधिक ज्ञानानुशीलन समाजोंका रहना अन्याय है। लेकिन यह मत ठीक नहीं जान पड़ता। कारण, ऐसी जगह ऊपर दिखाया गया प्रतियोगिताका दोष होनेकी आशंका नहीं है, और प्रतियोगिताका ऊपर कहा गया सुफल होनेकी संभावना सर्वथा है।

ज्ञानानुशीलन समितिके सम्बन्धमें और एक साधारण नीति यह है कि जो लोग इस तरहकी किसी समितिके अधिवेशनमें उपस्थित होते हैं, उन्हें वहाँ अन्त तक शान्तभावसे रहना चाहिए। ऐसी आशा नहीं कि जा सकती कि सभाके सभी कार्य सभीके लिए ज्ञानप्रद या मनोरंजक होंगे। किन्तु इसी लिए अगर ऐसा हो कि जिसका जब जी चाहे उठकर चल दे, तो सभाका काम अच्छी तरह चलनेमें विघ्न पड़ सकता है। उपस्थित सभ्योंके बीच बीचमें उठकर चले जानेकी गड़बड़में, जो लोग बैठे रहते हैं वे सभाके कार्यमें अच्छी तरह मन नहीं लगा सकते, उसमें बाधा पड़ती है। अगर कोई कहे कि इच्छा न रहनेपर भी सभामें बैठे रहना कष्टकर होता है, तो वैसे आदमियोंको सभामें जानेके पहले इस बात पर विचार कर लेना चाहिए।

यह बात भी नहीं कही जा सकती कि सभा-समितियोंमें उपस्थित होना या न होना सर्वत्र सभ्योंकी इच्छाके अधीन है। किसी कार्यकारिणी सभाका सभ्य होनेसे, उस सभाके अधिवेशनमें यथासाध्य उपस्थित ही होना चाहिए। उपस्थित न होनेसे उसे कर्तव्य-पालनमें त्रुटि समझना होगा। जो लोग इस तरहकी सभाके सभ्य नियुक्त होकर भी नियमानुसार उपस्थित नहीं होते या उपस्थित नहीं हो सकते, उन्हें वह पद छोड़ देना चाहिए। ऐसा

होनेपर दूसरा आदमी उस पदमें नियुक्त हो सकता है, और सभाके कार्यको चला सकता है।

समितिसम्बन्धी पदके लिए निर्वाचनकी विधि।

ज्ञानानुशीलनसमितिसे सम्बन्ध रखनेवाले किसी पद पर व्यक्तिके चुनावके सम्बन्धमें कई एक नीतियाँ हैं। उनका पालन सभीको करना चाहिए।

(१) निर्वाचन-प्रार्थीको सबसे पहले अपने मनमें अपनी योग्यता ठीक कर लेनी चाहिए। साथ ही यह भी ठीक कर लेना चाहिए कि अपनी उस योग्यताके प्रमाणस्वरूप वह समितिके लिए क्या विशेष कार्य कर सकता है। प्रार्थित पदके संमानकी अपेक्षा जिम्मेदारी बड़ी है, और उस जिम्मेदारीका बोझ लाद न सकनेसे सम्मानकी जगह लांछना ही होगी, यह भी उसे याद रखना चाहिए।

अनेक जगह लोग पहले तो अपने चुने जानेके लिए व्यग्र देखे जाते हैं, किन्तु चुनाव हो जाने पर काम करनेके लिए कुछ भी व्यग्रता नहीं दिखाते, यह अत्यन्त अन्याय है।

(२) जहाँ पर निर्वाचित होनेके लिए उद्योग करना निषिद्ध नहीं है, वहाँ यथासंभव उद्योग करनेमें, अर्थात् विनयपूर्वक अपनी योग्यताका परिचय देनेमें, दोष नहीं है। किन्तु उस उद्योगके उपलक्षसे कोई शिष्टाचारके विरुद्ध कार्य, खासकर किसी प्रतियोगीकी निन्दा करना, अत्यन्त अनुचित है।

कोई कोई सोच सकते हैं कि निर्वाचित होनेके लिए किसी प्रार्थीका अपनेको केवल योग्य दिखाना ही यथेष्ट नहीं है, बल्कि उसे यह दिखाना चाहिए कि वह सबसे बढ़कर योग्य है, और इसके लिए जैसे उसे यह दिखाना आवश्यक है कि मैं योग्य हूँ, वैसे ही यह भी दिखाना आवश्यक है कि मेरे अन्य प्रतियोगी अयोग्य हैं। किन्तु यह अच्छी युक्ति नहीं है। अपने गुणोंका आप बखान करना ही विधिविरुद्ध है, कारण, उससे आत्माभिमान बढ़ता है। उस पर दूसरेके दोषोंका कीर्तन तो केवल शिष्टाचारके विरुद्ध ही नहीं वास्तवमें अपने लिए अनिष्टकर भी है। कारण, उसके द्वारा ईर्षा-द्वेष आदि सब कुप्रवृत्तियोंको प्रश्रय मिलता है। उस तरहकी राह पकड़नेमें लोगोंकी पदवृद्धि संभावना रह सकती है, लेकिन आत्माकी अवनति उसका निश्चित फल है।

एक ओरसे देखनेमें जान पड़ता है कि निर्वाचित होनेके लिए जो जितना उद्योगहीन है, वह उतना ही योग्य है। लेकिन हाँ, इस बारेमें कोई कोई सन्देह कर सकते हैं कि जो उद्योगहीन है वह निर्वाचित होनेपर अपने उस पदका काम करनेमें कहाँतक तत्परता दिखा सकेगा? किन्तु वैसे आदमीकी कर्तव्य-परायणताके ऊपर निश्चिन्त भावसे भरोसा किया जा सकता है, और यह आशंका अमूलक है कि वह कर्तव्यपालनमें भी उदासीन ही रहेगा।

(३) निर्वाचन करनेवालोंको स्मरण रखना चाहिए कि उन्हें जो चुनावमें मत प्रकट करनेका अधिकार है वह केवल उनके अपने अपने हितके लिए नहीं है, सारी समितिके हितके लिए है। अतएव वह अधिकार जिम्मेदारी भी रखता है। और वह मत मनमाने ढंगसे प्रकाशित न होना चाहिए, बल्कि यथासमय समितिके हितपर दृष्टि रखकर, प्रार्थियोंमेंसे जो अधिक योग्य हो उसीके अनुकूल प्रकट किया जाना चाहिए।

निर्वाचकोंमेंसे अनेक लोग सोच सकते हैं कि जहाँ पर एकसे अधिक पदोंके लिए एक साथ निर्वाचन हो, और पदोंकी अपेक्षा प्रार्थियोंकी संख्या अधिक हो, तथा प्रार्थियोंमें एक आदमी बहुत ही योग्य और उन (निर्वाचकों) की विशेष श्रद्धाका पात्र हो, वहाँ केवल प्रथम पदके लिए उसी योग्य और विशेष श्रद्धाभाजनके अनुकूल मत देकर अन्य किसी भी प्रार्थीके अनुकूल मत न प्रकट करना ही अच्छा है; कारण, ऐसा होनेसे उस श्रेष्ठ प्रार्थीसे अनुकूल ओरोंके अधिक मत अर्थात् वोट इकट्ठे हो जायंगे, उसके निर्वाचनकी बाधा कम हो जायगी, और दूसरा निर्वाचित आदमी चाहे जो हो, उससे कुछ हानि-लाभ नहीं। किन्तु यह समझना भी विधिविरुद्ध है। निर्वाचकोंका कर्तव्य है कि वे अपने ज्ञानके अनुसार, जिन जिन पदोंके लिए लोग चुने जायँगे उन उन पदोंके लिए योग्य आदमीके अनुकूल मत प्रकट करें। ऐसा न करनेसे वे अपने कर्तव्यका पालन न करनेके दोष भागी होंगे। फिर, ऊपर जिस कौशलका उल्लेख किया गया है, उसका फल भी क्या होगा, यह कोई पहलेसे नहीं कह सकता। उक्त कौशल करनेवालोंके स्वीकार करनेके अनुसार ही तो द्वितीय पदके लिए उनके कोई मत प्रकट न करनेसे उस पदके लिए अयोग्य आदमी भी चुना जा सकता है, और पहला पद भी उनके विशेष श्रद्धापात्र आदमीको न मिलकर दूसरे किसीको मिल सकता है।

जहाँ एक पदके दोनों प्रार्थी किसी निर्वाचक (वोटर) के बंधु हैं, वहाँ उस अवस्थामें निर्वाचक कभी कभी यह सोच सकता है कि किसीके भी अनुकूल मत न देकर चुप रहना ही अच्छा है। किन्तु यह भी नियमविरुद्ध है। अपने ज्ञानके अनुसार मत प्रकट करना निर्वाचकका कर्तव्य है। उस जगह पर बन्धुत्वकी रक्षा विचारणीय विषय नहीं है।

(४) निर्वाचनकी प्रणालीके सम्बन्धमें पण्डितोंके बीच मतभेद है। इस जगह पर पहले दो बातें ठीक कर लेना आवश्यक है। एक यह कि निर्वाचकोंमेंसे सबके मतका मूल्य समान ही समझा जायगा या उसमें कुछ इतर विशेष रहेगा। दूसरी यह कि यदि दो प्रार्थियोंके अनुकूल मतोंकी संख्या समान होगी तो क्या किया जायगा ?

पहली बातके संबंधमें वक्तव्य यह है कि सभी निर्वाचकोंके मतका मूल्य प्रायः सर्वत्र ही समान जाना जाता है। एक बहुदर्शी बुद्धिमान पण्डित और धार्मिकके मतका मूल्य एक अनभिज्ञ अल्पमति अल्पशिक्षित स्वेच्छाचारीके मतके मूल्यकी अपेक्षा अधिक होने पर भी, उस मूल्यकी ठीक न्यूनाधिकता निश्चित करनेका कोई उपाय नहीं है। कारण, अभिज्ञता, बुद्धिमत्ता, पाण्डित्य आर धर्मपरायणताका सूक्ष्मभावसे परिमाण नहीं किया जासकता। अतएव जहाँ तारतम्यका परिणाम ठीक नहीं किया जासकता, वहाँ सब निर्वाचकोंके मतका मूल्य तुल्य मानना ही पड़ेगा। केवल एक जगह सब निर्वाचकोंके मतका मूल्य समान नहीं गिना जासकता, और उसका कारण यह है कि उस स्थल पर उसका तारतम्य रखना आवश्यक है, और सहज ही उसका परिमाण किया जासकता है। वह एक जगह यह है—जहाँ पर निर्वाचित आदमी निर्वाचकोंकी संपत्तिके ऊपर 'कर' स्थापन आदिके नियम निर्द्धारित कर सकता है। वैसे स्थलमें कम और बहुत धनी निर्वाचकके मतका मूल्य तुल्य होनेसे, जब प्रथमोक्त श्रेणीके निर्वाचकोंकी संख्या अधिक होगी तब उसी श्रेणीके लोगोंका निर्वाचित होना संभवपर होगा, और यह बात होने पर निर्वाचित व्यक्तिके द्वारा अनुमोदित नियमवाली अल्पधनसंपन्न व्यक्तियोंके अनुकूल और अधिकधनसंपन्न लोगोंके लिए अपेक्षाकृत प्रतिकूल होनेकी संभावना है। इसी कारण ऐसे स्थलमें किसी विशेष परिमितवित्तसंपन्न व्यक्तिके मतका मूल्य एक मान कर, क्रमशः दुगने तिगने इत्यादि परि-

माणके धनवाले व्यक्तिके मतका मूल्य ' दो ' ' तीन ' इत्यादि गिना जाता है।

दूसरी बातके सम्बन्धमें वक्तव्य यह है कि दो प्रार्थियोंके अनुकूल निर्वाचकोंके मतोंकी संख्या समान होने पर, अगर किसी सभामें निर्वाचन हो, तो सभापतिके अतिरिक्त मतके अनुसार निर्वाचन ठीक हुआ करता है। अन्यत्र इस सम्बन्धमें विशेष नियम रहनेकी आवश्यकता है।

अब यही ठीक करना बाकी है कि निर्वाचक लोग प्रार्थियोंके अनुकूल अपना अपना मत किस तरह प्रकट करें।

जहाँपर निर्वाचन एक पदके लिए है, और प्रार्थी केवल दो जने हैं, वहाँ तो कुछ झंझट नहीं है। हरएक निर्वाचक जिस प्रार्थीको योग्य समझे, उसीके अनुकूल अपना मत प्रकट करे, और अधिकांश मत जिस प्रार्थीके अनुकूल होंगे वही निर्वाचित होगा।

जहाँ एक पदके लिए दोसे अधिक प्रार्थी हैं, वहाँ निम्नलिखित दो प्रणालियोंमेंसे कहीं पहली, और कहीं दूसरी काममें लाई जाती है।

पहली प्रणाली। अनुमान कर लो, तीन प्रार्थी हैं, क, ख और ग। निर्वाचक १९ आदमी हैं। उनके मत इस तरह हैं—यथा ८ क के अनुकूल हैं, ६ ख के अनुकूल हैं, ५ ग के अनुकूल हैं। क के अनुकूल सबसे अधिक मत होनेके कारण क का निर्वाचन होगा।

इस प्रणालीके अनुकूल केवल इतना ही कहा जा सकता है कि निर्वाचकोंमेंसे अधिकांशके मतसे क प्रथम स्थान पानेके योग्य है, अतएव प्रार्थियोंमें क सर्वश्रेष्ठ है। किन्तु इसके विरुद्ध यह आपत्ति है कि यद्यपि क ने आठ आदमियोंके मतसे प्रथम स्थान पाया, और ख या ग कोई भी उतने निर्वाचकोंके मतमें प्रथम स्थानका अधिकारी नहीं हुआ, किन्तु क अन्य ग्यारह निर्वाचकोंके मतमें केवल तृतीय स्थानका अधिकारी मात्र हो सकता है। और, उनमेंसे कोई ख का प्रथम स्थानका और ग को द्वितीय स्थानका, और कोई ग को प्रथम स्थानका और ख को द्वितीय स्थान का, अधिकारी समझता है। ख और ग मेंसे अगर कोई एक प्रार्थी होता तो अन्य ग्यारहों निर्वाचकोंका मत अपने अनुकूल पाता। अतएव प्रथम प्रणालीका यह विचित्र फल होता है कि क की अगर अकेले ख के साथ या अकेले ग के साथ प्रतियोगिता होती

तो वह नहीं निर्वाचित होता। किन्तु एक साथ उसकी अपेक्षा कम योग्य दो प्रतियोगियोंके रहनेसे उसका निर्वाचन हो रहा है। यह बात संगत नहीं जान पड़ती। इसी कारण अनेक जगह निम्नलिखित दूसरी प्रणाली काममें लाई जाती है। इस जगह यह कह देना आवश्यक है कि अगर कोई प्रार्थी निर्वाचकोंमेंसे आधेसे अधिक अंशका अनुकूल मत पावे, तो उसके सम्बन्धमें ऊपर लिखी आपत्ति लागू न होगी।

दूसरी प्रणाली। प्रथम निर्वाचनमें जिसके अनुकूल सबकी अपेक्षा अल्पसंख्यक मत प्रकट हुए, उसे निकालकर बाकी प्रार्थियोंके बारेमें मत लिये जायँगे। उसमें अगर कोई प्रार्थी आधी संख्यासे अधिक निर्वाचकोंका अनुकूल मत पा जाय, तो वह निर्वाचित होगा। अगर यह बात न हुई, तो फिर जो सबकी अपेक्षा थोड़े अनुकूल मत पावेगा, उसे निकालकर अन्य प्रार्थियोंके सम्बन्धमें पहलेकी तरह मत लिया जायगा। इसी तरह क्रमशः प्रार्थियोंको निकालते निकालते जब देखा जायगा कि किसी प्रार्थीके अनुकूल आधेसे अधिक संख्यामें अनुकूल मत प्रकट हुआ है तब वही निर्वाचित होगा, यह निश्चित किया जायगा।

ऊपरके दृष्टान्तमें, दुबाराके मत-प्रकाशनका फल इस तरह हो सकता है—

क के अनुकूल ८ आदमी
ख के अनुकूल ११ आदमी

या

क के अनुकूल ९ आदमी
ग के अनुकूल १० आदमी

और पहली अवस्थामें ख, दूसरी अवस्थामें ग निर्वाचित होगा।

इस प्रणालीके विरुद्ध केवल यही कहा जा सकता है कि जिस जगह निर्वाचकोंकी संख्या अधिक है और वे एकत्र जमा होकर मत नहीं प्रकट करते, वहाँ दुबारा तिबारा चौबारा मत प्रकट करना सहज नहीं है—कष्टसाध्य है, और उसमें खर्च भी अधिक पड़ेगा। इसी कारण इस प्रणालीके न्यायसंगत होनेपर भी, इसे सब जगह काममें लाना कठिन है।

इस असुविधाकी आपत्ति प्रसिद्ध गणितशास्त्रज्ञ लाप्लासेकी अनुमोदित प्रणालीसे बचाई जा सकती है। उसे तृतीय प्रणाली कहेंगे।

तीसरी प्रणाली। मान लो कि ७ आदमी प्रार्थी हैं। हरएक निर्वाचक अपने मतके अनुसार, प्रार्थियोंके गुणोंके तारतम्यके क्रमसे उनके नाम लिख ले, और उनके नामोंके पास-पास क्रमपूर्वक ७ से लेकर १ तक अंक लिखे। इस तरह सब निर्वाचकोंका मत ले चुकनेपर, हरएक प्रार्थीके नामके पास वाले सब अंक जोड़ लिये जायँ। उसमें जिसे सबसे अधिक संख्या मिलेगी, वही निर्वाचित होगा (१)।

यह प्रणाली कल्पनामें एक प्रकारसे सर्वांगसुन्दर है, किन्तु कार्यतः इसे चलाना कठिन है। कारण, प्रार्थियोंकी संख्या कुछ अधिक होने पर उन्हें गुणानुसार उत्तरोत्तर स्थापित करना सहज नहीं है।

एकसे अधिक पदोंके लिए एक साथ निर्वाचन करना हो, तो भी तीसरी प्रणाली काममें लाई जासकती है, और जो दो तीन इत्यादि प्रार्थी सबसे अधिक संख्या पावेंगे, वे ही निर्वाचित होंगे। किन्तु उस जगह ऊपर कहे गये गुणानुसार क्रमसे नामोंको रखना अति कठिन है। यह आपत्ति प्रबल है, और इसी कारण ऐसे स्थलमें ऊपर लिखी हुई पहली प्रणाली ही काममें लाई जाती है।

निर्वाचनके सम्बन्धमें ऊपर जो कहा गया है, वह प्रायः सभी प्रकारकी समितियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले चुनावके बारेमें कहा जासकता है।

(६) अर्थानुशीलनसमाज और उसकी नीति।

धनके अनुशीलन और धनके उपार्जनकी सुविधाके लिए लोग अनेक प्रकारके नियमोंसे समाजबद्ध होते हैं। उनमेंसे कुछ राजप्रतिष्ठितनियमके अधीन हैं—जैसे, वकील बैरिस्टरोंका समाज। अन्य अधिकांश समाज समाजबद्ध व्यक्तियोंकी इच्छासे स्थापित नियमोंके अधीन हैं।

अर्थानुशीलन समितिकी कार्यप्रणाली और हिसाब वगैरह बहुत ही जटिल मामले हैं। उन्हें अनेक लोग अच्छीतरह समझ नहीं सकते। फिर अर्थलालसा भी अतिप्रबल प्रवृत्ति है, और वह सहजहीमें लोगोंको कुपथगामी कर देती है। अतएव उन सब समितियोंके नेताओंको देखना चाहिए कि उनकी कार्यप्रणाली और हिसाब रखनेके नियम यथासाध्य जहाँ तक सरल और सर्व-

(१ इस सम्बन्धमें Todhunter's History of the Theory of Probablity, pp. 374, 433 and 547 देखो।

साधारणकी समझमें आने लायक बनाये जा सके वहाँ तक वैसे ही बनाये जायँ। और ऐसा कोई काम न किया जाय जिसके ऊपर सन्देहकी छाया भी पड़ सके।

अर्थानुशीलन समितिकी नीतिकी बात कहनेमें धनी और मजदूरोंका सम्बन्ध, मजदूरोंकी हड़ताल, धनी लोगोंका एकहस्था (एकहीके हाथमें रहनेवाला) व्यवसाय, वकील-बैरिस्टरोंके संप्रदायके नियम और चिकित्सकसंप्रदायके नियम, इन कईएक विषयोंकी कुछ आलोचना करना आवश्यक है।

धनी और मजदूरोंका सम्बन्ध।

स्वार्थपरता मनुष्यकी एक स्वभावसिद्ध प्रवृत्ति है। आत्मरक्षाके लिए उसका प्रयोजन है। लेकिन संयत न होनेसे, उससे, आत्मरक्षा न होकर, उलटा ही फल (आत्मविनाश) होता है। जिस स्वार्थके लिए लोग अधिक उद्विग्न होते हैं, उसका अन्यायरूपसे पीछा करनेमें उसी स्वार्थकी हानि होती है। संसारके बाजारमें सभी पूरा लाभ चाहते हैं। किन्तु एकका अनुचित लाभ अन्यकी अन्यायरूपसे क्षति किये बिना हो नहीं सकता। कारण, द्रव्य और उसके मूल्यका प्रायः सर्वत्र ही एक तरहसे निर्दिष्ट सम्बन्ध है। खरीदने-वाला अगर चीजको उससे कम मूल्यमें लेने जायगा, या बेचनेवाला उससे अधिक मूल्य माँगेगा, तो दोनोंमेंसे एक पक्षको अवश्य ही क्षतिग्रस्त होना पड़ेगा। धनी कम मूल्यमें मेहनत खरीदना चाहता है, और मजदूर अधिक मूल्यमें मेहनत बेचना चाहता है। इस तरह एक पक्षका अन्याय्य लाभ होनेसे दूसरे पक्षकी अनुचित क्षतिका होना अनिवार्य है।

हमारे भोगकी चीजोंमेंसे अधिकांश चीजें ही धनी और मजदूर दोनोंके सहयोगसे उत्पन्न होती हैं। ऐसा बहुत कम जगह देखा जाता है कि एक ही आदमी धनी (पूँजीवाला) और मजदूर दोनों ही हो। और, ऐसे स्थलोंमें उत्पन्न वस्तुका परिमाण अल्प ही होता है।

धनी और मजदूरोंका विरोध दिन दिन बढ़ता ही जा रहा है। समय समयपर राजा भी उस विरोधको मिटानेके लिए हस्तक्षेप करते हैं। कभी कभी आईनके द्वारा राज्य यह भी निश्चित कर देते हैं कि मजदूर लोग कल कारखानोंमें कुछ निर्दिष्ट घंटोंसे अधिक काम नहीं करेंगे। यह प्रश्न दूसरा है कि राजाका इस मामलेमें इस तरह हाथ डालना कहाँतक न्यायसं-

गत और कल्याणकर है। किन्तु इस तरह हस्तक्षेपसे धनी और मजदूरोंके झगड़ेका फैसला होना संभव नहीं जान पड़ता। किसी विशेष प्रकारके कार्यके लिए देशमें कितने मजदूरोंकी जरूरत है, और वैसा काम करनेके लिए समर्थ कितने मजदूर देशमें हैं, इन दोनों प्रश्नोंके उत्तरके ऊपर उस श्रेणीके मजदूरोंकी मेहनतका मूल्य साधारणतः सभी जगह निर्भर रहता है। मजदूरोंके बीच परस्पर प्रतियोगिता (लाग-डाँट) ही उस मूल्यको निर्द्धारित कर देती है। यह बात स्वाभाविक है कि धनी उस मूल्यसे अधिक कुछ भी नहीं देना चाहेगा। और, मजदूरोंकी आपसकी लाग-डांट ही उनके लाभका विघ्न और कष्टका कारण हो उठती है। किसी बँधे हुए नियमके द्वारा उस कष्टका निवारण संभवपर नहीं है। कारण, मजदूरोंकी आपसकी लाग-डाँट सभी नियमोंको नाँघकर उनके श्रमके मूल्यको कम निश्चित कर देगी। जान पड़ता है, उनके कष्टनिवारणका एक मात्र उपाय यही है कि धनीलोग सहृदयतासे काम लें, और अपने लाभकी लालसा या लोभको कुछ छोड़ दें, अर्थात् उस सच्ची स्वार्थपरताका ख्याल करें, जो परार्थपरताके विरूद्ध नहीं होती। पूँजीवाले धनी लोग अगर मजदूरोंसे कमसे कम मजदूरीमें काम करा सकने पर भी सहृदयतावश उनके कष्ट दूर करनेके लिए कुछ यत्न करें, तो वे मजदूर भी सुखी हो सकते हैं, और धनी लोगोंको भी कोई क्षति नहीं होगी। कुछ स्वच्छन्दतासे रहने पावें, अर्थात् पैसे कौड़ीसे तंग न रहें, तो मजदूर भी पहलेसे अधिक मेहनत कर सकें, और धनी पूँजीवालोंका काम अच्छी तरह कर सकें और यदि धनीलोग मजदूरोंके लिए अधिक खर्च करेंगे तो उसके बदलेमें अन्तको अच्छा काम पावेंगे।

फिर धनियोंको जैसे सहृदयता आवश्यक है, वैसे ही मजदूरोंमें सौजन्य आवश्यक है, अर्थात् उन्हें भी धनियोंका काम भरसक यत्नके साथ करना उचित है। इस तरह सहृदयता और सौजन्यका लेनदेन होनेसे ही वह सहृदयता स्थायी हो सकती है, नहीं तो पूँजीवाले प्रतिदान न पाकर और क्षतिग्रस्त होकर अधिकदिन तक सहृदयता दिखावेंगे, या दिखा सकेंगे, ऐसी आशा नहीं की जासकती। असल बात यह है कि धनी और मजदूर दोनोंके लिए सद्भावकी स्थापना और दोनोंके हितसाधनका एक मात्र उपाय यही है कि दोनों पक्ष अपनी असंयत स्वार्थपरताको ज्ञान और विवेकके द्वारा संयत करें।

किसी पक्षके स्वार्थत्यागका प्रयोजन नहीं है, वह संभवपर भी नहीं है। किन्तु दोनोंहीको उस स्वार्थका अनुगामी होना चाहिए, जो असली न्यायसंगत और इसी लिए स्थायी होता है, और जिसके साथ न्याय-संगत परार्थका कोई विरोध नहीं है। उसी न्यायपरताका बोध धनी और मजदूर दोनोंके हृदयमें पैदा हुए बिना, बाहरके नियमोंके द्वारा, उनके विरोधका निवृत्त होना कभी संभव नहीं है।

अतएव दोनों पक्षके और जनसाधारणके हितके लिए, धनी और मजदूरोंकी अच्छी आमदनीके लिए, कार्यनिपुणताकी शिक्षा जैसे आवश्यक है, वैसेही अनुचित स्वार्थका संयम और स्वार्थ-परार्थका सामञ्जस्य करनेके लिए नीति-शिक्षा भी आवश्यक है।

हड़ताल।

धनीलोगोंको सुविधाके अनुसार नियम बनानेको विवश करनेके लिए मजदूर लोग समय समय पर हड़ताल डाल दिया करते हैं, अर्थात् सब मिलकर प्रतिज्ञा करके काम करना बंद कर देते हैं। इस तरहकी हड़ताल न्याय-संगत है या नहीं, इस प्रश्नका उत्तर संक्षेपमें यह है—

अगर सभी मजदूर अपनी इच्छासे अपने हितके लिए मेहनत-मजदूरी करना अस्वीकार करें, और धनीलोग उनके लिए सुभीतेके नियम जबतक न बनावेंगे तबतक काम न करनेकी प्रतिज्ञा करें, तो उसे अन्याय नहीं कहा जासकता। लेकिन मजदूरोंका कर्तव्य है कि वे पहलेहीसे यथासमय पूँजीवाले धनियोंका अपने इरादेकी सूचना दे दें। किन्तु हड़ताल करनेके लिए अगर मजदूरोंमेंसे कोई और मजदूरोंको डरा-धमका कर उनसे काम बंद करावे, या काम बंद करवानेकी चेष्टा करे, तो उनका वह कार्य अनुचित ही कहना पड़ेगा। कारण, सभीको अपनी इच्छाके अनुसार काम करनेका अधिकार है, और जो आदमी भय दिखाकर उस अधिकारमें बाधा डालता है, उसका वह कार्य न्याय-संगत नहीं है।

एकहत्था व्यवसाय।

मजदूरोंके लिए जैसे अपने सुभीतेके वास्ते किसीको भी भय न दिखाकर अपनी अपनी इच्छाके अनुसार हड़ताल करना अन्याय नहीं है, वैसे ही धनियोंके अपने सुभीतेके वास्ते, असत् उपायको काममें न लाकर, अन्यको कोई खास

रोजगारसे अलग करनेसे निवृत्त करके, उस रोजगारको एकहत्था कर लेना (अपने ही हाथमें कर लेना) अन्याय नहीं कहा जा सकता। कारण, उसके द्वारा अन्य किसी व्यवसायीकी स्वाधीनतामें किसी तरहकी बाधा नहीं पड़ती। और एकहत्था रोजगार करनेवाले रोजगारी लोग अपने रोजगारको विस्तृतरूपसे चलानेमें समर्थ होकर उस रोजगारके सम्बन्धका काम अपेक्षाकृत थोड़े खर्चमें अच्छी तरह निवाह सकते हैं, और उस रोजगारकी चीजको थोड़े खर्चमें तैयार करके थोड़े मूल्यमें बेच सकते हैं। एकहत्था रोजगारका यह फल सर्वसाधारणके लिए हितकर है। किन्तु एकहत्था रोजगारी अपनी इच्छाके अनुसार अपनी चीजकी दर कायम कर सकता है, और अपने रोजगारकी चीजका परिमाण इच्छानुसार कम या अधिक कर सकता है, और उससे सर्वसाधारणकी क्षति होनेकी संभावना रहती है। इसके सिवा एकहत्था रोजगारी अगर भय दिखाकर या अन्य किसी अनुचित उपायसे और किसीको वह रोजगार अलग न चलाने दे, तो उसका वह काम अन्यकी स्वाधीनतामें बाधा डालनेवाला है। ऐसे स्थलोंमें एकहत्था रोजगारको अन्याय कहना पड़ेगा (१)।

वकील बैरिस्टरोंके संप्रदायकी कर्तव्यता।

वकील बैरिस्टरोंके संप्रदायकी कर्तव्यताके सबन्धमें समय समयपर जो प्रश्न उठते हैं, उनमेंसे निम्नलिखित चार विशेष विवेचनाके योग्य हैं।

१–अपराधी या अन्यायकारीके पक्षका समर्थन कहाँ तक न्याय-संगत है?

२–किसी मुकदमेकी पूर्व अवस्थामें एक पक्षका काम करके उसके उपरान्तकी अवस्थामें अन्यपक्षका कार्य करना कहाँतक न्याय-संगत है?

३–किसी वकील-बैरिस्टरको एक समयमें कई मुकदमें उपस्थित होने पर क्या करना चाहिए?

४–जो काम ले लिया है उसे करनेमें असमर्थ होनेपर उसके लिए ली हुई फीस लौटा देना आवश्यक है कि नहीं?

---

(१) हड़ताल और एकहत्था व्यापारके सम्बन्धमें Sidgewick's Political Economy, Bk II, Ch. X, marshall's Principles of Economics Bk. V, Ch. VIII, और Encyclopaedia Britannica Vol. XXXIII, Article Strikes and Trusts देखो।

प्रथम प्रश्नके सम्बन्धमें वक्तव्य यह है कि वकील या बैरिस्टर अगर किसी आदमीको अपनी जानकारीसे अपराधी या अन्यायकारी समझ लें, तो उस व्यक्तिको उस अपराधके दण्ड या उस अन्यायकार्यके फलभोगसे छुड़ानेके लिए उसके पक्षके समर्थनमें नियुक्त होना, आईनके अनुसार निषिद्ध न होने पर भी, सदाचारके अनुसार उनका कर्तव्य नहीं है। कारण, उस अवस्थामें वह व्यक्ति अपने दोषको दूर करनेके लिए अपनी हार्दिक चेष्टा करनेको समर्थ नहीं होसकता, वैसा हो सकना संभव ही नहीं है। लेकिन जो वह आदमी अपने अपराध या अन्याय कार्यको खुद स्वीकार करके केवल दण्ड या प्रतिशोध-परिमाण घटानेके लिए उस वकील या बैरिस्टरकी सहायता माँगे, तो उस जगह उसके पक्षमें खड़े होनेमें कोई बाधा नहीं रह सकती।

जो व्यक्ति अपनी ओर नियुक्त करना चाहता है उसके अपराध या अन्याय-कार्यको, वकील या बैरिस्टर अपने ज्ञानसे न जानकर, केवल अनुमान करें, तो उसके पक्षके समर्थनको अस्वीकार करना उचित नहीं है। जबतक उसका अपराध या अन्याय कार्य अदालतके विचारसे निश्चित न हो, तबतक उसको दोषी मान लेना अनुचित है। लेकिन जहाँ उसके पक्षके समर्थनकी चेष्टा सफल होनेकी संभावना बहुत थोड़ी है, वहाँ वह बात उससे कह देना, और मुक-दमा अगर आपसमें समझौता करनेके योग्य हो तो राजीनामा कर लेनेकी सलाह देना, वकील बैरिस्टरका कर्तव्य है।

इस प्रथम प्रश्नके सम्बन्धमें एक संकटकी जगह है। वकील या बैरिस्टर अभियुक्त आदमीको निरपराध समझकर उसके पक्षका समर्थन करनेके लिए जब नियुक्त हो चुके, उसके बाद अगर वह आदमी खुद उस वकील या बैरि-स्टरके आगे अपना अपराध स्वीकार करे, तो उस समय उसका क्या कर्तव्य है? अनेक बुद्धिमानोंका यही मत है कि उस समय मुकदमा छोड़ देना वकील या बैरिस्टरको उचित नहीं है। कारण, ऐसा होनेसे वह व्यक्ति बड़ी ही विपत्तिमें पड़ जायगा। यह मत न्याय-संगत जान पड़ता है। कोई कोई कह सकते हैं कि वह व्यक्ति जब अपनी ही स्वीकृतिके अनुसार दोषी है, तब उसके लिए फिर वकीलका अभाव नई विपत्ति नहीं है। उसका मुकदमेमें हारना और अपने दोषका प्रतिफल पाना ही न्याय-संगत है, और वैसा न होनेसे उसे समाजकी विपत्ति कहें तो कह सकते हैं। ये सब

बातें अवश्य सच हैं, लेकिन उसके दोषका प्रतिफल हमारी विवेचनाके अनुसार नहीं निरूपित होगा, आईनके अनुसार निरूपित होगा, और वह निरूपित प्रतिफल हम लोगोंकी समझसे अति कठिन हो सकता है। जो आईन प्रतिफलका विधान करता है, वह आईन ही जब उसे वकीलकी सहायता लेनेके अधिकारसे वंचित नहीं करता, बल्कि अपने वकीलके आगे दोष स्वीकार करनेको उसके विरुद्ध प्रमाणके रूपमें ग्रहण करनेका निषेध करता है, तब वैसी स्वीकारोक्तिके लिए उसे क्षतिग्रस्त करना मुनासिब नहीं है।

दूसरे प्रश्नके उत्तरमें यह बात कही जा सकती है कि यद्यपि विशेष अवस्थामें वकीलके लिए पक्ष-परिवर्तन आईनके अनुसार निषिद्ध न हो, तो भी न्याय और युक्तिके अनुसार वह विधि-सिद्ध नहीं जान पड़ता। कारण, मुकदमेकी प्रथम अवस्थामें वकील जिसके पक्षमें था, उस व्यक्तिका अपने मुकदमेकी बहुतसी गोपनीय बातें विश्वास करके उसे बता देना बहुत संभव है। अतएव पक्ष-परिवर्तन करनेसे वकील उस तरह जानी हुई एक पक्षकी गोपनीय बातोंका व्यवहार उसीके विरुद्ध नहीं कर सकता, अथच इच्छापूर्वक वैसा न करनेपर भी समय समयपर ऐसा हो सकता है कि वह वैसा किये बिना रह नहीं सकता। जैसे—जिस जगह वह जिस पक्षका वकील हुआ है उस पक्षके विरुद्ध किसी आपत्तिका खण्डन उसी गोपनीय बातके ऊपर संपूर्णरूपसे निर्भर है, उस जगह उस बातका प्रयोग अपने मवक्किलके अनुकूल न करके चुप रहना दोष है, और उधर उसको कह देनेमें भी दोष है। इस तरहके उभय संकटको बचानेके लिए पक्षपरिवर्तन न करना ही वकील-बैरिस्टरका कर्तव्य है।

ऐसे स्थल अनेक हैं, जहाँ उक्त प्रकारका उभय संकट आपड़नेकी संभावना नहीं है। जैसे—अगर कोई अपील-अदालतमें किसी मुकदमेमें वकील किया जाय और नत्थीके (अदालतमें दाखिल किये हुए) कागजपत्र देखनेके सिवा और किसी तरह मुकदमेकी कोई बात उसे मालूम न हुई हो, तो, वह मुकदमा फिरसे विचारके लिए नीचेकी अदालतमें जानेके बाद अगर फिर अपील हो, उस अपीलमें उस वकीलके दूसरे पक्षमें खड़े होनेके बारेमें विशेष बाधा नहीं देख पड़ती। लेकिन जब अपील-अदालतमें भी मुकदमेकी गोपनीय बातें वकीलको मालूम हो जाना एकदम असंभव नहीं है, तब पक्षपरिवर्तनका साधारण निषेध सर्वत्र मानना ही अच्छा है।

इस सम्बन्धमें मुकदमेंमें दोनों पक्ष (फरीकैन) कुछ अनुचित व्यवहार करते हैं। बहुतोंकी इच्छा होती है कि मुकदमेंमें अदालतके सब अच्छे वकीलोंको अपनी ही तरफ रख लें, कमसे कम अपने विरोधीके पक्षमें जानेंसे उन्हें रोक रक्खें। ऐसी जगह, जिन वकीलोंके बारेमें यह प्रसिद्ध है कि वे पक्षपरिवर्तन नहीं करते, उन्हें लोग मुकदमेंके किसी साधारण काममें लगा-कर समझते हैं कि उन्हें तो अटका लिया गया, अब दूसरे वकीलको अपने मुकदमेमें रख लेना चाहिए। अतएव वह अच्छा वकील, जो साधारण काम देकर अटका लिया गया है, अगर दूसरे पक्षमें जाना नामंजूर करेगा तो उसकी अवश्य आर्थिक हानि होगी। किन्तु इसके लिए उसे विचलित न होना चाहिए। इस तरहके ऊँचे दर्जेके रोजगारमें कुछ आर्थिक हानि बहुतही तुच्छ बात है।

तीसरे प्रश्नका सहज उत्तर यह है कि एक समयमें कई मुकदमें होनेकी संभावना हो तो वकीलका कर्तव्य सभी मुकदमोंके लिए तैयार रहना है। और जो मुकदमा सबसे पहले शुरू हो, उसीमें उसे उपस्थित होना चाहिए। तब उसे कोई दोष नहीं दे सकता। जिस अदालतमें एकसे अधिक विचारक हैं, और एक समयमें उनकी अलग बैठक होती है, उस अदालतमें अवश्यही एक समयमें एकसे अधिक मुकदमोंकी सुनवाई होगी, और ऐसी हालतमें आगेसे कोई यह भी नहीं कह सकता कि कौन मुकदमा कब शुरू होगा। अतएव उस तरहकी अदालतके वकील लोग जब किसी मुकदमेंमें नियुक्त होते हैं, तब उन्हें नियुक्त करनेवाला अवश्य इसी विश्वाससे काम करता है कि वह वकील उसके मुकदमेंमें उपस्थित होनेके लिए यथासाध्य चेष्टा करेगा, किन्तु एकही समयमें एकसे अधिक जगहमें किसी तरह उप-स्थित नहीं हो सकेगा, और जो मुकदमा पहले शुरू होगा उसीमें उपस्थित होनेके लिए वह बाध्य होगा।

कभी कभी ऐसा होता है कि किसी वकीलके दो मुकदमें संभवतः प्रायः एकही समयमें शुरू होंगे, और उनमें जो आगे शुरू होगा उसमें उस वकी-लका एक योग्य सहकारी भी है, और वह मुकदमा भी सहज है, लेकिन जो मुकदमा कुछ देर बाद शुरू होगा, उसमें उसका कोई उपयुक्त सहकारी भी नहीं है, और वह मुकदमा भी कठिन या जटिल है। ऐसी जगह में उस दूसरे मुकदमेमें उपस्थित होनाही उस वकीलका कर्तव्य जान पड़ता है।

चौथे प्रश्नके उत्तरमें यहीं तक कहा जा सकता है कि जहाँ मुकदमेमें उपस्थित होनेके लिए वकीलने यथासाध्य चेष्टा की है, और मुकदमा शुरू होनेके समय वह, जिस अदालतका वकील है उसी अदालतमें, अन्य विचारकके सामने, उपस्थित था, वहाँ न्यायके अनुसार वह लिये हुए फीसके रुपये फेर देनेके लिए वाध्य नहीं है। कारण, ऐसी जगहके लिए, तीसरे प्रश्नकी आलोचनामें कहा जा चुका है—मुकदमेके चलानेवाले लोग इसी विश्वाससे वकील नियुक्त करते हैं कि वह (वकील) मुकदमेमें उपस्थित होनेके लिए यथासाध्य यत्न करेगा, और वह जिस अदालतका वकील है उस अदालतमें उपस्थित रह कर भी अगर अन्य विचारकके इजलासमें उपस्थित रहनेके कारण किसी मुकदमेमें उपस्थित न हो सके, तो उसके लिए वह जिम्मेदार नहीं हो सकता। किन्तु, यदि वह अन्य किसी अदालतमें चला जाय, और इस कारण उसके मुकदमेमें उपस्थित न हो सके, तो मवक्किलकी इच्छाके अनुसार उसकी जो रकम ली है वह फेर देना उसका कर्तव्य है।

वकील बैरिस्टरोंका पेशा उन्हें एक बहुत अच्छा काम करनेके लिए यथेष्ट सुयोग देता है, और उस सुयोगके अनुसार वह अच्छा काम करना उनका कर्तव्य गिना जासकता है। वह अच्छा काम है, मुकदमा शुरू होनेके पहले और पीछे भी दोनों पक्षोंको आपसमें समझौता कर लेनेका उपदेश देना। सभी जगह वह उपदेश उतना प्रयोजनीय नहीं भी होसकता है, और अनेक जगह उसका निष्फल होना भी संभवपर है। किन्तु बहुत जगह ऐसी भी होती है, जहाँ वह उपदेश अत्यन्त वांछनीय और हितकर होता है। जैसे जहाँ वादी (मुद्दई) और प्रतिवादी (मुद्दालेह) दोनोंमें अति निकट-सम्बन्ध है, अथवा मुकदमेका फलाफल अत्यन्त अनिश्चित है, वहाँ मुकदमा चलनेसे केवल विरोध बढ़ेगा और दोनों पक्षोंका बहुत सा रुपया स्वाहा हो जायगा। इसके अलावा हार जाने पर हारने वालेको मानसिक व्यथा जो पहुँचेगी सो घातेमें! ऐसी जगह दोनों पक्षोंको कुछ कुछ हानि स्वीकार करके भी झगड़ा मिटालेना चाहिए।

चिकित्सक संप्रदायकी कर्तव्यता।

चिकित्सकका काम जैसा गौरवयुक्त है वैसा ही बड़ी जिम्मेदारीका है उसके हाथमें प्रायः प्राण तक सौंप दिये जाते हैं। फिर चिकित्सकसे अगर

एक बार भ्रम या भूल हो जाय तो बादको उसके सुधारनेका उपाय और समय प्रायः नहीं रह जाता। वकील-बैरिस्टर या विचारकसे अगर भ्रम-भूल होजाय तो पुनर्विचारके द्वारा उसका संशोधन हो सकता है, मगर चिकित्सकके भ्रम-भूलको सुधारनेके लिए पुनर्विचारकी जगह ही नहीं है।

उसके उपरान्त कई एक कारणोंसे चिकित्सकका काम अति कठिन हो उठता है।

एक तो रोगियोंकी प्रकृति इतने प्रकारकी जुदी जुदी होती है, और एक ही रोग इतने विभिन्न प्रकारके रूप धारण करता है कि चिकित्सकने पुस्तकोंमें पढ़कर जो विद्या प्राप्त की है केवल उसीके ऊपर भरोसा करनेसे किसी तरह काम नहीं चलता। उसे प्रायःसभी जगह अपनी बुद्धि लड़ानी पड़ती है, अनुभवसे काम लेना पड़ता है।

दूसरे रोगीका शरीर शिथिल कातर होता है, मन भी अनेक जगह अस्थिर होता है, फिर उसके आत्मीय स्वजन भी चिन्तासे व्याकुल और घबराये हुए से होते हैं। अतएव जिनके निकट रोगका ब्यौरा मालूम हो सकता है वे चिकित्सककी वह सहायता करनेमें असमर्थ होते हैं। लेकिन व्याकुलताके मारे चिकित्सकको, प्रश्नपर प्रश्न करके, खिझाये बिना उनसे रहा भी नहीं जाता।

तीसरे अनेक समय रोगीकी आर्थिक अवस्था ऐसी होती है कि वह उपयुक्त चिकित्साका खर्च चलानेमें अक्षम होता है।

चौथे रोगीकी जरूरत जो है वह वक्त-बेवक्त नहीं देखती। और, अनेक जगह ऐसे असमय या कुसमयमें चिकित्सकको बुलानेकी आवश्यकता होती है कि चिकित्सकके लिए अपने स्वास्थ्य और सुभीतेकी ओर दृष्टि रखकर चलना दुर्घट हो उठता है।

इन्हीं सब कारणोंसे चिकित्सककी कर्तव्यताके सम्बन्धमें अनेक प्रश्न उठ सकते हैं। जैसे—

(१) चिकित्सकका अपनी न जानी हुई और न जांची हुई दवा देना कहाँ तक न्याय-संगत है?

(२) चिकित्साको रोगीकी आर्थिक अवस्था और प्रवृतिके उपयोगी बनाना कहांतक चिकित्सकका कर्तव्य है?

(३) रोगीको या उसके आत्मीय-स्वजनोंको यह बता देना चिकित्स-कका कहाँतक कर्तव्य है कि रोगीकी हालत कैसी है, और उसके आरोग्य-लाभकी संभावना कैसी या कितनी है ?

(४) रोगीको देखनेके लिए अगर बुलावा आवे तो उसका खयाल कर-नेके लिए चिकित्सक कहाँ तक बाध्य है ?

प्रथम प्रश्नके सम्बन्धमें तो जो चिकित्साशास्त्रमें अनभिज्ञ है उसका कुछ कहना धृष्टतामात्र है । किन्तु जो लोग चिकित्साशास्त्रका कुछ भी ज्ञान नहीं रखते, उन्हींके मनमें यह प्रश्न आगे उठता है, और विशेष उद्वेगका कारण होता है । जो लोग चिकित्साशास्त्रका ज्ञान रखते हैं, वे किसी नई दवाका प्रयोग करनेमें जैसे साहसी हो सकते हैं, वैसे वे नहीं हो सकते जो चिकि-त्साशास्त्रका ज्ञान नहीं रखते । पिछली तरहके लोग नई दवाके प्रयोगके अवसर पर दुश्चिन्तामें पड़ जाते हैं । प्लेग, डिपूथिरिया, सूतिकाज्वर आदि रोगोंमें उन उन रोगोंका विष रोगीके शरीरमें (टीकेके द्वारा) प्रविष्ट करा-कर रोगको दूर करनेकी चिकित्सा इस देशमें जब पहले पहल चलाई गई थी, तब अनेक लोग उससे डरे थे; और, यह बात नहीं कहीं जा सकती कि वह भय अकारण था, या इस समय संपूर्ण रूपसे चला गया है । साधारणतः औषधके प्रयोगके सम्बन्धमें चिकित्सकके ऊपर रोगीको और उसके आत्मीय स्वजनोंको भरोसा करना चाहिए । किन्तु जिस जगह चिकित्साके नयेपन या उत्कटभावके कारण वे लोग वैसा भरोसा नहीं कर सकते, वहाँ चिकित्सकको वह नये ढंगकी चिकित्सा रोक ही देनी चाहिए ।

दूसरे प्रश्नके उत्तरमें अवश्य ही यह कहना होगा कि चिकित्सा ऐसी न होनी चाहिए कि वह रोगीके 'वित्त-बाहर' हो, या प्रवृत्तिके विरुद्ध हो । जहाँ रोग तीन सप्ताहके पहले दूर नहीं हो सकता, वहां अगर पहलेही सप्ता-हमें रोगीकी सारी पूंजी खर्च हो जाय, तो फिर शेष दो सप्ताहोंकी चिकि-त्साका खर्च कहांसे आवेगा ? ऐसी जगह रोगीकी अवस्था दृष्टि रखकर, उसके लिए यथासंभव कम दामकी दवाका प्रबन्ध करना, और एक दिन देख कर दो-तीन व्यवस्था बतला देना, चिकित्सकका कर्तव्य है ।

जहाँ प्राण निकल जानेपर भी रोगी मांस नहीं खायगा (जैसे किसी ब्राह्मणके घरकी विधवा, वैष्णव या जैनी), वहाँ उसके लिए मांसके रसकी व्यवस्था करना कदापि उचित नहीं है ।

तीसरे प्रश्नके सम्बन्धमें वक्तव्य यह है कि रोगकी यथार्थ अवस्था क्या और कैसी है, और आरोग्य लाभकी संभावना कहाँ तक है, यह रोगीसे बता-देनेमें उससे रोगीकी दुश्चिन्ता और साथही-साथ उसका रोग भी बढ़ सकता है, इस लिए रोगीको ये बातें बताना अनुचित है। लेकिन रोगीके आत्मीय-स्वजनोंको ये बातें बतादेना चिकित्सकका आवश्यक कर्तव्य है। और, जहाँ एकसे अधिक चिकित्सक एक साथ सलाह करके चिकित्सा करते हैं, वहाँ उनका कर्तव्य है कि सलाहके समय उनका जो मतामत प्रकट हो वह रोगीके आत्मीय-स्वजनोंको भी बतलादें। कारण, ये सब बातें जानना उनके लिए आवश्यक है। इन बातोंको बिना जाने वे उपयुक्त रूपसे यह ठीक नहीं कर सकते कि चिकित्साके सम्बन्धमें उनका अपना कर्तव्य क्या है। वे चिकित्सा-शास्त्रसे एकदम अनभिज्ञ हो सकते हैं, और यह बात चिकित्सक लोग उनकी अपेक्षा बहुत अच्छी तरह जान सकते हैं कि किस तरहकी चिकित्साका क्या फल होगा। किन्तु संसारकी यह एक विचित्र पहेली है कि किस चिकित्साको दिखानेसे सुफल प्राप्त होगा, यह ठीक करनेका भार उन्हीं अनभिज्ञ लोगोंके सिर पर है। असाध्य या चिकित्सासे बहिर्भूत रोगमें भी चिकित्सकको दिखाना, रोगीके रोगकी शान्तिके लिए हो या न हो, लेकिन उसके आत्मीय स्वजनोंके क्षोभ की शान्ति और सन्तोषके लिए अवश्य आवश्यक है। अत-एव जिससे उनका वह क्षोभ मिट जाय उस उपायके अवलम्बनमें उनकी सहायता करना चिकित्सकका धर्म है।

चौथे प्रश्नका संक्षेपमें सही उत्तर यह है कि रोगीके बुलावेका खयाल करना, अर्थात् उसका बुलावा आने पर वहाँ जानेके लिए यथासाध्य चेष्टा करना, चिकित्सकका कर्तव्य है। इस देशमें एक साधारण कहावत है कि जो साँपका मन्त्र जानता है, उसे अगर कोई साँपके काटे रोगीकी झाड़-फूँकके लिए बुलान आवे, या कमसे कम उसके कानोंतक किसी तरह वह खबर पहुँच जाय, तो चाहे वक्त हो चाहे बेवक्त हो, उसे उसी दम वहाँ जाना चाहिए, अगर नहीं जायगा तो उसका घोर अकल्याण होगा यह बात बहुत ही उत्तम है और इसका भाव यह है कि जो आदमी किसी कठिन पीड़ा या रोगकी चिकित्सा जानता है उसे अगर चिकित्सा करनेके लिए बुलावा आवे तो वहाँ जाना उसका कर्तव्य है।

चिकित्सकका रोजगार साधारण रोजगार नहीं है। वह रोगीसे धन ले या न ले, एक तुच्छ बात है। रोगी या उसके आत्मीय स्वजन चिकित्सकसे जो पानेकी आशा करके उसे बुलाते हैं वह एक अमूल्य पदार्थ है वह प्राणोंका दान है। चाहे कुछ धन लेकर हो और चाहे न लेकर हो, वह अमूल्य पदार्थ देना जिसके रोजगारका उद्देश्य है, उसे कभी यह नहीं सोचना चाहिए कि मैंने बुलानेवालेसे धन तो लिया ही नहीं, फिर मैं उसके बुलानेसे उसके यहाँ जानेके लिए बाध्य कैसे हो सकता हूँ? चिकित्सकसे लोग जिस अमूल्य प्रतिदानकी याचना करते हैं उससे किसीको भी वंचित न करना ही उसका कर्तव्य है—उसका धर्म है।

चिकित्सकोंको इस पर भी दृष्टि रखनी चाहिए कि चिकित्साशास्त्रका कुछ भी ज्ञान न रखनेवाले विज्ञापनी वैद्य जो आजकल अखबारोंमें प्रलोभनसे पूर्ण झूठी बड़ाईसे भरे अपने लंबे-चौड़े नोटिस छपवाते हैं, और एकही दवा सौ सौ रोगों पर काम करनेवाली बताकर लोगोंको ठगते हैं और आयुर्वेदको इस तरह बदनाम करते हैं—लोगोंके धन और प्राण दोनोंको नष्ट करते हैं, उनका प्रचार पबलिकमें न बढ़ने पावे। चरकजीने (१) कहा है कि जो चिकित्सक नहीं है उसकी दवा इन्द्रके वज्रसे भी बढ़कर भयानक है।

७ गुरु-शिष्यसम्बन्ध और उसकी नीति।

गुरु-शिष्य सम्बन्ध अति प्रयोजनीय और अति पवित्र संबंध है। कोई चाहे जितना बुद्धिमान् और क्षमताशाली क्यों न हो, गुरुके उपदेशके बिना वह किसी भी विषयका संपूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता, और किसी भी विषयमें अच्छी तरह कर्मकुशल नहीं हो सकता। किसीके भी निकट आप किसी विषयका ज्ञान या किसी काममें निपुणता प्राप्त करनेके लिए जाइए, वह अगर स्नेह और यत्नके साथ वह ज्ञान न दे, या वह काम न सिखावे, तो वह शिक्षा फलदायक नहीं हो सकती। गुरुका वह आन्तरिक स्नेह या यत्न प्राप्त करनेके लिए गुरुकी भक्ति करना आवश्यक होता है। वर्तमानकालमें प्रायः धनहीके बदलेमें शिक्षा अवश्य दी जाती है, किन्तु तो भी वास्तवमें स्नेह और भक्तिका आदान-प्रदान ही इस सम्बन्धकी जड़ है। और, इसी कारण यह सम्बन्ध अत्यन्त पवित्र है।

(१) चरकसंहिताका पहला अध्याय देखो।

किसी किसी विशेष स्थलमें, जैसे धर्मके उपदेशको लेनेमें, यह आवश्यक है कि गुरु और शिष्य दोनों एक धर्मावलम्बी हों। इसके सिवा अन्यत्र गुरु और शिष्य अगर भिन्न भिन्न धर्मावलम्बी और भिन्न भिन्न जातीय हों, तो कोई हानि नहीं है। बल्कि हिन्दूशास्त्रमें ऐसाही होनेकी विधि है। मनुजी कहते हैं—

" श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि। "

(मनु २। २३८)

" लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव च।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत्॥ "

(मनु २। ११७)

अर्थात् शुभ विद्याको नीच जातीय पुरुषसे भी श्रद्धापूर्वक ग्रहण करना चाहिए। और फिर कहते हैं—लौकिक, वैदिक तथा आध्यात्मिक, कोई भी ज्ञान जिससे पावे उसे पहले प्रणाम करके संमानित करना चाहिए।

अतएव जिनसे किसी भी विषयकी शिक्षा प्राप्त की जाय, वह चाहे जिस जाति और संप्रदायके हों, उनका संमान और भक्ति करना शिष्यका अवश्य कर्तव्य है। और, शिष्य भी चाहे जिस जाति और संप्रदायका हो, उसके साथ यत्न-पूर्वक स्नेहका व्यवहार करना गुरुका आवश्यक कर्तव्य है।

गुरु और शिष्य भिन्न भिन्न जातीय होनेसे, कभी कभी ऐसा भी हो सकता है कि जाति के अभिमानवश गुरुका यथायोग्य संमान और भक्ति शिष्य नहीं करता, और गुरु भी शिष्यके साथ यथोचित यत्नपूर्वक स्नेहका व्यवहार नहीं करता। किन्तु ऐसा होना अत्यन्त अन्याय और दुःख-जनक है तथा उसका फल बहुतही अशुभकर है। जिसे गुरु कह कर मानना होगा, शिष्य हो जानेपर दोष-गुणका विचार नहीं किया जा सकता। जब शिष्य हो चुके, तब उसके दोष-गुणका विचार न करके उसकी भक्ति, कमसे कम सम्मान, करना चाहिए। भक्ति-संमान न करनेसे उसके निकट शिक्षा प्राप्त करना संभवपर नहीं। क्योंकि वैसा होनेसे उसकी बातों पर आस्था नहीं होगी, और उसकी बातें मन लगाकर सुनी नहीं जायँगी। उधर गुरुके लिए भी यही बात है। जिसे शिष्य कह कर ग्रहण किया जाय, तो फिर उसकी शिष्य होनेकी योग्यताका विचार नहीं किया जा सकता। वह विचार

पहले ही कर लेना उचित था। शिष्यरूपसे उसे स्वीकार कर लेने पर उसको स्नेहकी दृष्टिसे देखना, कमसे कम यत्नपूर्वक शिक्षा देना, गुरुका कर्तव्य है। गुरु ऐसा नहीं करेगा तो वह विद्यार्थी शिक्षाका पूर्ण फल नहीं प्राप्त कर सकेगा। गुरु अगर शिष्यको अयोग्य कह कर उसको शिक्षा देनेकी, और उसके उन्नतिसाधनके लिए यत्न करनेकी, जिम्मेदारीसे छुटकारा पा सकता है, तो शिष्यके हितके लिए काम करनेकी उसकी चेष्टा बहुत कुछ शिथिल हो जायगी। अतएव गुरुमें अगर शिष्यके प्रति यत्न और स्नेहका अभाव होता है तो वह उसके कर्तव्यपालनकी बाधा बन जाता है।

ऊपर कहा गया है कि गुरु-शिष्यका सम्बन्ध एक बार स्थापित हो जाने पर एकको दूसरेकी योग्यता अयोग्यताका विचार करनेका अधिकार नहीं रहता, तब गुरुकी भक्ति करना ही शिष्यका कर्तव्य गिना जाता है, और शिष्यको यत्नपूर्वक स्नेहके साथ शिक्षा देना गुरुका भी कर्तव्य हो जाता है। अतएव गुरु-शिष्यका सम्बन्ध स्थापित होनेके पहलेही शिष्यको परीक्षापूर्वक गुरुका चुनाव करना चाहिए, और वैसेही गुरुको भी शिष्यका निर्वाचन करना चाहिए। किन्तु इस तरहका निर्वाचन कठिन है, और अनेक जगह असंभव है। एक तो शिष्य जो है वह बुद्धिके अपरिपक्व और ज्ञानके अल्प होनेके कारण गुरुके निर्वाचनमें समर्थ नहीं हो सकता। अगर कहा जाय कि उसके मा-बाप या अन्य अभिभावक उसके लिए गुरुका निर्वाचन कर दे सकते हैं, तो वर्तमान समयके विद्यालयोंके नियमानुसार वैसा होना संभव नहीं है। छात्र या उसके अभिभावक विद्यालयको छाँट सकते हैं, लेकिन वहांके शिक्षक छाँटनेका उन्हें कोई अधिकार नहीं है। छात्र या उसके अभिभावक ऊँचे दर्जेके सुनियमोंसे संचालित विद्यालय छाँट सकते हैं, किन्तु वहाँ उनके मनका गुरु छाँटा जाना असंभव है। वैसेही गुरु, अर्थात् विद्यालयका शिक्षक, भी अपने मनका छात्र नहीं निर्वाचित कर सकता। वह चाहे जो हो, गुरु और शिष्य दोनोंका कर्तव्य ह कि चित्तको स्थिर करके यथोचित रूपसे परस्पर व्यवहार करके अपने कर्तव्यका पालन करें।

गुरु-शिष्यके सम्बन्धकी और एक विशेषता है। शिष्यसे शासनके द्वारा काम कर लेना गुरुके लिए यथेष्ट नहीं है। गुरुका कर्तव्य शिष्यको शिक्षा देना है, शासन करना नहीं ह। शासन और शिक्षामें बहुत बड़ा अन्तर है। शासनका उद्देश्य है कि शासित व्यक्तिको, उसके हृदयमें चाहे जो हो, बाहर

किसी विशेष कार्यमें प्रवृत्त या उससे निवृत्त करना। शिक्षाका उद्देश्य है कि शिक्षित व्यक्तिके भीतरी दोष संशोधित हो जायँ, और वह उत्कर्ष प्राप्त करे अतएव शासन जो है वह भय दिखाकर हो सकता है, और शिक्षा जो है वह भक्तिका उद्रेक हुए बिना नहीं होती।

८ प्रभु-भृत्यका सम्बन्ध और उसकी नीति।

संसारयात्राके निर्वाहके लिए प्रभु-भृत्यका सम्बन्ध अति आवश्यक है। संसारमें अनेक काम ऐसे हैं जिन्हें हम खुद नहीं कर सकते, अन्यकी सहायतासे वे काम करने होते हैं, और वह सहायता पानेके बदलेमें सहायता करनेवालेको वेतन (तनख्वाह) देना पड़ता है। जहाँ काम ऊँचे दर्जेका है, वहाँ सहायकको भृत्य नहीं कहते, उसे कर्मचारी या सहकारी कहते हैं।

प्रभुका कर्तव्य भृत्यके साथ सदय व्यवहार करना और उसके सुख और स्वच्छन्दता पर भी कुछ दृष्टि रखना है। ऐसा करनेसे उससे बिना ताड़नाके अनायास पूर्णमात्रामें काम करा लिया जा सकता है। उधर भृत्यका कर्तव्य है, सर्वदा यत्नके साथ ध्यान देकर प्रभुका काम करना। ऐसा करनेसे वह प्रभुसे सदय व्यवहार पासकता है। अर्थात् दोनोंमेंसे हरएक अपने कर्तव्यका पालन यत्नपूर्वक करे, तो दोनोंही परस्पर एक दूसरेके कर्तव्यपालनमें सहायता कर सकते हैं, और उसके द्वारा दोनोंका विशेषरूपसे उपकार होसकता है। जो प्रभु भृत्यके ऊपर सहृदयताका भाव रखनेके कारण उससे अधिक परिश्रम न कराकर यथासाध्य अपना काम आप करता है, वह भृत्यको ही भक्तिभाजन नहीं होता, खुद भी बहुत कुछ पराधीनतासे मुक्त रहता है। कारण, जो प्रभु जितना अपने भृत्यसे सेवा लेनेमें व्यग्र रहता है, वह उतना ही अपने भृत्यके वश होजाता है।

९ देनेवाले-लेनेवालेका सम्बन्ध और उसकी नीति।

देनेवाले और लेनेवालेका संबन्ध बड़ा ही विचित्र है। एकका अभाव (कमी) और दूसरेकी उसको पूर्ण करनेकी इच्छा, इन दोनोंके मिलनेसे देनेवाले और लेनेवालेका सम्बन्ध तथा अन्यान्य नाना प्रकारके सम्बन्ध स्थापित होते हैं। वह अभाव धनका भी हो सकता है, सामर्थ्यका भी हो सकता है। बिना बदलेके और के अभावको पूरा करना ही दान कहलाता है, और इस तरहकी अभाव-पूर्तिसे ही दाता और लेनेवालेके सम्बन्धकी सृष्टि

होती है। बदला लेकर अभाव पूर्ण करनेसे उत्तमर्ण (ऋण देनेवाला) अधमर्ण (ऋण लेनेवाला), प्रजा जमींदार, खरीदार बेंचनेवाला, प्रभु भृत्य इत्यादि अनेक प्रकारके सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं।

ऐसा भी हो सकता है कि दाता और लेनेवाला दोनोंही कोई खास आदमी या व्यक्तियोंका समूह या समिति हों; अथवा एक पक्ष कोई खास आदमी हो और दूसरा पक्ष व्यक्तियोंका समूह या समिति हो।

प्राचीनकालके समाजमें और वर्तमान कालके पुराने ढंगके समाजमें, किसी खास आदमीके द्वारा किसी खास आदमीका अभाव पूर्ण होना ही प्रचलित प्रथा थी, और है। पहले इस बातकी मीमांसा हो जाना आवश्यक है कि उस तरहका कार्य कर्तव्य है कि नहीं। एक तरफ सभी देशोंमें क्या कवि और क्या नीतिज्ञ, सभीने दानकी बहुत बहुत प्रशंसा की है। इस देशके स्मृतिशास्त्रमें भी दान की बड़ी महिमा और बड़ाई देख पड़ती है। हेमाद्रि-कृत चतुवर्गचिन्तामणि ग्रन्थका दानखण्ड इस बातका प्रमाण है। इसके सिवा जनसाधारणमें दानकी प्रवृत्ति पैदा करनेके लिए अनेक प्रकारके श्लोक सिद्धान्तोंकी रचना हुई है। उनमेंसे एक यहाँ पर लिखा जाता है।

बोधयन्ति न याचन्ते भिक्षाद्वारा गृहे गृहे।
दीयतां दीयतां नित्यमदातुःफलमीदृशम्॥

अर्थात् भिक्षुक लोग घर घर भिक्षा नहीं माँगते, बल्कि यह उपदेश देते हैं कि न देनेवालेकी ऐसी दशा होती है। इस लिए नित्य दान करते रहो।

दूसरी तरफ अर्थतत्व और समाजतत्व (१) के ज्ञाता पण्डित कहते हैं कि अविवेचनापूर्वक दान करनेसे उसका फल अशुभ या हानिकारी होता है। जो लोग परिश्रम करके अपने और समाजके लिए प्रयोजनीय चीजें उत्पन्न या तैयार कर सकते, वे बैठे बैठे खानेको पाकर आलसी हो जाते हैं, दूसरेके परिश्रमका फल भोग करते हैं, और समाजको उस फलके भोगसे कुछ कुछ वंचित करते हैं। इस कारण विना विचार किये दान करनेसे आलस्यको आश्रय मिलता है। अयोग्य पात्र या कुपात्रको दान देना अवश्यही विधि-विरुद्ध है। भगवान् कृष्णचंद्र कहते हैं—

---

(१) Sidgewick's Political Economy ग्रन्थके शेष अध्यायको इस संबंधमें देखो।

दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।

अर्थात् हे कुन्तीनन्दन, दरिद्रों (गरीबों) का भरण-पोषण करो। समर्थ या धनी आदमीको मत धन दो।

यह महापुरुषका वचन सदा याद रखना चाहिए। परन्तु जो आदमी किसी तरहके अभावसे पड़कर कष्ट पा रहा है, और सहायता चाहता है, वह अपने दोषसे कष्ट पारहा है, यह सोचकर उसे दानके अयोग्य समझना, उसकी प्रार्थनाको एकदम प्रत्याख्यान करना, अर्थात् सूखा जवाब दे देना, कठिन हृदयका कठोर कार्य जान पड़ता है। प्रार्थीके दोष-गुणके अनुसार दानका परिमाण ठीक करना चाहिए। किन्तु प्राणधारणके लिए उपयोगी सहायता पानेके लिए, जान पड़ता है, कोई भी अभाव पीड़ित आदमी अयोग्य नहीं है।

इसके सिवा कोई कोई कहते हैं कि व्यक्तिविशेषका दान जनसाधारणका उतना उपकार नहीं करसकता। उनके मतमें सभीका कर्तव्य यह है कि जो दान किया जाय वह योग्य सभा-समितिके हाथमें दिया जाय, ऐसा होनेसे एक तो दान योग्य पात्रको मिलनेकी संभावना अधिक है, दूसरे दस-पाँच आदमीका दान एकत्र होकर जनसाधारणके विशेष हितकर काममें लगसकता है। यह बात अवश्य सत्य है, लेकिन दानके रुपए सभा समितिके हाथमें जानेसे, जैसे एक तरफ उससे सर्वसाधारणका अधिक हित होनेकी संभावना है, वैसेही दूसरी तरफ उससे सर्वसाधारणकी क्षति भी है। कारण, सभी अगर अपने दानके रुपए सभा समितियोंके हाथमें सौंप दें, तो साक्षात्-सम्बन्धमें हरएक व्यक्तिके दानका परिमाण कम हो जायगा, और अभावपीड़ितके कातर वचनोंपर ध्यान न देनेका और प्रार्थीको विमुख करनेका अभ्यास हो जायगा। इसी तरह उक्त ग्रन्थोंके द्वारा लोगोंकी करुणा-उपचिकीर्षा (उपकार करनेकी इच्छा) आदि अच्छी और श्रेष्ठ प्रवृत्तियाँ धीरे धीरे घट जायँगी। अतएव यद्यपि सभा समितियोंके हाथमें लोगोंका दानकी रकमका कुछ अंश सौंप देना अच्छा है, तथापि हरएक व्यक्तिको चाहिए कि अपने हाथसे दानके योग्य सुपात्रको कुछ कुछ देता रहे। यह न करनेसे अनेक सत्प्रवृत्तियाँ काम न करनेके कारण निस्तेज या निकम्मी हो जायँगी। लेकिन एक बात याद रखना आवश्यक है। प्रार्थीकी कातरोक्तिसे दयार्द्र होकर दान करना जैसे दाताके लिए प्रशस्त और कर्तव्य है, वैसेही प्रार्थीके धन्यवाद और निकटवर्ती लोगोंके प्रशंसावादकी लालसा या लोभसे दान करना अप्रशस्त और अकर्तव्य है।

पाँचवाँ अध्याय ।

राजनीतिसिद्ध कर्म ।

प्रथम भागके छट्ठे अध्यायमें कहा जा चुका है कि राजनीति अत्यन्त गहन विषय है । मगर उसके साथ ही यह बात भी है कि राजनीतिके विषयका कुछ ज्ञान होना सभीके लिए आवश्यक है । कारण, राजा और प्रजा दोनोंके लिए राजनीतिसिद्ध कर्म कर्तव्य हैं, और राजनीतिविरुद्ध कर्म अकर्तव्य हैं ।

राजनीति दो कारणोंसे अतिदुरूह विषय है । एक तो राजनीतिक तत्त्वका निरूपण करना कठिन है । मनुष्यप्रकृति विचित्र है । वह देशकाल-अवस्थाके भेदसे अनेक प्रकारके भाव धारण करती है । अतएव मनुष्य किसी तरहकी राजशक्ति पानेपर उसका कैसा प्रयोग करेगा, और किस प्रणालीसे शासित होने पर ही वह कैसा आचरण करेगा, यह ठीक करना सहज नहीं है । यद्यपि अनेक प्रकारकी शासन प्रणालियोंका फलाफल इतिहास दिखा देता है, किन्तु समाजकी वर्तमान परिवर्तित अवस्थामें किस तरहके परिवर्तन या संशोधनका क्या फल होगा, यह अनुमान करके ठीक कहा नहीं जा सकता। दूसरे, राजनीतिविषयक आलोचना भी यथायोग्य रूपसे और केवल सत्यपर दृष्टि रखकर होनेके पक्षमें विघ्न है । पूर्वसंस्कार और स्वार्थपरताके कारण अनेक लोग या तो राजाके पक्षपाती हैं, या प्रजाके पक्षपाती हैं । जो लोग निरपेक्ष हैं, उनमें भी अनेक लोग यह सोचकर कि उनके कथनसे राजा या प्रजाको प्रश्रय मिलेगा, असंकुचित भावसे समालोचना करनेमें कुंठित होते हैं ।

किन किन बातोंकी अलोचना होगी ?

राजनीतिविषयक कुछ ज्ञान सभीके लिए आवश्यक है, इसीलिए, राजनीति दुरूह विषय होनेपर भी, उसके सम्बन्धमें यहाँपर कई एक बातोंकी अलोचना किये बिना रहा नहीं जा सकता । वे बातें ये हैं—

१–राजा प्रजाके संबन्धकी उत्पत्ति, निवृत्ति और स्थिति ।

२–राजतन्त्रके और राजा-प्रजासम्बन्धके भिन्न भिन्न प्रकार। ब्रिटन और भारतका सम्बन्ध।

३–प्रजाके प्रति राजाका कर्तव्य।

४–राजाके प्रति प्रजाका कर्तव्य।

५–एक जातिके या राज्यके प्रति अन्य जातिका या राज्यका कर्तव्य।

१ राजा-प्रजाके सम्बन्धकी उत्पत्ति, निवृत्ति और स्थिति।

राजा-प्रजा सम्बन्धकी उत्पत्ति आदिकी आलोचना करनेके लिए पहले यह जानना आवश्यक है कि वह सम्बन्ध कैसा है। सूक्ष्मभावसे देखनेमें वह सम्बन्ध अनेक रूप है। इस विषयका विशेष विवरण पीछे दिया जायगा। इस समय यह बताया जाता है कि स्थूलरूपसे राजा और प्रजाका संबन्ध किस प्रकारका है।

राजा-प्रजा-सम्बन्धका स्थूल लक्षण।

मनुष्यकी प्रकृतिमें दो परस्पर-विरोधी गुण हैं। मनुष्य अपनी इच्छाके अनुसार चलना चाहता है, और अन्य कोई अगर उस इच्छाका विरोधी होता है तो वह उसके साथ झगड़ा करता है, और फिर अन्य मनुष्यके साथ मिलकर रहना भी चाहता है। मगर आदिम असभ्य अवस्थामें वह मिलन अपना प्रभुत्व प्रकट करनेके वास्ते, और अन्यके द्वारा अपना काम निकालनेके लिए, होता है। इस प्रकार एक जगह दल बाँधकर रहनेमें उस दलके लोगोंके बीच अनेक समय परस्पर विरोध उपस्थित होता है। कभी कभी अन्य देशके लोगोंके साथ भी विरोध हो जाता है। उन सब झगड़ोंको मिटानेके लिए, और बाहरी शत्रुओंके दमनके लिए, वही आदमी जो दलबद्ध व्यक्तियोंके बीच बलमें या बुद्धिमें श्रेष्ठ होता है, सारे दलपर कर्तृत्व करता है और दलका सञ्चालक होता है। दलके प्रयोजनीय कार्य चलानेके लिए दलके ऊपर एक आदमी या कई आदमियोंका कर्तृत्व करना ही राजा-प्रजाके सम्बन्धका मूल लक्षण है। जो एक आदमी या अनेक आदमी इस तरहका कर्तृत्व करते हैं, उसको या उनको राजा या राजशक्ति कहते हैं। जिनके ऊपर वह कर्तृत्व किया जाता है वे प्रजा कहे जाते हैं।

राजा-प्रजा-सम्बन्धकी सृष्टिके विषयमें मतभेद।

राजा और प्रजाके सम्बन्धकी उत्पत्ति कैसे हुई, इस बारेमें मतभेद हैं। एक मत यह है कि जिनके बीच यह सम्बन्ध है, उनकी इच्छाके अनुसार ही

इस सम्बन्धकी सृष्टि हुई है (१) । इसके विरुद्ध दूसरा मत यह है कि लोगोंने एकत्र होकर राजा-प्रजाके सम्बन्धकी सृष्टि नहीं की । वह हरएक जगह क्रमशः उत्पन्न होकर वृद्धिको प्राप्त हुआ है । अवस्थाभेदके अनुसार उसने अनेक रूप धारण किये हैं । इन दोनों मतोंमें कुछ कुछ सत्यका अंश है, किन्तु संपूर्ण रूपसे सत्य कोई नहीं है ।

पहले मतमें इतनासा सत्यका अंश है कि जिनमें जिस भावसे राजा-प्रजाका सम्बन्ध है उनकी या उनमेंसे अधिकांशकी, उस सम्बन्धके उस भावसे रहनेके बारेमें प्रकाश्य भावसे भले ही न हो किन्तु प्रकारान्तरसे सम्मति है । कमसे कम उसमें कोई आपत्ति नहीं है । क्योंकि अगर संमति न होती, आपत्ति होती, तो वह सम्बन्ध कभी नहीं रह सकता । किन्तु इसी लिए यह नहीं कहा जा सकता कि वह सम्बन्ध उनकी स्पष्ट संमतिके अनुसार उत्पन्न हुआ है । जैसे लोगोंकी प्रकाश्य संमतिसे भाषाकी प्रथम सृष्टि होना असंभव है, (क्योंकि ऐसा नहीं माननेसे यह प्रश्न उठता है कि वह संमति किस भाषामें दी गई थी ?) वैसे ही लोगोंकी प्रकाश्य संमतिसे प्रथम राजा-प्रजा-सम्बन्धकी सृष्टि होना असंभव मान लेनेसे यह प्रश्न उठता है कि समाजमें राजा-प्रजाके संबन्धकी प्रथम सृष्टि होनेके पहले किसके नेतृत्वमें एकत्र होकर लोगोंने उस सम्बन्धकी सृष्टि की ?

दूसरा मत यहीं तक सत्य है कि राजा-प्रजाका सम्बन्ध किसी एकदिन शुभ या अशुभ घड़ीमें लोगोंकी प्रकाश्य संमतिसे नहीं उत्पन्न हुआ है । मनुष्यकी स्वाभाविक प्रकृतिके अनुसार क्रमशः मानवसमाजके बीच इस सम्बन्धकी सृष्टि हुई है । किन्तु इसी लिए यह नहीं कहा जा सकता कि जिन लोगोंके बीच इस सम्बन्धका उद्भव हुआ है, उनका मतामत उस उद्भवकी कल्पनाके सम्बन्धमें एकदम गिनने योग्य ही नहीं है । इस सम्बन्धकी सृष्टिके अन्याय कारणोंमें एक कारण उनकी प्रकाश्य रूपसे या प्रकारान्तरसे दी हुई संमति भी है, जो लोग इस सम्बन्धमे बँधे हुए हैं ।

राजा-प्रजा-सम्बन्धकी उत्पत्ति भिन्न भिन्न देशोंमें, भिन्न भिन्न समयोंमें, किस तरह हुई है, यह उन उन देशोंके उस उस समयके इतिहासका विषय है । किन्तु इस सम्बन्धकी प्रथम सृष्टि भाषा आदि अन्यान्य अनेक विषयोंकी

(१) Hobbe's Leaviathan, chap. 18 इस सम्बन्धमें देखो ।

प्रथम सृष्टिकी तरह, इतिहास सृष्टिके पहले हुई है। अतएव इतिहास इस विषय की आलोचनामें विशेष सहायता नहीं कर सकता। लेकिन हाँ, साहित्य और प्राचीन रीति-नीति, जिनकी उत्पत्ति इतिहासके पहले हुई है, उनमें राजा-प्रजाके सम्बन्धकी उत्पत्तिके जो निदर्शन पाये जाते हैं, उनका संकलन करके पण्डितोंने अनेक तत्त्वोंका निर्णय किया है (१)। यहाँपर विस्तारके साथ उन सब बातोंके लिखनेका प्रयोजन नहीं है। संक्षेपमें इतना कहना ही यथेष्ट होगा कि प्राचीन भारतमें (२) और ग्रीसमें (३) यह विश्वास प्रचलित था कि राजा और प्रजाके सम्बन्धको ईश्वरने स्थापित किया है, और राजा जो है वह पृथ्वीपर ईश्वरका प्रतिनिधि है। मिश्र और पारसीक अर्थात् ईरान देशके सम्बन्धमें भी यही बात कही जा सकती है (४)।

पुरातत्त्वके अनुसन्धानकी बात छोड़ दीजिए, ऐतिहासिक कालमें भिन्न भिन्न देशोंमें राजा-प्रजाका सम्बन्ध किस तरह उत्पन्न हुआ है—इसका अनुशीलन करनेसे भी देखा जाता है कि यह सम्बन्ध अनेक देशोंमें अनेक कारणोंसे अनेक रूप रखकर धीरे धीरे प्रकट हुआ है। इसका सूक्ष्मविवरण बहुत विस्तृत ह। स्थूलरूपसे केवल यही कहा जा सकता है कि प्रधान प्रधान देशोंका वर्तमान राजा और प्रजाका सम्बन्ध (अर्थात शासनप्रणाली,) कहीं बिना विप्लवके पूर्वप्रणालीका संशोधन करके, कहीं राष्ट्रविप्लवपूर्वक पूर्वप्रणालीका परिवर्तन करके, कहीं युद्धमें पराजय या सन्धिके फलसे पूर्व राजतन्त्रकी जगह नवीन राजतन्त्रका स्थापन करके, उत्पन्न हुआ है। शान्त भावसे संशोधन, विप्लवके द्वारा परिवर्तन, और पराजयमें नवीन राजतन्त्रका स्थापन, वर्तमान कालके राजा-प्रजा-सम्बन्धकी उत्पत्ति अथवा निवृत्तिके ये ही तीन तरहके कारण हैं।

जगतमें जो कुछ है, सब परिवर्तनशील है, कुछ भी स्थिर नहीं है। उस परिवर्तनकी गति प्रायः उन्नतिकी ओर ही होती है। हाँ, कभी कभी वर्त-

(१) Maine's Early History of Institutions, Lectures XII, XIII, और Bluntschli's Thory of The State Bk. I, Ch, III, देखो।

(२) मनुसंहिता अ० ७ श्लोक ३–५ देखो।

(३) Grote's History of Greece, Pt. I, Ch. XX. देखो।

(४) Bluntschli's Theory of The State, Bk. VI, Ch. VI. देखो।

मानमें अवनतिकी ओर होती हुईसी जान पड़ती है। किन्तु कुछ मन लगा-कर देखनेसे अधिकांश स्थलोंमें समझा जा सकता है कि वह वक्रगति कुछ ही समय तक रहनेवाली है, और परिणाममें सभी परिवर्तनोंकी गति उन्नतिकी ओर होगी। इस प्रश्नका उत्तर अपूर्ण मानवबुद्धि नहीं दे सकती कि पूर्ण उन्नति पानेके बाद सृष्टिका कौन भाग अलग रहेगा, या अनन्त ब्रह्ममें लीन होगा।

पृथ्वीके राजतन्त्रके परिवर्तनकी परिणति क्या होगी, यह कहा नहीं जा सकता। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि ग्रीस और रोमके प्राचीन साम्राज्यके ध्वंस होनेके जो सब कारण उपस्थित हुए थे, उन कारणोंके उपस्थित होनेकी फिर संभावना नहीं है। एक तो बाहरके वैसे अविवेचक अन्य बलशाली शत्रुओंका किसी वर्तमान राज्यके विरुद्ध खड़े होना संभवपर नहीं है। कारण, इस समय जो सब जातियाँ क्षमतासंपन्न हैं, वे रोम-साम्राज्यके शत्रु गथ् और वैण्डल् जाति-योंकी तरह अविवेचक और अन्ध नहीं हैं, वे बहुत सोच विचार कर काम करती हैं। और, जो सब असभ्य जातियाँ इस समय पृथ्वीपर हैं, उनके द्वारा किसी सभ्यजातिकी हार होना संभवपर नहीं है; बल्कि खुद उन्हींके पराजित होनेकी संभावना है। मतलब यह कि इस समय जय-पराजय जो है वह बहु बलके उत्कर्ष-अपकर्षपर निर्भर नहीं है। दूसरे, भीतरके शत्रु, अर्थात आलस्य विलासिता, अविवेचना, अविचार आदि, जिन्होंने पतनके पहले रोमपर आक्र-मण किया था, उन्होंने भी इस समयकी किसी बड़ी जातिपर आक्रमण नहीं किया है, किन्तु तो भी यह बात नहीं कही जा सकती कि युद्ध-विग्रहकी कोई संभावना नहीं है। एक समय जनसाधारणकी और पण्डितों (विद्वानों या समझदारों) की धारणा थी कि मनुष्य असभ्य या अर्ध-सभ्य अवस्थामें ही युद्धप्रिय होता है, और राज्य बढ़ानेमें लगा रहता है, क्रमशः सभ्यताकी वृद्धि और शिल्प-वाणिज्यका विस्तार होनेपर शान्तिप्रिय हो जाता है। किन्तु इस समय देखा जाता है कि शिल्पकी वृद्धि और वाणिज्यके विस्तारके साथ साथ युद्धकी चाट भी बढ़ती है, और शिल्प या वाणिज्यके बाजार बनाये रखनेकी चेष्टा अनेक जगह युद्धका कारण हो उठती है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि राष्ट्रविप्लवके द्वारा राजतन्त्रके परिवर्तन और नवीन राजा-प्रजाके सम्बन्ध (शासन प्रणाली) की सृष्टिका जमाना चला

गया। यद्यपि फ्रांसके विप्लवकी भयानक घटना और उसका अशुभ फल स्मरण रखकर कोई भी जाति अब फिर वैसे राष्ट्रविप्लवमें लिप्त होना नहीं चाहेगी, तथापि इस समय भी अनेक देशोंमें राजतन्त्रके परिवर्तनके लिए साधारण विप्लव चल रहे हैं।

देशकी और समाजकी अवस्था बदलनेके साथ साथ राजतन्त्रके परिवर्तन-का प्रयोजन होता है। वह परिवर्तन विना विप्लवके शान्त भावसे होना चाहिए, और ऐसा होनेहीमें भलाई है। यह बड़े सुखकी बात है कि अनेक जगह ऐसा ही हो रहा है।

राजा-प्रजासम्बन्धकी उत्पत्तिके कारणोंके साथ साथ जो निवृत्तिके कार-णोंका उल्लेख किया गया है, वह निवृत्ति पहलेके राजतन्त्रके परिवर्तनका फल है। जहाँ पहलेका राजतन्त्र राजा और प्रजा दोनों पक्षोंकी इच्छासे परिवर्तित होता है (जैसे शान्त भावसे संशोधनके द्वारा), अथवा एक पक्ष या राजाकी अनिच्छासे किन्तु अन्य पक्ष या प्रजाकी इच्छासे परिवर्तित होता है (जैसे राष्ट्रविप्लवके द्वारा), या दोनों पक्षोंकी अनिच्छासे परिवर्तित होता है (जैसे अन्य राजाके निकट पराजयके द्वारा), वहाँ पहलेके राजा या राजशक्तिके परिवर्तनके साथ साथ अवश्य ही पहलेके राजा-प्रजा-सम्बन्धकी भी निवृत्ति (समाप्ति) हो जायगी। किन्तु इसके सिवा इस सम्बन्धकी और एक प्रकारसे निवृत्ति भी संभव है। किसी देशमें राजतन्त्रका तो कोई परिवर्तन नहीं हुआ, परन्तु प्रजाओंमेंसे कोई कोई उस देशके राजाकी प्रजा न रहकर देशान्त-रमें उठ जाकर वहाँके राजाकी प्रजा होनेकी इच्छा कर सकते हैं। इसमें यह प्रश्न उठता है कि ऐसा कार्य न्याय-संगत है कि नहीं, अर्थात् कोई प्रजा अपनी इच्छासे उस सम्बन्धको, जो उसका राजाके साथ है, न्यायके अनुसार तोड़ सकता है कि नहीं। अगर वह उस राजाके राज्यमें रहनेके सब सुभीते भोग करेगा, लेकिन उसकी अधीनता नहीं स्वीकार करेगा, तो यह न्याय-संगत नहीं हो सकता। दूसरे, अगर इस सम्बन्धको तोड़नेका अधिकार एक प्रजाको रहे, तो वह और दस आदमियोंको भी है; सौ आदमियोंको भी है, हजार आदमियोंको भी है। ऐसा होनेपर धीरे धीरे राज्यकी बहुतसी प्रजा केवल अपनी इच्छासे स्वाधीन हो सकती है। उससे राज्यके सुख और शान्तिमें अनेक विघ्न होनेकी संभावना है। जो प्रजा राजाके साथ सम्बन्ध तोड़ना

चाहती है, वह अगर अन्य राजाके राज्याधिकारमें जाना चाहे, तो उसकी इच्छा पहले कुछ अन्याय नहीं जान पड़ती। किन्तु कुछ विचार करके देखनेसे इस जगह भी प्रजाकी इच्छाके अनुसार राजा-प्रजाके सम्बन्धको विच्छिन्न करनेका अधिकार सभी अवस्थाओंमें न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता (१)। अनेक समयोंमें प्रजाके ऐसे कार्यमें आपत्तिका कारण नहीं भी रह सकता है। किन्तु वह प्रजा जिस राज्यमें जाकर रहनेकी इच्छा करती है उस राज्यके राजाके साथ अगर उसके पहलेके राजाका वैर हो, तो उस प्रजाका वह कार्य उसके पूर्व-राजाके और उसके देशके लिए भावी अनिष्टका कारण हो सकता है।

राजा-और प्रजामें होनेवाले सम्बन्धकी उत्पत्तिकी आलोचनाके बाद ही उसकी स्थितिकी आलोचना न करके, उसकी निवृत्तिकी बात कहनेका तात्पर्य यह है कि अनेक जगह इस सम्बन्धकी एक ओर उत्पत्ति और दूसरी ओर निवृत्ति एक साथ ही होती है। अतएव उत्पत्तिकी बात कहनेमें निवृत्तिकी बात आपहीसे आ जाती है। जब किसी देशका राजतन्त्र, शान्त भावसे हो या विप्लव और पराजयके द्वारा हो, परिवर्तित होता है, तब नवीन राजा या राजशक्तिके साथ प्रजाका राजा-प्रजा-सम्बन्ध उत्पन्न होनेके साथ ही पहलेके राजाके साथ रहनेवाले उसीप्रकारके सम्बन्धकी निवृत्ति हो जाती है। इसी लिए राजा-प्रजा-सम्बन्धकी स्थितिकी बात कहनेके पहले ही उसकी निवृत्तिकी बात कही गई है।

राजा-प्रजा-सम्बन्धकी स्थिति।

अब राजा-प्रजा-सम्बन्धकी स्थितिका कुछ वर्णन किया जायगा।

यद्यपि राजा-प्रजा-सम्बन्धकी उत्पत्ति अनेक जगह (जैसे विप्लव और पराजयमें) शारीरिक बलके प्रयोगका फल है, किन्तु उसकी बहुत समय तक स्थिति कभी शारीरिक बलके ऊपर नहीं टिक सकती। कोई राजा या राजशक्ति प्रजाको उसके इच्छाके विरुद्ध केवल शारीरिक बलके द्वारा अधिक समय तक बाध्य नहीं रख सकती। ऐसी जगह जिस प्रकारका बल प्रयोग आव-

---

(१) इस सम्बन्धमें Sidgwick's Elements of Politics, ch. XVIII, P. 295 देखो।

श्यक है, वह इतने अधिक आयास और व्ययसे साध्य है, और उसका प्रतिरोध करनेकी प्रवृत्ति क्रमशः इतनी प्रबल हो उठती है कि अन्तको राजाको, इच्छा या अनिच्छाके साथ, उस बलका प्रयोग रोकना ही पड़ता है। यह सच है कि देशके भीतरी और बाहरी शत्रुओंके कायिक बलके अत्याचारसे प्रजाकी रक्षा करना ही राजाका प्रधान कार्य है, और उसके लिए राजाको शारीरिक बलका प्रयोजन होता है। किन्तु प्रजाका शासन करनेके लिए—उसे काबूमें रखने या दबानेके लिए—कायिक बल प्रयोजनीय होनेपर भी वह यथेष्ट नहीं है। उसके लिए प्रजावर्गकी, कमसे कम उनमेंसे अधिकांशकी, प्रकाश्यरूपसे या अन्य प्रकारसे दी हुई संमति आवश्यक है। वह संमति भयसे उत्पन्न या भक्तिसे उत्पन्न हो सकती है, किन्तु वह भय या भक्ति राजाके कायिक बल अर्थात् सैनिक बलके द्वारा नहीं उत्पन्न होती, वह राजाके नैतिक बल अर्थात् उसकी न्यायपरता और शासनकी उपकारितासे उत्पन्न हुआ करती है (१)। कायिक बलकी बाधिका (रोकनेवाली) शक्ति बहुत समय तक टिकनेवाली नहीं होती, नैतिक बलहीका कार्य स्थायी होता है। क्या राजा और क्या प्रजा, सभीको नैतिक बलका प्रभाव स्वीकार करना पड़ता है। राज्य और राजा-प्रजा-सम्बन्ध दोनोंकी स्थितिकी नींव राजाका नैतिक बल है। एक तरफ जैसे प्रजाको राजद्रोहसे निवृत्त रखनेके लिए राजाके नैतिक बलकी आवश्यकता है, दूसरी तरफ वैसे राजाको प्रजा पीड़नसे निवृत्त रखनेके लिए प्रजाको नैतिक बलका प्रयोजन है। राजाके न्यायपरायण और सुनीतिसम्पन्न होनेसे जैसे प्रजा उसके विरुद्ध आचरण करनेकी इच्छा नहीं करती, वैसे ही प्रजावर्गके न्यायपरायण और सुनीतिसंपन्न होनेसे राजा भी उनके सुख और स्वच्छन्दताके प्रति उदासीन नहीं हो सकता। राजाके न्यायपरायण न होनेसे उसके प्रति प्रजाके हृदयमें यथार्थ भक्तिका होना संभव नहीं है, और अशिष्ट प्रजागणका उसके विरुद्ध आचरणमें प्रवृत्त होना असंभव नहीं है। इसका फल यह होता है कि राजा प्रजाके प्रति और भी अप्रसन्न होता जाता है, और क्रमशः राजा और प्रजामें परस्पर असद्भाव बढ़ता रहता है। उधर प्रजा अगर न्यायपरायण न होकर उद्दण्ड

(१) Maine's Early History of Institutions, P. 359, और Bluntschli's Theory of the State, P. 265 देखो।

भाव धारण करती है तो राजा उसके शासनके लिए दृढ़ नियम स्थापित करनेकी प्रवृत्ति और भी उत्तेजित होती है और क्रमशः राजा और प्रजाका विरोध बढ़ता ही जाता है। अतएव राजा और प्रजाके बीचमें किसी एक पक्षका व्यवहार अनुचित होनेसे वह दोनों पक्षोंके लिए अनिष्टकर हो उठता है। इस लिए राज्यकी शान्तिरक्षा और अपनी अपनी भलाईके वास्ते राजा और प्रजा दोनों पक्षोंको परस्पर न्यायका व्यवहार करना चाहिए। यही दोनोंका कर्तव्य है।

२ राजतन्त्रके और राजा-प्रजा-सम्बन्धके भिन्न भिन्न प्रकार।

राजतन्त्रके भिन्न भिन्न प्रकारोंकी आलोचनाके पहले, पूर्ण या स्वाधीन राजतन्त्रका लक्षण क्या है, यह निश्चित करनेकी आवश्यकता है। पूर्ण राजतन्त्र वही कहा जाता है जिसके निकट उसके अन्तर्गत सभी व्यक्ति अधीनता स्वीकार करें, और जो खुद अन्य किसीके निकट अधीनता न स्वीकार करे। अर्थात् जिस राजतन्त्रकी प्रजा उसके निकट संपूर्ण रूपसे अधीन है, और जिसकी राजशक्ति खुद किसीके अधीन नहीं है, उसीको पूर्ण-राजतन्त्र कहते हैं। और, उसी तरहके राजतन्त्रकी शक्तिको पूर्ण-राजशक्ति कहते हैं।

एकेश्वरतन्त्र।

जिस शासनप्रणालीमें, एक व्यक्तिके हाथमें पूर्ण-राजशक्ति है, अर्थात् जहाँ एक आदमीकी इच्छाके अनुसार सब काम चलता है, और उसके निकट देशके सभी लोग अधीनता स्वीकार करते हैं, किन्तु वह व्यक्ति खुद किसीके भी अधीन नहीं है, उसको **एकेश्वरतन्त्र** (Monarchy) कहते हैं, और वह एकेश्वर राजा कहलाता है। वह राजा पहलेके राजाके उत्तराधिकार-सूत्रसे राज्य पा सकता है, अथवा प्रजावर्गके द्वारा निर्वाचित हो सकता है।

यह सबकी अपेक्षा सबल राजतन्त्र है।

विशिष्ट प्रजातन्त्र।

जिस शासनप्रणालीमें देशके खास आदमियोंके समूहके या उनके किसी खास विभागके, हाथमें राजशक्ति होती है, वह **विशिष्ट प्रजातन्त्र** (Aristocracy) कहलाती है। कार्यनिर्वाहकी सुविधाके लिए इस तरहके विशिष्ट प्रजातन्त्रमें एक निर्दिष्ट समयके लिए निर्दिष्ट नियमके अनुसार एक आदमी सभापति निर्वाचित हुआ करता है।

साधारण प्रजातन्त्र।

जिस शासनप्रणालीमें देशके साधारण प्रजावर्गके, उन लोगोंमेंसे निर्दिष्ट लक्षणयुक्त प्रजागणकी समष्टिके, हाथमें राजशक्ति है, वह साधारण प्रजातन्त्र (Democracy) कहलाती है। प्रजाकी संख्या अधिक होनेपर (वर्तमान कालमें सभी देशोमें प्रजाकी संख्या अधिक है) यह संभवपर नहीं है कि प्रजावर्ग एकत्र होकर राष्ट्रका काम चला सकें। अतएव वर्तमान कालमें प्रजावर्ग साधारण प्रजातन्त्रके राजकार्यके सम्पादनार्थ नियमितरूपसे निर्दिष्ट या अनिर्दिष्ट कालके लिए यथासंभव निर्दिष्ट संख्याके प्रतिनिधियोंका निर्वाचन करता है, और उन्हीं प्रतिनिधियोंका समूह राष्ट्रके सब कामोंको चलाता है। किसी किसी राजनीतिज्ञका (१) मत है कि ऊपर लिखी हुई विविध प्रकारकी शासनप्रणालियोंके सिवाय और भी एक शासनप्रणाली है, अथवा यों कहो कि पूर्वकालमें थी, और उसे 'पुरोहित-तन्त्र' कह सकते हैं।

ऊपरकी प्रथमोक्त तीन प्रकारकी मूल शासनप्रणालियोंमें कहीं एक और कहीं दूसरी प्रचलित है। और, किसी किसी देशमें इन तीनों प्रणालियोंकी, या उनमेंसे किन्हीं दोकी, मिश्रित शासनप्रणाली प्रचलित है। जैसे ब्रिटिश-साम्राज्यमें राजा, विशिष्ट प्रजाओंकी सभा (हाउस आफ लार्ड्स) और साधारण प्रजाओंकी सभा (हाउस आफ कामन्स) इन तीनोंका अपूर्व मिलन देख पड़ता है, और इन तीनोंके मिलनेसे जो सभा (पार्लमेण्ट) गठित है, उसीके हाथमें पूर्ण राजशक्ति है।

भिन्न भिन्न शासनप्रणालियोंके दोष-गुण।

ऊपर लिखी गई पहलेकी तीन शासनप्रणालियोंमेंसे हरएक दोष-गुण-युक्त है। एकेश्वर राजतन्त्रमें गुण यह है कि उसकी शक्ति अन्य प्रकारके राष्ट्रतन्त्रोंकी शक्तिकी अपेक्षा अधिक प्रबल होती है, और अधिक सहजमें ही उसका परिचालन होता है। एक आदमीके हाथमें क्षमता रहनेसे जितने सहजमें उसका प्रयोग हो सकता है, दस आदमियोंके हाथमें क्षमता रहनेसे उतने सहजमें उसका प्रयोग होना

---

(१) Bluntschli's Theory of the State, Bk VI, chs. 1 and VI देखो।

कभी संभव नहीं है । क्योंकि दस आदमियोंके, परस्परके मतका सामञ्जस्य करके काम करनेमें अवश्य ही कुछ समय लगता है, और हर एककी इच्छा और उद्यमको दूसरेकी इच्छा और उद्यमके साथ मेल खानेके लिए अवश्य ही कुछ घटना पड़ेगा । एकेश्वर राजतन्त्रका दोष यह है कि जिसका एकाधिपत्य है वह अगर असाधारण ज्ञानी नहीं हुआ, तो उसकी शासनप्रणालीमें विचक्षणताका अभाव रहेगा, और वह अगर असामान्य साधुस्वभावका पुरुष नहीं हुआ, तो क्षमताके अपव्यवहारसे रुकना उसके लिए कठिन है ।

विशिष्ट प्रजातन्त्रका गुण यह है कि उसमें देशके श्रेष्ठ लोगोंकी समष्टिके हाथमें राजशक्ति रहनेके कारण राष्ट्र-शासनमें विचक्षणताका अभाव नहीं होता । किन्तु उसका दोष यह है कि उसकी शक्ति एक राजाके हाथमें अर्पित शक्तिकी तरह प्रबल और सहजमें चलानेके योग्य नहीं होती । और, विशिष्टप्रजातन्त्रमें साधारण प्रजावर्गके हित पर भी उतनी दृष्टि रहना संभवपर नहीं है । साधारण प्रजातन्त्रमें गुण यह है कि उसमें साधारण प्रजावर्गके हितके ऊपर विशेष दृष्टि रहती है । साधारण प्रजातन्त्रमें दोष यह है कि उसमें राजशक्तिकी प्रबलता और सहज-परिचालन-योग्यताका ह्रास होता है ।

भिन्न भिन्न प्रकारके राजतन्त्रोंमें राजाप्रजाका सम्बन्ध भिन्न भिन्न भाव धारण करता है । एकेश्वर राजतन्त्रमें राजा और प्रजाका पार्थक्य तथा राजाके निकट प्रजाकी अधीनता अत्यन्त अधिक होती है । विशिष्टप्रजातन्त्रमें संभ्रान्त (धनी) प्रजा जो है हह समष्टिरूपसे राजा है और व्यष्टिरूपसे साधारण प्रजावर्गकी तरह प्रजा है । और, साधारण प्रजातन्त्रमें प्रजावर्ग समष्टिरूपसे राजा और व्यष्टिरूपसे प्रजा होते हैं । इन दोनों तरहके प्रजातन्त्रोंमें राजा और प्रजाका पार्थक्य उतना अधिक नहीं है, और प्रजापुंजकी स्वाधीनता भी उतनी थोड़ी नहीं है ।

इनके सिवा और एक प्रकारकी राजा-प्रजाके सम्बन्धकी विचित्रता है, वह भी इस जगह पर उल्लेखयोग्य है । किसी जातिको कोई दूसरी जाति जीत ले, तो वह हारी हुई जाति विजेताकी अधीनता स्वीकार करनेके लिए और उसकी प्रजा होनेके लिए बाध्य होती है । लेकिन उसके साथ ही विजयी राजतन्त्रमें अगर प्रजाका कुछ कर्तृत्व रहता है (जैसे वह राजतन्त्र अगर प्रजातन्त्र हो), तो वह विजित जाति उस कर्तृत्वका कोई अंश नहीं पाती । न पानेका कारण भी है । विजयी जातिका विजित जातिको सन्देहकी दृष्टिसे देखना

स्वाभाविक ही है । विजित जाति भी फिर अपनी खोई हुई स्वाधीनताको पानेके लिए व्यग्र रहती है, और उसका सुयोग खोजती है । यही कारण है कि विजयी जाति विजित जातिको राजतन्त्रमें शामिल करनेका साहस नहीं करती । कभी कभी ऐसा भी होता है कि विजेताकी उदारता और विजितकी शिष्टताके कारण परस्पर पर होनेवाला सन्देह और असद्भाव क्रमशः कम हो जाता है, और उनके बीच सद्भाव उत्पन्न होता है । किन्तु दुःखका विषय यह है कि अनेक स्थलोंमें वह सद्भाव स्थायी नहीं होता । विजयी जातिके निकट शिक्षा प्राप्त करके, और उनकी स्वाधीनताका आदर्श देखकर, अगर विजित जाति क्रमशः विजेताके समकक्ष होनेकी चेष्टा करती है, तो फिर वही असद्भाव आपसमें उठ खड़ा होता है । ऐसे स्थलमें दोनों पक्षोंका थोड़ा बहुत दोष रहता है । विजित जाति जब विजयी जातिके निकट शिक्षा-लाभ करके और उनके आदर्शको देखकर राजनीतिकक्षेत्रमें उन्नति प्राप्त करती है, तब उन दोनोंमें एकप्रकारसे गुरु-शिष्यका सम्बन्ध उत्पन्न होजाता है । ऐसी अवस्थामें विजेताके प्रति योग्य सम्मान और कृतज्ञता नहीं दिखाना विजितके लिए अकर्तव्य है । उधर विजितकी उन्नति देखकर गुरुको शिष्यकी उन्नतिमें जैसा आनन्द होता है, वैसे आनन्दका अनुभव न करके विरुद्धभावको अपने मनमें स्थान देना विजेताके लिए भी अकर्तव्य है । इन सब स्थलोंमें परस्पर सद्भाव बढ़नेमें और एक विघ्न कभी कभी देखा जाता है । विजेता राजा (या राजशक्ति) विजितके साथ राजा-प्रजाके सम्बन्धको चिरस्थायी बनानेकी और विजितके निकट राजभक्ति पानेकी इच्छा करता है । किन्तु विजयी जातिके अनेक लोग अपनी जातिके अभिमानसे गर्वित होकर विजित जातिको पराधीन समझते और उससे घृणा करते हैं । इसका फल यह होता है कि विजित जातिके अनेक लोगोंके मनमें राजभक्तिकी जगह विद्वेषका भाव और फिर स्वाधीनता पानेकी दुराकांक्षा उद्दीपित होती है । और, वे वह विद्वेषभाव दिखानेके लिए, उससे स्वजातीय लोगोंकी भलाई या लाभ हो अथवा न हो, विजयी जातिके व्यापारियोंके लाभको हानि पहुँचानेके लिए विपुल घोषणा करते हैं । इस प्रकार परस्परका असद्भाव बढ़ता ही रहता है । कोई कोई कहते हैं, ऐसे स्थलमें परस्परका असद्भाव अनिवार्य है ।

ऐसे असद्भावकी जड़में दोनों ही पक्षोंकी न्यायपरता और सत् विवेचनाका कुछ अभाव है । सुतरां जहाँ दोनों ही पक्ष सभ्य जाति होनेका अभिमान

करती हैं, वहाँ उस असद्भावको अनिवार्य कहनेकी इच्छा नहीं होती। और, अनिवार्य कहनेसे सभ्यता और मानवचरित्रपर कलङ्क आरोपित होता है। इस बातको कुछ विवेचना करके देखना चाहिए।

एक जातिको दूसरी जाति जब जीतती है, तब दोनों अगर सभ्यतामें समान न हुए, तो अपेक्षाकृत असभ्यजाति अधिक सभ्यजातिके निकट शिक्षा प्राप्त करती है। रोमकी उन्नत अवस्थामें विजित असभ्यजातियोंने रोमके निकट शिक्षा प्राप्त की थी। उधर रोमकी अवनत अवस्थामें विजयी जर्मनीके अरण्यवासियोंने भी उसी रोमहीके निकट शिक्षा पाई थी। इस तरहके स्थलमें शिक्षा और श्रद्धाके लेन-देनेसे, और सामाजिक तथा पारिवारिक बन्धनसे, विजित और विजेताके बीच क्रमशः सद्भाव बढ़ते बढ़ते अन्तको दोनों एक जाति हो जाते हैं। किन्तु जहाँ जित और जेताकी सभ्यता तुल्य या तुल्यके लगभग है, और उनकी समाजनीति और धर्म इतना जुदा है कि उनका परस्पर सामाजिक या पारिवारिक बन्धनमें बँधना असंभव है, वहाँ उनका परस्पर मिलकर एक जाति होना असंभव है—वैसी आशा नहीं की जासकती। अतएव उस जगह उनमें सद्भावके स्थापनका एकमात्र उपाय उनकी परस्पर न्यायपरता और सद्विवेचनाके साथ व्यवहार ही है। और, उस सद्भावका परिणाम है, विजयीजातिके निकट प्राप्त उपकारके परिमाणके अनुसार उस जातिके साम्राज्यकी अधीनतामें विजितजातिका थोड़ी बहुत बाध्य-बाधकताके साथ मिलकर रहना।

एक जातिने अगर अन्य जातिको, जो सभ्यतामें उसके बराबर या बराबरके लगभग है, बलसे, कौशलसे या घटनाचक्रके फेरसे हरा दिया तो उसका यह समझना अन्याय है कि वह हारी हुई जाति केवल हार जानेके कारण घृणाके योग्य है। कारण, रणनिपुणता प्राप्त करनेके लिए युद्धके विषयमें जैसा अनुराग रहनेकी आवश्यकता है, वह युद्धका अनुराग मनुष्यकी आध्यात्मिक उन्नतिमें कुछ बाधा डालनेवाला है, और यह नहीं कहा जा सकता कि जिस जातिमें वह युद्धकौशल और वह युद्धानुराग थोड़ा है वह जाति इसी कारणसे हीन जाति है। हमारी अपूर्ण अवस्थामें जब शिष्ट मनुष्योंके साथ साथ दुष्ट मनुष्य भी रहेंगे, तब दुष्टोंका दमन करनेके लिए हरएक जातिको शारीरिक बलकी आवश्यकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु उसकी न्यूनाधिक-

ताको जातिके दोष-गुणका परिचय देनेवाली मानना उचित नहीं है। विश्व-नियन्ताका यही नियम है कि एक जातिका अन्य जातिको जीतनेमें समर्थ होना जिस प्रधानताका परिचय देता है, उस प्रधानताका प्रयोग विजितजातिका अहित करनेमें न हो, उसकी उन्नति करनेमें ही उसका व्यवहार किया जाय। अतएव विजेताका विजित जातिके ऊपर घृणाका भाव रखना किसी-तरह न्याय-संगत नहीं है। साथ ही सद्विवेचना भी उसका समर्थन नहीं करती। विजेता एक तरफ तो विजितके निकट राजभक्ति पानेका दावा करेगा और चाहेगा कि राजा-प्रजाका सम्बन्ध स्थायी हो, और दूसरी तरफ विजि-तसे घृणा करके उसके मनमें विद्वेषका भाव और फिर स्वाधीनता प्राप्त कर-नेकी दुराशा उद्दीपित करेगा, यह किसी तरह सद्विवेचना या बुद्धिमत्ताका काम नहीं हो सकता।

उधर विजेताके सुशासनसे जो शान्ति या शिक्षा मिलती है, उसके लिए विजेता राजा (या जाति) के प्रति श्रद्धा और कृतज्ञता दिखाना विजितजा-तिका भी अवश्य कर्तव्य है।

कोई कोई कह सकते हैं कि " ये सब बातें धर्मक्षेत्रकी हैं, कर्मक्षेत्रमें नहीं हैं। कर्मक्षेत्रमें मनुष्यही रहेगा, ऋषि नहीं हो जायगा। और, उपर्युक्त स्थलमें विजित और, विजेताके बीच सद्भाव होनेकी संभावना नहीं की जा सकती।" यह सच है कि सभी मनुष्योंके संपूर्ण रूपसे साधु हो जानेकी आशा नहीं की जा सकती। कुछ लोग साधु, कुछ लोग असाधु और अधिकांश लोग इन दोनों श्रेणियोंके बीचमें रहेंगे। क्रमशः प्रथम श्रेणीकी संख्या बढ़ेगी दूसरी श्रेणीकी संख्या घटेगी, और तृतीय श्रेणी प्रथम श्रेणीकी ओर बढ़कर उसीमें मिल जायगी—यही मनुष्यके क्रमविकासका नियम है। आत्मरक्षाके लिए पाशव-बल या कौशलकी वृद्धि होना पशुजगत्के क्रमविकासका नियम है, किन्तु नीतिसम्पन्न मनुष्यके पक्षमें नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति ही क्रमविकासका प्रधान लक्षण है। अतएव यह कहना सभ्य मनुष्यको कलंकित करना है कि दो सभ्य जातियाँ एक समयमें विजेता और विजितके रूपमें मिली थीं, इस लिए वे, या कमसे कम उन दोनों जातियोंके अधिकांश लोग, परस्पर न्यायानुमोदित और सद्विवेचना-संगत व्यवहार नहीं कर सकते। और, पूर्वोक्त कथनका सभ्य शिक्षित समाजमें कभी कभी प्रचलित रहना ही

उसके कार्य-रूपमें परिणत होनेका एक कारण है। यदि शिक्षित समाजमें इसके विपरीत कथन प्रचलित हो, और अधिकांश सभ्य लोग यह बात कहें कि दुरूह या कठिन होनेपर भी सबको सब जगह परस्परके प्रति न्यायानुमोदित और सद्विवेचनासंगत व्यवहार करना चाहिए, और स्वार्थपरताका संयम ही सच्ची स्वार्थपरताका उपाय है, तो इस तरहके कार्यको कोई भी असाध्य न समझे और ऐसा करनेके लिए सभी लोग चेष्टा करें।

इस सम्बन्धमें एक और भी आपत्ति हो सकती है। कोई कोई कह सकते हैं कि विजेताके साथ सद्भावकी कामना कायरपन और आत्माभिमानशून्यताका लक्षण है। अगर कोई आदमी केवल अपने इष्टसाधनकी या अनिष्टनिवारणकी आशासे विजेताकी शरणमें जाय, तो उसका वह कार्य भीरुतर और आत्माभिमानशून्यताका सूचक हो सकता है। किन्तु जहाँ यह हाल है कि विजेताका राज्य कुछ समयसे चला आ रहा है, और उसकी शासनप्रणालीमें दोष रहने पर भी अनेक गुण मौजूद हैं, तथा साधारणतः पराजित देशमें पहलेकी अपेक्षा बहुत अच्छी तरहसे शान्ति और न्याय-विचारकी प्रणाली संस्थापित हुई है, साथ ही विजेताके साथ राजा-प्रजाका सम्बन्ध तोड़ देना हितकर या न्यायसंगत नहीं है, वहाँ विजेताके साथ सद्भाव स्थापित करनेकी चेष्टा निन्दनीय न समझी जाकर आवश्यक कर्तव्य ही गिनी जायगी।

सबके अन्तमें यह आपत्ति हो सकती है कि राजा और प्रजा दोनों ही अपने देश और अपनी जातिकी उन्नति करनेकी चेष्टा करते हैं। किन्तु जहाँ राजा और प्रजा दोनों भिन्न भिन्न देशके रहनेवाले हैं और दोनोंकी जाति भिन्न भिन्न है, वहाँ दोनोंके कार्योंमें परस्पर कर्तव्यका विरोध अनिवार्य है। अतएव अगर दोनों जातियोंके मिलकर एक होनेकी संभावना नहीं हो, तो उनमें परस्पर सद्भाव स्थापित करनेकी चेष्टा वृथा है। यह कथन भी यथार्थ नहीं है। यह बात नहीं स्वीकार की जा सकती कि एक देशवासी एक जातीय राजा अपने राज्यमें रहनेवाली अन्य देश और अन्य जातिकी प्रजाकी उन्नति करनेका यत्न करे तो उसमें कर्तव्य विरोध अवश्य ही उपस्थित होगा। यह ठीक है कि इस तरहका कार्य कठिन है, और इस तरहके स्थलमें राजाका और प्रजाका अपने देश और अपनी जातिके प्रति अधिक अनुराग होना स्वाभाविक भी है। किन्तु राजा और प्रजा अगर न्यायपरायण और सद्विवेच-

नासंपन्न हुए, तो दोनों देश और दोनों जातियोंके स्वार्थका सामञ्जस्य करके काम करनेहीकी संभावना है। इस तरहके न्यायपरायण और सद्विवेचक राजा और प्रजाके दृष्टान्त इतिहासमें दुर्लभ नहीं हैं।

ऊपर बहुत सी बातें कह डाली गई हैं। किन्तु जान पड़ता है, उनकी यथार्थताको बहुत लोग शायद स्वीकार नहीं करेंगे। शायद कोई कोई कहेंगे कि ये सब बातें संसारी गृहस्थोंकी नहीं है, उदासीन ऋषियोंकी हैं। शिक्षाकी जगह ये सब बातें समीचीन हो सकती हैं, किन्तु संसारमें चलनेवाले मनुष्यके लिए यह सोचना कि वह ऐसे उच्च आदर्शका होगा, भ्रांति है। यह संशय दूर करनेके लिए दो बातें याद रखना चाहिए। एक तो भारतमें आर्य ऋषियोंने संयम और तपोबलसे यही शिक्षा दी है, जो ऊपर कही जाचुकी है। दूसरे, उसके बहुत दिनोंके बाद पाश्चात्य देशोंमें ईसामसीहने भी वही शिक्षा दी है। यद्यपि पाश्चात्य देशकी रीतिनीति और आचार-व्यवहारके साथ संघर्षणमें आकर उस शिक्षाने वहाँ अभीतक अधिकमात्रामें सफलता नहीं प्राप्त की, किन्तु भारतकी रीतिनीति और आचार-व्यवहार उसी शिक्षाके उपयोगी होनेके कारण उस शिक्षाने यहाँ बहुत कुछ अपना फल दिखाया है। यही कारण है कि इतने सामाजिक और धार्मिक विप्लवोंके हो जाने पर भी आज अनेक हिन्दू अकातरभावसे स्वार्थहानि सहकर कह सकते हैं कि "यह कितने दिनोंके लिए है, जो हम इसके लिए इतने कातर या दुःखित हों?" यद्यपि इसके साथही कुछ अवनति और अगौरव भी संमिलित है, किन्तु तो भी यही हिन्दूजातिकी उन्नति और गौरव है। केवल आध्यात्मिक विषयपर दृष्टि रखकर जड़ जगत्के तत्त्वोंका अनुशीलन न करनेके कारण हिन्दुओंकी ऐहिक (वैषयिक) अवनति हुई है, और विज्ञानके अनुशीलनसे प्राप्त जड़शक्तिके प्रभावसे बली होरहे पाश्चात्य लोगोंसे उन्हें हारना पड़ा है। उस अवनति और पराजयके ऊपर लक्ष्य करके पाश्चात्य जातियाँ हम लोगोंकी अवहेला करती हैं। किन्तु उस तरहकी अवज्ञा या घृणा करना पाश्चात्य लोगोंको उचित नहीं है। राजनीतिक स्वाधीनता पार्थिव संपत्ति है। वह रहे तो अच्छी बात है, किन्तु हिन्दुओंके पास वह स्वाधीनता बहुत दिनोंसे नहीं है। इस समय न्यायपरायण ब्रिटिशसाम्राज्यके सुशासनमें रहनेके कारण हमें उस स्वाधीनताके

अभावका अनुभव अधिक करना भी नहीं पड़ता । लेकिन और एक आशंका होरही है । हमने अपने पूर्वपुरुषोंके पाससे जो अमूल्य अलौकिक सम्पत्ति पाई है, उस आध्यात्मिक उन्नतिको, वैषयिक उन्नतिके लोभमें पड़कर, कहीं किसीदिन हम न गँवा बैठें । ऐसा होगा, तो फिर हम वास्तवमें अवज्ञाके पात्र होजायँगे । विज्ञानके अनुशीलनसे वैषयिक उन्नति और सामाजिक रीति-नीतिके संशोधनसे शारीरिक उत्कर्ष और वैषयिक उन्नति जिसके द्वारा प्राप्त हो, वह शिक्षा सर्वथा आवश्यक है, किन्तु हमें स्मरण रहे कि उस शिक्षाके लिए आध्यात्मिक शिक्षा न भुला दी जाय । राजनीतिक विषयोंकी आलोचनाके साथ साथ पाश्चात्य कवि गोल्डस्मिथकी निम्नलिखित कविता हमें स्मरण रखनी चाहिए—

> " How small, of all that human hearts endure,
> That part which laws or kings can cause or cure."
>
> *Goldsmith's Traveller*

अर्थात्—इस संसारमें आकर मनुष्यका हृदय जितना दुःख सहता है, उसका बहुत ही छोटा हिस्सा राजाके कानूनके अधीन है, जिसे वह दे सकता है या दूर कर सकता है ।

ब्रिटन और भारतका सम्बन्ध ।

ऊपर विजेता और विजितके बारेमें राजा-प्रजा-सम्बन्धकी जो बातें कही गई हैं, वे सब साधारणतः ब्रिटन और भारतके सम्बन्धमें बहुत कुछ घटित होती हैं । अब यहाँपर ब्रिटन और भारतके राजा-प्रजा-सम्बन्धके विषयकी दो-एक बाते विशेष रूपसे कही जायँगी । अवश्यही उन्हें संभ्रम-संमानके साथ संयत भावसे कहूँगा । आशा करता हूँ, उन बातोंसे कोई भी पक्ष असन्तुष्ट न होगा ।

भारतवर्ष जिस समय इंगलेंडकी अधीनतामें आया था, उस समय भारतमें मुसलमानसाम्राज्य पतनोन्मुख हो रहा था, हिन्दुओंमें महाराष्ट्र लोग उठनेकी चेष्टा कर रहे थे, राजपूत लोग भी बुरी हालतमें नहीं थे, सिख लोग फिर अभ्युदयके लिए उठ खड़े होनेका उद्योग कर रहे थे, और फ्रेंच लोग भी भारतसाम्राज्य पानेके लिए अँगरेजोंके प्रतिद्वन्द्वी थे । क्रमशः भारतमें ब्रिटिश साम्राज्य अच्छी तरह स्थापित हो जानेपर, प्रधानता प्राप्त करनेके लिए अनेक

प्रतियोगियोंके लड़ाई-झगड़ेसे और अराजकताके कारण होनेवाले चोर-डाकुओंके उत्पीड़नसे छुटकारा पाकर, और अँगरेजोंके सुशासन और न्यायपरतासे आश्वस्त होकर, अधिकांश भारतवासियोंने बिना किसी तरहकी आपत्तिके इस साम्राज्यकी अधीनता स्वीकार कर ली। ब्रिटन और भारतका वह राजा-प्रजा सम्बन्ध, डेढ़ सौ वर्षसे अधिक हुए जबसे चला आ रहा है । और, उससे अनेक सुफल भी उत्पन्न हुए हैं, जिनमेंसे दो-चार विशेष रूपसे उल्लेख योग्य हैं । जैसे—निरापद होकर शान्तिके साथ निष्पक्ष विचारप्रणालीकी अधीनतामें अवस्थिति, पाश्चात्य विज्ञान अर्थनीति और राजनीतिके विषयोंकी शिक्षा मिलना, रेलगाड़ीके द्वारा और सर्वत्र परिचित अँगरेजी भाषाकी सहायतासे सब जगह जाने-आने और रहनेका सुभीता और उसके द्वारा सब भारतवासियोंके मनमें एक अभिनव जातीय भावका उदय । इन्हीं सब कारणोंसे भारतवासी लोग ब्रिटिशसाम्राज्यके निकट कृतज्ञतापाशमें बँधे हुए हैं । यद्यपि उस साम्राज्यकी अधीनतामें रहना पराधीनता ही है, किन्तु तो भी यदि दोनों पक्ष कुछ विवेचनाके साथ चलें, तो वह पराधीनता उस स्वाधीनताके साथ, जो मनुष्यमात्रके लिए आवश्यक हुआ करती है, इतनी अविरुद्ध या अल्पविरुद्ध है कि उसके लिए कष्ट मालूम पड़नेका कोई कारण नहीं है । ब्रिटिशराजतन्त्रके मूलसूत्रके अनुसार ऐसी कोई बात नहीं है कि भारतवासी उस राजतन्त्रके बहिर्भूत ही रहेंगे । बल्कि उसके विपरीतही दृष्टान्त देख पड़ते हैं । हालमें (जब यह पुस्तक लिखी गई थी) उत्तरोत्तर दो भारतवासी बड़ेलाट साहबकी लेजिस्लेटिव कौंन्सिलके मेंबर बनाये गये हैं, और इसकी संपूर्ण आशा की जाती है क्रमशः आगे चलकर भारतवासियोंको देशकी शासनप्रणाली चलानेके अधिकतर अधिकार प्राप्त होंगे, यद्यपि यह संभावना नहीं है कि अँगरेजोंके साथ मिलकर भारतवासी कभी एक जाति बन जायँगे, तथापि यह संभावना यथेष्ट है कि शीघ्रही भारतशासनमें यथायोग्य अधिकार पाकर वे अँगरेज राजाके सहकारी हो सकेंगे । जिसमें यह फल, जिसकी संभावना है, शीघ्रही फले, इसके लिए उद्योग करना हर-एक देशहितषीका कर्तव्य है । उस उद्योगकी राहमें दोनोंही पक्षोंके भ्रमसे उत्पन्न जो बाधा-विघ्न हैं उन्हें दूर करना अत्यन्त आवश्यक है । अँगरेज राजपुरुषोंमेंसे किसी किसीको यह एक भ्रम है कि " प्राच्य जाति आडम्बर और

तड़क-भड़कको पसंद करती है, आदर करनेसे सिर चढ़ती है, और भय दिखानेसे वशीभूत होती है। अतएव उसे काबूमें रखनेके लिए सौम्यमूर्तिकी अपेक्षा उग्रमूर्ति दिखानाही अधिकतर प्रयोजनीय है। और पूर्वीय जातियोंकी बात मैं नहीं कहता, किन्तु हिन्दूजातिके सम्बन्धमें यह धारणा बिल्कुलही भ्रान्ति-मूलक है, और यह बात अँगरेज-राजपुरुषोंको विदित होनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। क्योंकि अनेक समय ऐसा होता है कि यही भ्रम उनके साधु उद्देश्यको भी सिद्ध नहीं होने देता। जड़-जगत्की और विषयसुखकी अनित्यता पर जिस जातिको अटल विश्वास है, वह कभी आडम्बरप्रिय नहीं हो सकती। जिस जातिके आदर्शपुरुष महाराज रामचन्द्रने प्रजारञ्जनमात्रके लिए अपनी प्रियतमा रानी सीतादेवीको बन भेजकर अपनी प्रजावत्सलताका प्रमाण दिया था, उस जातिको वशीभूत करनेके लिए भय दिखानेकी अपेक्षा प्रीति दिखाना सौगुना अधिक फल देनेवाला है, और बुद्धिमान् व्यक्तिमात्र इस बातको सहज ही समझ सकते हैं। हिन्दूलोग जानते हैं—मुनीनाञ्च मतिभ्रमः, मुनियोंसे भी भूल हो जाती है। हिन्दुओंके निकट राजा भयका नहीं, भक्तिका पात्र है। अँगरेजोंके बाहुबलकी अपेक्षा उनकी न्यायपरताही हिन्दुओंकी दृष्टिमें अधिकतर गौरवकी चीज है। अतएव भ्रम स्वीकार कर लेनेसे या असावधानताकृत अविहित कार्यके संशोधनसे हिन्दुओंके निकट अँगरेज राजपुरुषोंका गौरव घटेगा नहीं, बल्कि बढ़ जायगा। उधर भारतवासियोंमें भी बहुत लोगोंका यह खयाल है कि अँगरेज एक बलका दर्प रखनेवाली जाति हैं, अतएव अँगरेजोंके निकट न्यायकी अपेक्षा बलका गौरव अधिक है। साथही उनकी यह भी धारणा है कि अँगरेज लोग खुद स्पष्टवादी होते हैं, इस लिए अँगरेज राजपुरुषोंके दोष स्पष्ट शब्दोंमें दिखा देनेसे कोई हानि नहीं है। किन्तु ऐसा खयाल करना हमारा भ्रम है। अँगरेज लोग प्रकटरूपसे दैहिक बलका चाहे जितना गौरव क्यों न करें, वे नैतिक बलकी श्रेष्ठताको मानते हैं। जो मनुष्य नैतिक बलमें प्रबल है उसे किसीके भी निकट पराभव नहीं स्वीकार करना होगा। अतएव हम नैतिकबलमें प्रबल होंगे तो न्याय-परायण अँगरेज अवश्यही हमारा सन्मान करेंगे। और, स्पष्टवादिता गुणके सम्बन्धमें स्मरण रखना कर्तव्य है कि जो व्यक्ति पद मर्यादाके अनुसार जैसा और जितना संमान पानेके योग्य है, उसके

कामोंकी आलोचना वैसेही संमानके साथ होनी चाहिए। ऐसा न होनेसे वह आलोचना दोष या भ्रमके संशोधनमें कृतकार्य तो होती ही नहीं, बल्कि उलटे परस्परके प्रति विद्वेषका भाव उत्पन्न कर देती है।

ब्रिटन और भारतके बीच राजा-प्रजा सम्बन्धकी स्थापना ईश्वरकी इच्छा से, दोनोंकी भलाईके लिए, हुई है। हमारी भलाई यह है कि हमने एक प्रबल पराक्रमी, किन्तु न्याय-परायण, जातिके सुशासनमें शान्ति, अनेक प्रकारके सुख और स्वच्छन्दता पाई है। अँगरजोंके साथ संमिलनसे हमारे मनमें बहुत दिनोंके उपेक्षित जड़-जगत्के उपर यथोचित आस्था उत्पन्न होगई है और हम अब जड़–विज्ञानका अनुशीलन करते हुए उसके द्वारा वैषयिक उन्नतिके लिए चेष्टा करने लगे हैं। उधर अँगरेजोंकी और साधारणतः सभी पाश्चात्य जातियोंकी भलाई यह है कि हिन्दूजातिके संसर्गमें आकर उनके हृदयमें आध्यात्मिक तत्त्वके अनुशीलन और संयमके अभ्यास पर श्रद्धा उत्पन्न हो रही है, और उसके द्वारा उनकी अपूरणीय विषय-वासना तथा उससे उत्पन्न विरोध व अशान्ति मिटनेकी संभावना है।

यह आशा तो नहीं की जा सकती कि पाश्चात्य जातियोंके संसर्गमें आकर हिन्दू लोग जितनी जल्दी विज्ञानके अनुशीलनके विषयमें इतने अनुरागी हो गये हैं, हिन्दुओंके संसर्गमें आकर पाश्चात्य लोग उतनी जल्दी हिन्दुओंके आध्यात्मिक तत्त्वके अनुशीलनमें वैसे अनुरागी हो सकेंगे, किन्तु ऐसे नैराश्यका भी कोई कारण नहीं है कि इस संसर्गका कोई फलही न होगा। हिन्दू अगर ठीक रह सकेंगे, और पाश्चात्य लोगोके दृष्टान्तमें मुग्ध न होकर आध्यात्मिक भावको अक्षुण्ण बनाये रखकर अनासक्तभावसे वैषयिक उन्नतिकी चेष्टा करें, तो ऐसा दिन अवश्यही आवैगा जब हिन्दुओंके शान्त और संयत भावका दृष्टात पाश्चात्य जगत्की अनन्य ज्वलन्त विषय-वासनाको शान्त कर देगा।

३–प्रजाके प्रति राजाका कर्तव्य।

राजा और प्रजा दोनोंके परस्पर एक दूसरेके प्रति कर्तव्य कर्म हैं। जब राजाके लिए प्रजा नहीं है, बल्कि प्रजाके लिए ही राजा है, तो इसीकी आलोचना पहले होनी चाहिए कि प्रजाके प्रति राजाका कर्तव्य क्या है।

राजाका पहला कर्तव्य है, बाहरी शत्रुओंके आक्रमणसे प्रजाकी रक्षा करना। इस कर्तव्यता पालन करनेके लिए सेना रखनेकी आवश्यकता होती है। यद्यपि इस समय पृथ्वीपर असभ्य जातियोंकी संख्या और बल अधिक नहीं है, और सभ्य जातियोंमें भी यह आशंका बहुत कम है कि कोई अकारण दूसरे पर आक्रमण कर बैठेगा, तो भी सभी सभ्य जातियाँ यथेष्ट सेना रखनेके लिए व्यस्त हैं, और यद्यपि उसमें बहुतसा धन खर्च करनेका प्रयोजन होता है, किन्तु सभी उस खर्चका बोझ खुशीसे उठाये हुए हैं। अगर पृथ्वीकी सब सभ्य जातियाँ मिलकर, परस्पर एक दूसरे पर विश्वास स्थापित करके, ठीक करलें कि उनमेंसे सब जातियाँ असभ्य जातियोंके अन्याय आक्रमणकी आशंका दूर करने और अन्य प्रयोजनीन कार्य साधने भरके लिए यथासंभव सेना रखकर बाकी सेना निकाल डालेंगे, तो बहुत सा धन और बहुतसे आदमी, जो इस समय भावी अशुभको रोकनेके उद्देश्यसे सेनामें फँसे हुए हैं, अनेक प्रकारके वर्तमान शुभ कार्योंमें लगाये जा सकते हैं। क्या ऐसा हो नहीं सकता ?

राज्यकी शान्तिरक्षा ।

राजाका दूसरा कर्तव्य है, राज्यके भीतरी शत्रुओंके अत्याचारसे (अर्थात् ठग चोर डाकू और अन्यान्य प्रकारके दुष्ट लोगोंके अन्याय आचरणसे) प्रजाकी रक्षा करना। इस उद्देश्यसे, देशके शासनके लिए सुनियमोंकी व्यवस्था, उन नियमोंका उल्लंघन करनेवालोंके दोष-निर्णय और दण्ड-विधानके लिए उपयुक्त विचारालयोंकी स्थापना, और उन विचारालयोंकी आज्ञाके पालन और साधारणतः शान्तिरक्षाके लिए उपयुक्त कर्मचारियोंको रखना, आवश्यक होता है। कानून बनाने और पास करनेके लिए व्यवस्थापक सभा (लेजिस्लेटिव कौंसिल) स्थापित करनेका, और उस सभामें यथासंभव साधारण प्रजावर्गके प्रतिनिधियोंको सभ्य (मेंबर) रूपसे नियुक्त करनेका प्रयोजन होता है। कारण, ऐसा होनेसे ही प्रजावर्गके प्रकृत अभावको पूर्ण करनेकी व्यवस्था (कानून) विधिबद्ध हो सकती है।

राजाके इस दूसरे कर्तव्यके बारेमें बहुतसी बातें कहनेको है, किन्तु उन सब बातोंका इस क्षुद्र ग्रन्थमें सन्निवेश हो नहीं सकता।

यहाँपर केवल एक बात कही जायगी। इस दूसरे कर्तव्यका पालन करनेके लिए राजा सर्व साधारणके मंगलके वास्ते व्यक्तिविशेषका अमंगल करनेको या उसे दण्ड देनेको बाध्य होता है। वह आंशिक अमंगल एक प्रकारसे अनिवार्य है। किन्तु उस अमंगल या दण्डका परिमाण घटानेके लिए यथासाध्य चेष्टा करना राजाका कर्तव्य है। दण्डित या दण्डनीयको दण्ड इस तरह देना चाहिए कि उसके द्वारा उसका शासन भी हो और साथही संशोधन भी हो।

प्रजाकी प्रकृति जानना और उसके अभावोंका निरूपण।

राजाका तीसरा कर्तव्य है, प्रजाके अभावोंका निरूपण करना, और उसके लिए प्रजावर्गकी रीति-नीति और प्रकृतिको विशेष रूपसे मालूम करना। प्रजाका यथार्थ अभाव क्या है, वे क्या चाहते हैं, और वे जो कुछ चाहते हैं वह देना राजाके लिए कहाँ तक साध्य और संगत है, इन सब विषयोंको जाने बिना राजा अपनी शासन प्रणालीको प्रजाके लिए सुखकर नहीं बना सकता। और, उक्त बातोंके जाननेके लिए, जिन्हें प्रजा चाहती है, यह आवश्यक है कि राजा अपनी प्रजाकी रीति-नीति और प्रकृतिको अच्छी तरह जान ले। जहाँ राजा और प्रजा दोनों भिन्न भिन्न जातिके हैं, वहाँ इन सब विषयोंको विशेष रूपसे जाननेका अधिक प्रयोजन है। क्योंकि अनेक समय ऐसा होता है कि प्रजाकी प्रकृतिके सम्बन्धमें अनभिज्ञ होनेके कारण राजा अपने साधु उद्देश्यको सिद्ध नहीं कर सकता, या यों कहो कि उसका साधु उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। जैसे रोगीकी प्रवृत्तियोंके जाने बिना दवा देनेसे पूर्ण रूपसे रोगीका उपकार नहीं होता, वैसे ही प्रजाकी प्रकृतिको जाने बिना उसके हितके लिए कोई काम करनेसे भी वह कार्य सफल नहीं होता। प्रजाकी प्रकृतिको विषेश रूपसे जाननेके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि विजातीय राजा या राजपुरुष लोग प्रजाकी भाषा, साहित्य और धर्मके स्थूल तत्त्वको अच्छी तरह समझ लें।

प्रजाकी स्वास्थ्यरक्षाका प्रबन्ध।

राजाका चौथा कर्तव्य है, प्रजावर्गके सुख और स्वच्छन्दताकी वृद्धिके लिए समुचित विधानकी स्थापना करना। सब सुखोंका मूल स्वास्थ्य है।

अतएव प्रजाके स्वास्थ्यकी रक्षाका समुचित प्रबन्ध करना सब तरहसे राजाका आवश्यक कर्तव्य है। यह सच है कि सभीको खुद अपने अपने स्वास्थ्यकी रक्षाके लिए चेष्टा करनी चाहिए। स्वाथ्यकर रहनेका स्थान और पुष्टि-दायक खानेकी चीजोंके विषयमें प्रजाको आप ही अपना काम करना चाहिए। यह काम राजा नहीं कर सकता। किन्तु स्वास्थ्यरक्षाके लिए और भी ऐसे अनेक कार्य हैं, जिन्हें प्रजा खुद नहीं कर सकती, और जो राजाकी सहायताके बिना संपन्न नहीं होसकते। जैसे—नदीके भीतर मिट्टी भर जानेसे जलका प्रवाह रुँध जाय, अथवा देशका जल बाहर निकल-नेकी राह बंद हो जाय और उससे वह बहुविस्तृत देश अस्वास्थ्यकर हो उठे, या रोजगारी लोग लाभसे लोभके खानेपीनेकी चीजोंमें छिपाकर अनि-ष्टकर चीजोंका मेल करने लगें, तो ऐसी अवस्थाओंमें राजाकी सहायताके बिना उक्त अनिष्टोंको रोक सकना असंभव हुआ करता है।

एकस्थानसे अन्य स्थानमें जाने आनेका सुभीता करना।

राज्यके एक स्थानसे अन्य स्थानमें लोगोंके जाने-आनेकी और चीजें भेजने की सुविधाके लिए अच्छी पक्की सड़कें, पुल, घाट, बंदरगाह आदि बनवाना भी राजाका एक कर्तव्य है। इन कार्योंको प्रजा भी कर सकती है। परन्तु इनमें अधिक धनके खर्चकी जरूरत होनेके कारण जब तक बहुसंख्यक प्रजा मिलकर काम न करे तब तक उसके द्वारा ये काम नहीं हो सकते। इस समय प्रजावर्ग एकत्र होकर बहुतसी रेलगाड़ीकी राहें बनारहे और चलारहे हैं। लेकिन उसमें भी राजाकी सहायता आवश्यक है। एक तो उस मार्गकी भूमिपर अधिकार करनेके लिए, और दूसरे इस लिए कि लोग बेखटके निरा-पद होकर उस मार्गमें यात्रा कर सकें, राजाकी सहायता चाहिए।

प्रजाकी शिक्षाका प्रबन्ध।

प्रजावर्गकी सुशिक्षाका प्रबन्ध करना राजाका और एक विशेष कर्तव्य कर्म है। कहाँ तक प्रजाको शिक्षा देनेका प्रबन्ध करना राजाका कर्तव्य है, इस बारेमें मतभेद है। बहुतलोग कहते हैं कि प्रजा जिसमें बिल्कुल निरक्षर न रहे ऐसी शिक्षा, अर्थात् केवल लिख-पढ़ सकने भर की शिक्षा, देना ही राजाके लिए यथेष्ट है, किन्तु वह शिक्षा प्रजाको मुफ्त मिलनी चाहिए। किन्तु

कुछ सोचकर देखनेसे जान पड़ता है कि इतने थोड़ेमें राजाके कर्तव्यका पालन पूरा नहीं हो जाता, प्रजाको और भी कुछ अधिक शिक्षा देनेका प्रबन्ध करना राजाका कर्तव्य है। हाँ, वह शिक्षा कितनी उच्च होनी चाहिए, इसका निर्णय देशकी और सभ्य जगत्की अवस्थाके ऊपर निर्भर है। उच्चशिक्षित समाजके ज्ञानका परिसर (दायरा) जैसे विस्तृत हो रहा है, वैसेही उसीके अनुसार सर्वसाधारणकी शिक्षाकी सीमा भी विस्तृत होनी चाहिए। शिक्षाके सम्बन्धमें राजाके तीन मुख्य कर्तव्य हैं। एक तो देशकी अवस्थापर दृष्टि रखकर प्रयोजनीय साधारण शिक्षाके लिए छात्रोंकी अवस्थाकी निम्न (कमसे कम) और उच्च (अधिकसे अधिक) सीमा निश्चित करना। दूसरे, उस अवस्थाके सब बालकोंकी शिक्षाके लिए यथायोग्य स्थानोंमें प्रयोजनके अनुसार विद्यालय (स्कूल) स्थापित करना। तीसरे, इस तरहका नियम करना कि निर्द्धारित अवस्थाके सभी बालक किसी-न किसी विद्यालयमें भर्ती होनेके लिए बाध्य हों। इनके सिवा राजाका और भी एक कर्तव्य है। वह यह कि उच्च शिक्षाके लिए जगह जगह दो-एक आदर्श विद्यालय स्थापित करना। इसके सिवा प्रजावर्गकी नीतिशिक्षाके लिए विशेष व्यवस्था करना भी राजाका आवश्यक कर्तव्य है। ऐसा होनेपर, शान्तिभंगका मूल कारण जो दुर्नीति है उसे रोकना, अर्थात् प्रजावर्गको सुनीतिकी शिक्षा देना, राजाके कर्तव्यमें अवश्यही गिना जायगा। कोई कोई व्यंग्य करके कहते हैं कि कानूनके द्वारा लोग नीतिशाली नहीं बनाये जा सकते। किन्तु इससे यह नहीं प्रमाणित होता कि नीतिकी शिक्षा निष्फल है, और इसी लिए निष्प्रयोजन है।

प्रजाकी धर्मशिक्षा और कर्तव्यपालनके बारेमें राजाका कर्तव्य।

इस सम्बन्धमें बहुत कुछ मतभेद है कि प्रजाकी धर्मशिक्षाका प्रबन्ध करना कहाँतक राजाका कर्तव्य है। जहाँ राजा और प्रजाका धर्म अलग अलग है, वहाँ प्रजाकी धर्मशिक्षाके बारेमें राजाका निर्लिप्त रहनाही उचित है, और जिसमें सब सम्प्रदाय निर्विघ्नरूपसे अपने अपने धर्मका पालन कर सकें, वैसी व्यवस्था करना ही कर्तव्य है। समय समय पर इस विषयमें कर्तव्य-संकट उपस्थित हो सकता है। जहाँ एक सम्प्रदायका धर्म पशुवधकी आज्ञा देता है, और अन्य सम्प्रदायका धर्म उसका निषेध करता है, वहाँ दोनोंही अगर अपनी इच्छाके अनुसार अपने धर्मका पालन करना चाहें, तो विरोधका होना

अनिवार्य है। ऐसे प्रबन्ध करना राजाका कर्तव्य है कि कोई एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदायके कष्टका कारण न हो, और दोनोंही संयत भावसे अपने अपने धर्मका पालन कर सकें।

जैसे कुछ विषय ऐसे हैं कि उनमें प्रजाके हितके लिए राजाका हस्तक्षेप करना कर्तव्य है, वैसेही अधिकांश विषयोंमें, प्रजाकी स्वाधीनताकी रक्षाके लिए, राजाका हस्तक्षेप न करनाही कर्तव्य है। प्रजावर्गके अपनी इच्छासे सुनियमके साथ चलना सीखनेसे ही राजाका और प्रजाका यथार्थ मङ्गल है। और, स्वाधीन भावसे चलने देनेसे ही प्रजा वह शिक्षा पा सकती है। अन्यान्य प्रकारकी शिक्षाओंमें यही प्रजाकी सर्वोच्चशिक्षा है, और इस शिक्षा-का उपदेश प्रजाको देनाही राजाका एक प्रधान कर्तव्य है।

प्रजाको अपना मतामत प्रकट करनेकी स्वाधीनता देना।

ऐसा नियम होना चाहिए कि प्रजा अपने मतामतको स्वाधीन और निःशंक भावसे, लिखकर और कहकर, प्रकट करसके। इस बारेमें राजाकी ओरसे किसी तरहका निषेध रहना उचित नहीं है। हाँ, किसी प्रजाको राजाके या किसी प्रजाके अपवादकी घोषणा करने देना, या किसी निन्दित कार्यके लिए उत्साहित करने देना अनुचित है। मतलब यह कि स्वाधीनतामें सभीका अधिकार है, और इसी कारण स्वाधीनताके अपव्यवहारमें, अर्थात् स्वेच्छाचारमें, किसीका भी अधिकार नहीं है। स्वाधीनताके अपव्यवहारसे एककी स्वाधीनता दूसरेकी स्वाधीनताको नष्ट करनेवाली बन जाती है।

'कर'-संस्थापन।

शासन व्ययके निर्वाहके लिए राजाको अपनी प्रजासे कर लेनेका अधिकार है। राज-कर इस तरहसे स्थापित होना चाहिए कि उसकी मात्रा किसीको पीड़ा पहुँचानेवाली न हो, और कर वसूल करनेका ढंग भी किसीके लिए असुविधाजनक न होना चाहिए।

स्वदेशी शिल्पकी उन्नति करना।

स्वदेश और विदेशकी पण्य-वस्तुओंके (बिक्रीकी चीजों) ऊपर राज-करके परिमाणकी न्यूनाधिकताके द्वारा स्वदेशके शिल्पकी उन्नति करना भी कर-संस्थापनका एक उद्देश्य गिना जाता है। यह उद्देश्य अच्छा है, किन्तु उसे

सिद्ध करनेका यह उपाय कहाँतक न्याय-संगत और वास्तवमें हितकर है, इसके बारेमें मत-भेद है। मगर तो भी अनेक सभ्य देशोंमें उक्त उद्देश्यकी सिद्धिके लिए यही उपाय काममें लाया जाता है (१)।

नशीली चीजोंका प्रचार रोकनेकी चेष्टा।

नशीली चीजोंके ऊपर कर लगाकर राज्यकी आमदनी बढ़ाना राजाके लिए कहाँतक न्याय संगत है, यह प्रश्न भी इस जगह उठ सकता है। नशीली चीजोंका सेवन सभी जगह अनिष्ट-कर है, और गर्म देशोंमें तो उनके सेवनका कोई प्रयोजनही नहीं है। जिस चीजका सेवन तरह तरहके रोगोंकी और अशान्तिकी जड़ है, और जिसके अधिक सेवनसे मनुष्य पशुकी अवस्थाको पहुँच जाता है, उसका (दवाके लिए छोड़कर अन्य कारणसे) बेचना-खरीदना, कमसे कम गर्म देशोंमें, राजाकी आज्ञासे निषिद्ध होना चाहिए। अनेक सज्जन कहते हैं कि ऐसे मादक पदार्थका क्रय-विक्रय स्पष्ट-रूपसे निषिद्ध न होकर क्रमशः प्रकारान्तरसे निषिद्ध होनाही युक्ति-सिद्ध है। उनकी युक्ति यह है कि जबतक लोगोंमें मादक सेवनकी प्रवृत्ति प्रबल रहेगी तबतक उसके क्रय-विक्रयका निषेध निष्फल है, लोग उसके गुप्तरूपसे तैयार करेंगे और बेंचेंगे। किन्तु एक तरफ सुशिक्षाके द्वारा और दूसरी तरफ कर लगानेसे वह प्रवृत्ति जब क्रमशः घट जायगी, तब निषेधके बिनाही निषेधका फल प्राप्त होगा। यदि उस आशाकी प्रतीक्षा करके रहना हो, तो राजाको ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि राजकर्मचारी लोग इसका विशेष यत्न करें कि मादक-पदार्थोंका क्रय-विक्रय कम हो, और उसके व्यवहारकी मात्रा घट जाय।

४ राजाके प्रति प्रजाका कर्तव्य।

राजाके प्रति प्रजाका प्रथम कर्तव्य है भक्ति दिखलाना। मनु भगवान्ने कहा है—

(१) इस सम्बन्धमें Mill's Principles of Political Economy, Bk. V. Ch. X और Sidgwick's Principles of Political Economy, Bk. III, Ch. V देखो।

महती देवताह्येषा नररूपेण तिष्ठति ।

(मनु.७।८)

अर्थात्—यह (राजा) नररूपमें महती देवता स्थित है ।

राजाको देवताके समान संमानके योग्य कहनेका कारण यह है कि राजाके न रहनेसे देश अराजक हो जाता है, और वहाँ रहनेवाले सदा सन्त्रस्त रहते हैं । मतलब यह कि देशरक्षाके लिएही राजाकी सृष्टि हुई है (२)। राजा अगर भक्तिके योग्य न हो, तो किस तरह उसके प्रति भक्तिका उदय होगा? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा जा सकता है कि राजभक्ति जो है वह किसी व्यक्ति-विशेषके लिए नहीं, राजपदके लिए होती है । वह पद सर्वदा ही भक्तिके योग्य है । जो आदमी उस पद पर बैठा है, वह अगर अपने गुणोंसे भक्तिके योग्य हो, तो प्रजाके लिए बड़े ही सुखकी बात है । राजाके प्रति प्रजाका भक्ति करना, केवल राजाके हितके लिए नहीं, प्रजाके अपने हितके लिए भी, कर्तव्य है । कारण, राजाके प्रति प्रजाकी भक्ति न रहनेसे फल यह होगा कि प्रजा राजाकी आज्ञाके पालनमें तत्पर न होगी, जिससे राजाके लिए राज्यशासन कठिन हो जायगा, राज्यमें विशृंखलता उपस्थित होगी, और राज्यकी शान्तिरक्षा तथा प्रजा-वर्गकी सुख स्वच्छन्दताका सम्पादन असंभव हो जायगा ।

राजाकी आज्ञा पालनीय है ।

राजा अगर कोई अनुचित आज्ञा दे, तो प्रजाको क्या करना चाहिए ?—इस प्रश्नके उत्तरमें कहा जा सकता है कि वह आज्ञा अगर धर्मनीतिके विरुद्ध हो, तो प्रजा उसका पालन करनेके लिए बाध्य नहीं होगी । किन्तु सौभाग्यवश प्रायः उस तरहका कर्तव्य-सङ्कट उपस्थित नहीं होता । अधिकांश स्थलोंमें अनुचित आज्ञाका अर्थ है अहितकर आज्ञा । जब राजाके शासनकी अधीनतामें रहकर प्रजा अनेक उपकार पाती है, तो कभी एक अहितकर आज्ञाके लिए राजाके विरुद्ध आचरण करना कदापि प्रजाका कर्तव्य नहीं है । हाँ, उस आज्ञाको बदलानेके लिए नियम-पूर्वक न्यायके अनुसार चेष्टा करना उचित है, उसमें कोई दोष नहीं है । किन्तु जबतक वह आज्ञा बदली न

(२) मनुसंहिता ७।३ देखो ।

जाय, तबतक उसका पालन करना चाहिए, और उसे न मानना अकर्तव्य है।

राजाके या किसी राजकर्मचारीके कामकी समालोचना करनी हो तो यथोचित संमानके साथ करनी चाहिए। राजाके या राजकर्मचारीके काममें दोष देख पड़े, तो उसे दिखा देनेसे राजा और प्रजा दोनोंहीका उपकार होता है। किन्तु वह दोष सरल और विनीत भावसे संमानके साथ दिखाना उचित है। ऐसा न करनेसे उसके द्वारा कोई सुफल न होकर कुफल होनेही की अधिक संभावना रहती है। कारण, असंमानके साथ उद्धत भावसे किसीका भी दोष दिखानेमें उसका चिढ़ जाना स्वाभाविक है, और अगर दोष होगा भी तो वह स्थिरभावसे ध्यान देकर उसे देखना नहीं चाहेगा। इस प्रकार उस दोषका संशोधन तो होगा ही नहीं, बल्कि उस चिढ़ जानेके कारण उस व्यक्तिके द्वारा अन्य अनेक दोष भी हो जायँगे। असंमानके साथ राजा या राजकर्मचारीके दोष दिखानेसे उसके प्रति अन्य प्रजाकी श्रद्धा भी घट सकती है, उसके फलसे राजा-प्रजामें परस्पर असद्भाव पैदा हो सकता है, और वह राजा प्रजा दोनोंहीके लिए अशुभकर है।

५ एक जातिका या राज्यका अन्य जातिके या राज्यके प्रति कर्तव्य।

सब सभ्यजातियोंको और सभ्य राज्योंको परस्पर सद्भावके साथ रहना चाहिए।

सभ्य मनुष्योंका परस्पर व्यवहार जैसा न्याय-संगत होना उचित है, सभ्य जातियोंका परस्पर व्यवहार उसकी अपेक्षा अधिकतर न्याय-संगत होनेकी आशा की जाती है। कारण, एक मनुष्यके सभ्य बुद्धिमान् और न्याय-परायण होने पर भी उनके भ्रममें पड़ जानेकी संभावना रहती है, किन्तु एक समग्र सभ्य जातिके, जिसके भीतर अनेक बुद्धिमान् और न्याय-परायण व्यक्ति होंगे, सभीके भ्रममें पड़ जाने की संभावना बहुत कम है। दुःखका विषय यह है कि इस तरहकी सभ्य जातियोंमें भी कभी कभी युद्ध ठन जाता है। जान पड़ता है, इसका कारण असंयत वैषयिक उन्नतिकी आकांक्षा ही है। वैषयिक उन्नति वांछनीय अवश्य है, किन्तु वही मनुष्य जीवनका या जातीय जीवनका एकमात्र या श्रेष्ठ उद्देश्य नहीं है, आध्यात्मिक उन्नति ही मनुष्यका चरम लक्ष्य है।

असभ्य जातियोंके प्रति सभ्य जातियोंका कर्तव्य ।

सभ्य जातियोंको परस्पर एक दूसरेसे जैसा व्यवहार करना उचित है, असभ्य जातियोंके साथ सभ्य जातियोंका व्यवहार उसकी अपेक्षा और भी उदारतासे पूर्ण होना चाहिए। संख्यामें या बलमें इस समय पृथ्वी पर ऐसी कोई भी असभ्य जाति नहीं है, जिसे डर कर सभ्य जातियोंको चलना पड़े। असभ्य जातियोंको क्रमशः शिक्षित और सभ्य बनाना ही सभ्य जातियोंका लक्ष्य होना उचित है। उसमें जो परिश्रम होगा और धन लगेगा उसकी अपेक्षा उनके साथ वाणिज्यका आदान-प्रदानसे, अधिक लाभ होगा। इसके सिवा असभ्य जातियोंको शिक्षित और सभ्य बनानेमें शिक्षा देनेवालोंको जो जातीय गौरव प्राप्त होता है, उसका भी मूल्य कम नहीं है।

छठा अध्याय ।

[धर्मनीतिसिद्ध कर्म ।]

धर्मका मूलसूत्र—ईश्वर और परकालमें विश्वास

धर्मका स्थूलमर्म क्या है, सो सभी जानते हैं, और यह भी सभी जानते हैं कि धर्मका मूलसूत्र ईश्वर और परकालमें विश्वास है। पृथ्वीकी प्रायःसभी सभ्य जातियोंका ही धर्म इसी विश्वासके ऊपर स्थापित है। ईश्वरको न मानकर केवल परकाल माननेसे वह विश्वास धर्म नहीं कहा जा सकता। जीवका वह परकाल, जड़की एक अवस्थाके बाद दूसरी अवस्थाके समान है, वह इसके सिवा और कुछ भी नहीं हो सकता। उधर परकालको न मानकर केवल ईश्वरको माननेसे भी वह विश्वास धर्म नहीं है। कारण, उस अवस्थाके ईश्वरके साथ जीवका सम्बन्ध, जीवके साथ जड़के सम्बन्धसे भिन्न नहीं कहा जा सकता। और, ईश्वर और परकाल दोनोंका अस्तित्व अस्वीकार करनेसे धर्म नहीं रह सकता (यद्यपि नीति रह सकती है), जान पड़ता है, इसमें किसीको सन्देह नहीं होगा। ईश्वरमें विश्वास और परकालमें विश्वास, इन दोनों विश्वासोंके मिलनको ही धर्म कहा जाता है। मैं अनन्तकालतक रहूँगा, और अनन्त शक्तिके द्वारा सञ्चालित होऊँगा, यह विश्वास रहनेसे ही मनुष्य जड़-जगतको छोड़कर ऊपर उठ सकता है, और संसारके सुख-दुःखको तुच्छ समझ सकता है। उक्त विश्वासवाला मनुष्यही सुख और दुःखमें समान भावसे कह सकता है कि जब अनन्तकाल मेरे सामने है, और अनन्त चैतन्यशक्ति मेरी सहायता करनेवाली है, तब यह थोड़े दिनोंका सुख-दुःख क्या है, कुछ भी नहीं है; अन्तको अनन्त सुख अवश्यही मुझे मिलेगा।

जान पड़ता है, ईश्वर और परकाल दोनों ज्ञानके विषय नहीं, विश्वासके विषय हैं। ईश्वरमें विश्वास और परकालमें विश्वास युक्ति-सिद्ध है कि नहीं, इस प्रश्नके उत्तरमें कहा जा सकता है कि समग्र विश्वकी चैतन्यशक्तिको ईश्वर कह कर मानना किसी युक्तिके विरुद्ध नहीं है, और देहके अंतमें भी मैं रहूँगा—यह उक्ति आत्म-ज्ञानका फल है, और इसपर अविश्वास करनेका कोई कारण नहीं है।

धर्मनीतिसिद्ध कर्मके विभाग।

धर्मनीतिसिद्ध कर्मकी आलोचना करनेके लिए, वह दो भागोंमें बाँटा जा सकता है—

१। ईश्वरके प्रति मनुष्यका धर्मनीतिसिद्ध कर्तव्य कर्म।

ईश्वरके प्रति मनुष्यके कर्तव्य और मनुष्यके प्रति मनुष्यके कर्तव्य, इन दोनों कर्तव्योंमें दो विशेष प्रभेद हैं। एक तो यह कि मनुष्यके प्रति मनुष्यका कर्तव्य पतित होनेसे केवल कर्तव्य पालन करनेवालेहीका मंगल नहीं होता, जिसके अनुकूल वह कर्तव्य पाला जाता है उसका हित भी होता है, किन्तु ईश्वरके प्रति कर्तव्य पालित होनेसे उन (ईश्वरका) हित हुआ, यह बात हित शब्दके प्रचलित अर्थमें नहीं कही जा सकती। कारण ईश्वरके कोई अभाव या अपूर्णता नहीं है, अतएव उनका हित कौन कर सकता है ? हाँ, यह बात कही जा सकती है कि उनके प्रति कर्तव्यपालनसे कर्तव्यपालन करनेवालेका मंगल होनेके कारण ईश्वरकी सृष्टिका हित होता है, और उससे वह प्रसन्न होते हैं।

दूसरा भेद यह है कि मनुष्यके प्रति मनुष्यके कर्तव्य जुदे जुदे हैं। एक व्यक्तिसे सम्बन्ध रखनेवाला कर्तव्य दूसरे व्यक्तिसे सम्बन्ध रखनेवाले कर्तव्यसे जुदा है। किन्तु ईश्वरके प्रति मनुष्यका कर्तव्य जो है, वह मनुष्यकी सभी कर्तव्योंकी समष्टि है। मनुष्यका ऐसा कोई कर्तव्य कर्म नहीं है, जो ईश्वरके प्रति उसका कर्तव्य न गिना जा सकता हो। कारण, हमारे सभी कर्तव्य ईश्वर नियमोंपर स्थापित हैं, और ईश्वरके उन नियमोंका पालन करनेके लिए ही सब कर्तव्योंका पालन किया जाता है। मनुष्यको अपने सभी कर्तव्यकर्म प्रसन्नताके उद्देश्यसे करने चाहिए। यही इस गीताके वाक्यका अर्थ है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९।२७)

अर्थात् हे अर्जुन, जो तुम करते हो, जो खाते हो, जो होम या दान करते हो, जो तप करते हो, वह सब मुझे अर्पण करदो।

इसी अर्थके अनुसार जातकर्मसे लेकर अन्त्येष्टि कर्म तक हिन्दूके जीवनके सभी कर्म धर्म कार्य कहे और माने जाते हैं, तथा धर्मकार्य समझ कर ही लोग उनका अनुष्ठान करते हैं।

देहरक्षा, स्त्रीका पाणिग्रहण, स्त्री-पुत्र आदिका पालन, सामाजिक कर्म-समूह आदि सभी नित्य-नैमत्तिक कामोंको इसी तरह धर्मकार्य समझकर ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए कर सकनेसे ही उनके सुचारूरूपसे सम्पन्न होनेकी और उनमें किसी तरह पापकी छाया न पड़नेकी संभावना है। जप-तप पूजा पाठ ही केवल ईश्वरके प्रतिकर्तव्य कर्म हैं, ये ही केवल धर्मकार्य हैं, और हमारे अन्य कर्तव्य कर्म केवल मनुष्यके प्रति कर्तव्य हैं, वे केवल लौकिक या वैषयिक कार्य हैं, धर्म या ईश्वरके साथ उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—ऐसा समझना भ्रम है। जो लोग ईश्वर और परकाल मानते हैं, उन्हें क्या पारिवारिक, क्या सामाजिक, और क्या राजनीतिक, सभी कार्य ईश्वरकी प्रीतिके लिए धर्मकार्य समझकर सम्पन्न करने चाहिए। कारण, सभी कार्योंका आध्यात्मिक फलाफल है, सभी कार्योंका फलाफल इस लोकमें और परलोकमें भोगना होता है। एक साधारण दृष्टान्तके द्वारा यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी। भोजन करना तो एक अति सामान्य कार्य है। किन्तु वही आहार अगर परिमित और सात्विकभावसे किया जाता है, तो उससे देहकी सुस्थता, मनकी शान्ति, सत्कर्ममें प्रवृत्ति होती और असत्कर्मसे निवृत्ति होती है, और उसके फलसे इस लोकमें यथार्थ सुख और परलोकके लिए चित्तशुद्धि प्राप्त होती है। किन्तु आहार अगर अपरिमित और राजसिक भावसे किया जाता है, तो उससे देहकी असुस्थता, मनकी उग्रता, सत्कर्मसे चिढ़ और असत्कर्ममें प्रवृत्ति होती है, और उसके फलसे इसलोकमें दुःख और परलोकके लिए चित्तविकार इत्यादि अशुभोंका प्राप्त होना निश्चित है।

अतएव आहारको भी धर्मकार्य समझकर ईश्वरको स्मरणकर पवित्र भावसे उसमें प्रवृत्त होना कर्तव्य है। वैसे ही यथासंभव ज्ञानका और धर्मका उपार्जन भी धर्मकार्य है। क्योंकि वह अपनी और दूसरेकी वैषयिक उन्नतिका, और प्रकारान्तरसे क्रमशः आध्यात्मिक उन्नतिका, उपाय है। यही समझकर उसमें प्रवृत्त होना हरएकका कर्तव्य है। ऐसा करनेसे ही वह कार्य पवित्र भावसे संपन्न होगा। अतएव साधारणतः हम सभीको अपने सब कर्तव्य कर्म ईश्वरके उद्देशसे करने चाहिए।

ईश्वरके प्रति विशेष कर्तव्य।

किन्तु हमारे कई एक विशेष कार्य हैं, जो केवल ईश्वरके प्रति कर्तव्य हैं। उनमेंसे ईश्वरकी भक्ति करना सबसे पहला कर्तव्य है।

ईश्वरभक्ति।

इस जगह पर प्रश्न उठ सकता है कि हम ईश्वरकी भक्ति क्यों करते हैं? वे उससे प्रसन्न होंगे, और प्रसन्न होकर हमारा भला करेंगे, इस लिए? या उनकी सृष्टिके नियमके अनुसार हमारे मनमें उनके प्रति भक्तिका उदय होता है, और वह भक्ति सृष्टिके नियमके अनुसार हमारी भलाई करती है, इस लिए? जो लोग ईश्वरको व्यक्ति-भावसे देखते हैं, और कहते हैं कि ईश्वरको व्यक्ति-भावसे न मानकर जगत्की शक्तिसमष्टिको ईश्वर कहनेसे वह ईश्वरवाद निरीश्वरवादके सिवा और कुछ नहीं है, उनका मत यह है कि हम जैसे कोई हमारी भक्ति करता है तो उसके ऊपर सन्तुष्ट होते हैं और उसका उपकार करनेके लिए उद्यत होते हैं, वैसे ही ईश्वर भी अपनी भक्ति करनेवाले भक्तके ऊपर प्रसन्न होते हैं, और उसका भला करते हैं। और जो लोग ईश्वरको ब्रह्मरूप मानते हैं, और जगत्को ईश्वरसे अलग नहीं जानते, अर्थात् जो लोग पूर्णाद्वैतवादी हैं और ईश्वरमें व्यक्ति-भाव आरोपित करनेको असंगत समझते हैं, उनका मत यह है कि ईश्वरकी भक्ति करना जीवका स्वभावसिद्ध धर्म्म है, और उस भक्तिके करनेसे भक्तका मंगल होना ईश्वरकी सृष्टिका नियम है।

लोग सहज ही जगत्को अपने समान देखते या मानते हैं—'आत्मवन्मन्यते जगत्'—और ईश्वरमें भी अपनी प्रकृति तथा दोषगुणका आरोपण करते हैं। किन्तु तनिक सोचकर देखनेसे ही मालूम हो जाता है कि ईश्वरके

सम्बन्धमें हमारा ज्ञान बहुत ही कम है । ‘ नेति नेति ’ (ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है) कहकर ही हम ईश्वरके स्वरूपकी कल्पना करते हैं (१) । ईश्वरके स्वरूपको जानना मानव-शक्तिके परे है, यह कहकर आजकलके वैज्ञानिक लोग हमसे ईश्वरके जाननेकी निष्फल चेष्टासे निवृत्त होनेको कहते हैं । यद्यपि हम ईश्वरके स्वरूपको नहीं जान सकेंगे, तथापि ईश्वरको जानने-की चेष्टासे हम बाज नहीं आसकते । वे कैसे हैं, उनका क्या रूप है—यह हम जानते हैं, ऐसा कहकर कोई कोई व्यग्रताके साथ ज्ञानमार्गका अनुसरण करते हुए “ तत्त्वमसि ” (तुम ही वह हो) (२) इस सिद्धान्त पर पहुँचे हैं । कोई कोई लोग यह कहकर कि ज्ञानमार्ग दुरूह है, और ईश्वरका क्या रूप है—यह ठीक ठीक जान सकें या न जान सकें, हम उनके साथ मिलना चाहते हैं और भक्तिमार्गमें ईश्वरका अनुसरण करके उनके साथ तन्मयता प्राप्त कर सकनेसे ही मुक्तिका मिल जाना समझते हैं (३) । किन्तु भक्त और ज्ञानी दोनों ही ईश्वरके साथ मिल जानेकी इच्छा करते हैं, और वह मिलन-लाभकी इच्छा ही यथार्थ भक्ति कही जाती है ।

ईश्वर चाहे व्यक्तिभावापन्न हों, और चाहे विश्वरूप और विश्वकी अनन्त शक्ति ही हों, उनके साथ मिलनेकी जो मनुष्यकी इच्छा है उसका कारण यह है कि मनुष्य अपनी अपूर्णता और अभाव तथा उस अभावकी पूर्तिमें असम-र्थताके कारण निरन्तर व्याकुल रहता है, और “ विश्वका मूल जो अनन्त शक्ति है उसका आश्रय ग्रहण करनेसे उस अपूर्णताकी पूर्ति हो जायगी तथा वह अभाव दूर हो जायगा, ” इस अस्फुट ज्ञान या विश्वासके द्वारा प्रेरित हो रहा है, इसी लिए वह उस अनन्त शक्तिके साथ मिलनेकी इच्छा करता है । अत एव ईश्वरमें भक्ति होना मनुष्यके लिए स्वभावसिद्ध है । मगर हाँ, कुशिक्षा या कुसंस्कारके द्वारा ईश्वर-विश्वास नष्ट हो जानेसे हमारे हृदयसे वह भक्ति लुप्त हो जाती है ।

ईश्वरकी भक्ति जो मनुष्यके लिए शुभकर और कर्तव्य है, उसका कारण यह है कि ईश्वर पर भक्ति रहनेसे यह विश्वास कि जगत्‌की अनन्त शक्ति निरन्तर हमारी सहायता करती है और हमारे कार्योंको देखती रहती है,

(१) बृहदारण्यक उपनिषद् ४।२।४ देखो । (२) छान्दोग्य उपनिषद् ६।८—१६ देखो । (३) गीताका बारहवाँ अध्याय देखो ।

हमारे सब तरहके नैराश्यको मिटाता है, और सत्कर्मके दुरूह होने पर भी हमको उसकी ओर प्रवृत्त करता है, तथा असत्कर्मके सहज और आरंभमें सुखकर (आपातमधुर) होने पर भी हमको उधरसे निवृत्त करता है। ईश्वरकी भक्ति मनुष्यके लिए मंगलकर होनेका और भी एक कारण है। ईश्वर पूर्ण, पवित्र और महान् हैं। उनकी भक्ति अर्थात् उनसे मिलनेकी इच्छा सर्वदा मनमें जगी रहनेसे जो पूर्ण, पवित्र और महान् है उसीमें मनुष्यका मन अनुरक्त रहता है, और जो अपूर्ण, अपवित्र और क्षुद्र है उसकी ओरसे चित्तकी वृत्ति फिरी रहती है। इन्हीं सब कारणोंसे ईश्वरके प्रति भक्ति मनुष्यका स्वभावसिद्ध कर्तव्य और मंगलकर कार्य है। यहीं तक यह विषय हमारे लिए बोधगम्य है। इसके सिवा, ईश्वरकी भक्ति करनेसे वे उससे प्रसन्न होते हैं या नहीं, और प्रसन्न होकर हमारा मंगल करते हैं कि नहीं, यह हम ठीक नहीं कह सकते। यदि हम लोगोंकी प्रकृति उनकी प्रकृतिके अनुरूप हो, तो ऐसा संभव भी हो सकता है। किन्तु यह बात भी निश्चितरूपसे कही नहीं जासकती कि उनकी प्रकृति हम ऐसे अपूर्ण जीवोंकी प्रकृतिके समान है। हाँ, केवल इतना कहा जा सकता है कि हमारा जो कुछ भला-बुरा ज्ञान है, वह उन्हींके अनन्त ज्ञानका अस्फुट आभास है, और इसी कारण वह सर्वथा अलीक (मिथ्या) नहीं है।

नित्य उपासना।

ईश्वरकी नित्य उपासना उनके प्रति मनुष्यका दूसरा विशेष कर्तव्य है। देहके अभावोंकी पूर्ति और विषयवासनाकी तृप्तिके लिए हम उसमें निरन्तर इतना लिप्त रहते हैं कि सहजमें आध्यात्मिक चिन्तामें मन लगानेका अवसर नहीं पाते। इसी कारण प्रतिदिन दिनके काम शुरू करनेके पहले और समाप्त करनेके पीछे, कमसे कम दो बार, ईश्वरकी उपासनाके लिए कुछ समय नियत कर रखना आवश्यक है। ऐसा करनेसे, एक तो इच्छासे या अनिच्छासे दिनभरमें दो दफे आध्यात्मिक चिन्ताकी ओर मन जायगा, और क्रमशः अभ्यास हो जानेपर नित्य उपासनाकी ओर आपहीसे मन आकृष्ट होगा। ईश्वरकी भक्ति मनुष्यके लिए मंगलदायिनी होनेके जो जो कारण ऊपर कहे गये हैं, ठीक उन्हीं कारणोंसे नित्य ईश्वरकी उपासना भी हमारे लिए मंगलकर है। उपासनासे यह बोध उत्पन्न होता है कि हम ईश्वरके समीप हैं, अतएव

उसके साथ ही मनमें इस भावका उदय होता है कि उनकी अनन्तशक्ति हमें कर्ममें संचालित करती है, और हम उनकी पूर्णता और पवित्रताकी छायामें हैं। इससे बढ़ कर आध्यात्मिक उन्नतिका श्रेष्ठ उपाय और क्या हो सकता है?

यह चाहिए–वह चाहिए, कहकर ईश्वरके निकट प्रार्थना करना अकर्तव्य है। इसका कुछ ठीक नहीं है कि हम जो चाहेंगे वही पावेंगे। किन्तु यह बात निश्चित है कि हम अगर कोई अनुचित प्रार्थना करेंगे तो वह पूर्ण नहीं होगी। यहीं तक प्रार्थना विधिसिद्ध है कि हमारा जिसमें मंगल हो वही हम पावें, वही हो। एकाग्रभावसे यह प्रार्थना करनेसे हमारी एकाग्रता ही हमें वह फल दिला देगी। उपासनाके समय अपनी इच्छाके अनुसार प्रार्थना न करके ईश्वरके ऊपर ही संपूर्णरूपसे भरोसा रखनेका एक सुन्दर दृष्टान्त ब्राह्मणोंके 'सन्ध्यावन्दन' के एक मन्त्रमें है। आपोदेवतासे—अर्थात् जो ऐशी शक्ति जीवको भीतर और बाहरसे पवित्र करती है उस शक्तिसे—उपासक कहता है—"यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेहनः। उशतीरिव मातरः"(१)। अर्थात् तुम्हारे जो सर्वश्रेष्ठ मंगलकर रस हैं सन्तानकी हितकामनासे पूर्ण माताकी तरह, उन रसोंका भागी हमें बनाओ। मतलब यह कि माता जैसे सन्तानको, वह उसे जाने या न जाने, वही देगी जिसमें उसका भला होगा, वैसे ही ईश्वर भी अपने उपासकको, वह उसे जाने या न जाने, वही दें जिसमें उसका कल्याण हो।

जिस जातिकी जैसी प्राचीन पद्धति है उसीके अनुसार, यथायोग्यरूपसे, उपासना होना अच्छा है। वेदमन्त्रोंमें कोई दैवशक्ति है, यह मैं नहीं कहता, किन्तु उनके अद्भुत रचनासौन्दर्यका खयाल करनेसे और इतने दिनोंतक हमारे पूर्वपुरुषोंके द्वारा उनका प्रयोग होते रहने पर ध्यान देनेसे यह अवश्य ही स्वीकार करना पड़ता है कि उनमें भावोद्दीपनकी शक्ति असाधारण है। यह सच है कि असल उपासना मनका विषय है, वह वचनसे परे अर्थात् अनिर्वचनीय है। किन्तु अगर उपासनामें भाषाका प्रयोग करना हो, तो इसमें कुछ भी सन्देह नहीं प्राचीन पद्धति ही प्रशस्त है।

---

(१) ऋग्वेद १० मण्डल, ९ सूक्त, १-३ ऋचा देखो।

काम्य उपासना ।

स्थलविशेष और समयविशेषमें काम्य उपासना ईश्वरके प्रति मनुष्यका और एक कर्तव्य है। पहले कहा जा चुका है कि ईश्वरके निकट 'यह चाहिए वह चाहिए' कहकर प्रार्थना करना अकर्तव्य है, तो फिर काम्य उपासना कैसे कर्तव्य हो सकती है ?—इस प्रश्नके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि हम जब किसी विपत्तिमें पड़ते हैं, या किसी कठिन कर्तव्यके पालनमें प्रवृत्त होते हैं, तब, जिनकी असीम शक्ति हमारे सभी कर्मोंका सञ्चालन करती है उन्हें एकाग्रताके साथ स्मरण करनेसे, हमारे मनमें जो अपनी असमर्थताका बोध है वह दूर हो जाता है, और मनमें अपूर्व उत्साह और उद्यमका सञ्चार होता है।

मूर्तिपूजा और देवदेवियोंकी पूजा ।

कोई कोई कहते हैं कि मूर्तिपूजा और देवदेवियोंकी पूजाका निवारण करना भी ईश्वरके प्रति मनुष्यका एक विशेष कर्तव्य है। कारण ईश्वर निराकार और अनन्त है, एक और अद्वितीय है, उसे साकार और ससीम मूर्तियुक्त समझनेसे, और उसके साथ ही अनेक देवदेवियोंकी पूजा करनेसे, उसका अपमान किया जाता है। अगर कोई ईश्वरका पूर्ण और सर्वव्यापी होना अस्वीकार करके यह कहे कि ये केवल मूर्तिविशेषमें स्थित हैं, अथवा उनके समान या उनसे अलग समझकर अन्य देवदेवियोंकी पूजा करे, तो उसका वह कार्य अवश्य ही निन्दित है। किन्तु ऐसा कार्य बहुत ही कम लोग करते हैं। जो लोग मूर्तिपूजा या अनेक देवदेवियोंकी पूजा करते हैं, वे यह बात कहते हैं कि निराकार ईश्वरमें मनका लगाना कठिन या असंभव है, और ईश्वर जब सर्वव्यापी हैं तो वे मूर्तिविशेषमें भी हैं, यही सोचकर उस मूर्तिमें उन्हींकी पूजा की जाती है और देवदेवियोंको उन्हींकी भिन्न भिन्न शक्तियोंका प्रतिरूप समझ कर देवदेवियोंमें भी उसी अनन्त शक्तिकी पूजा की जाती है। ऐसा कार्य, निर्दोष भले ही न हो, निन्दित नहीं कहा जा सकता, खास कर उस हालतमें जब देखा जाता है कि जो लोग मूर्तिपूजाके विरोधी हैं उन्हींमेंसे अनेक लोग ईश्वरको व्यक्तिभावविशिष्ट समझते हैं।

२ मनुष्यके प्रति मनुष्यके धर्मनीतिसिद्ध कर्म ।

मनुष्यके प्रति मनुष्यका धर्मनीतिसिद्ध पहला कर्तव्य परस्पर एक दूसरेके धर्म पर यथायोग्य श्रद्धाका भाव दिखाना है।

लोग अपने धर्मको ही ठीक धर्म मानकर वैसा ही विश्वास करते हैं; और यह इच्छा करते हैं कि सभी उसी धर्मको माननेवाले हो जायँ। किन्तु सभीके एक धर्मावलम्बी होनेकी आशा करना असंगत है। मनुष्यजातिकी अनेक विषयोंमें एकता हुई है, और क्रमशः और भी अनेक विषयोंमें एकता होगी। किन्तु सभी विषयोंमें एकता होनेकी संभावना नहीं है। कारण, पूर्व-संस्कार, पूर्वशिक्षा, देशकी नैसर्गिक अवस्था और रीतिनीति, ये सब बातें भिन्न भिन्न व्यक्तियों और भिन्न भिन्न जातियोंकी इतनी विभिन्न हैं कि उनमें उन बातोंसे उत्पन्न पार्थक्य अवश्य ही रह जायगा। अतएव धर्मके सम्बन्धमें भी यद्यपि मोटी बातों (जैसे ईश्वर और परकालमें विश्वास) को लेकर भिन्न भिन्न धर्मोंमें पार्थक्य नहीं रह सकता है, तथापि सूक्ष्म बातोंको लेकर परस्परका पार्थक्य अनिवार्य है। इस अवस्थामें सभी मनुष्योंको एक धर्ममें लानेकी चेष्टा निष्फल है। जब यह बात है कि पृथ्वीपर भिन्न भिन्न धर्म बने रहेंगे, और सभी लोग विश्वास करते हैं कि उन्हींका अपना धर्म ठीक है, तब किसीके धर्मसे द्वेष करना या उसके बारेमें ठट्ठा करना किसीका भी कर्तव्य नहीं है। अगर किसीकी रायमें कोई धर्म बिल्कुल ही भ्रान्तिमूलक हो, या उसका कोई अनुष्ठान अमंगलकर अथवा वाहियात जान पड़े, और उस उस विषयका संशोधन करनेकी उसे बड़ी ही इच्छा हो, तो धीर और संयतभावसे श्रद्धाके साथ उन सब विषयोंकी आलोचना करनी चाहिए। इसके विपरीत करनेमें, अर्थात् केवल अपने धर्मकी प्रधानता स्थापित करनेके लिए, अथवा तर्कमें अन्यधर्मावलम्बीको परास्त करनेके इरादेसे आलोचना करनेमें, धर्मसंशोधनका उद्देश्य तो सफल ही न होगा, उलटे उस भिन्न धर्मावलम्बीके साथ वैमनस्य और विद्वेष बढ़ जायगा।

साधारण और साम्प्रदायिक धर्म सीखनेकी व्यवस्था करना मनुष्यके प्रति मनुष्यका धर्मनीतिसिद्ध दूसरा कर्तव्य कर्म है। यदि किसी देशमें किसी कारणसे (जैसे भारतमें राजा और प्रजाका धर्म भिन्न भिन्न होनेके कारण) राजा अपनी प्रजाकी धर्मशिक्षाका भार आप अपने ऊपर न ले, तो उस देशमें अपने लोगोंकी धर्मशिक्षाके लिए व्यवस्था करनेका भार प्रजाके ऊपर गुरुतर भावसे आपड़ता है।

अगर लोगोंका हित करना मनुष्यका कर्तव्य कर्म हो, तो लोगोंकी धर्म-शिक्षाका प्रबन्ध करना मनुष्यका अतिप्रधान कर्तव्य है। कारण, लोगोंको

धर्मशिक्षा देनेकी अपेक्षा उनके लिए अधिकतर हितकर कार्य और कोई नहीं है। धर्मशिक्षा पानेसे ही लोग इहकाल और परकाल दोनोंके लिए प्रस्तुत हो सकते हैं। यथार्थ धर्मशिक्षा केवल परकालहीके लिए नहीं होती। कारण, वह शिक्षा सबके पहले कह देती है कि इसी लोकके भीतर होकर परलोक जानेकी राह है, और इस लोकके कार्यको सुचारुरूपसे सम्पन्न किये बिना परलोकमें सद्गति नहीं होती। इसी कारण धर्मशिक्षाको सब शिक्षाओंकी जड़ कहा जाता है। यथार्थ धर्मशिक्षा पानेसे लोग आप ही व्यग्रताके साथ इस लोकके कर्तव्यपालनके उपयोगी शिक्षा पानेके लिए यत्नशील होते हैं, और साधुताके साथ संसारयात्राका निर्वाह करनेके लिए इरादा करते हैं।

धर्मशिक्षा जैसे लोगोंके इहकाल और परकाल दोनोंके लिए मंगलकारिणी है, और लोगोंकी धार्मिक शिक्षाका प्रबन्ध करना जैसे मनुष्यका प्रधान कर्तव्य है, वैसे ही यथार्थ धर्मशिक्षा देना कठिन काम भी है। एक तो धर्मके सम्ब-न्धमें इतना मतभेद है कि कौन किसे कैसी शिक्षा देगा यह ठीक करना दुरूह है। दूसरे, केवल धर्मनीतिका ज्ञान हो जानेसे ही धर्मकी शिक्षा पूरी नहीं होती, वह ज्ञान जिससे कार्यमें परिणत हो, अर्थात् जिससे धर्मनीति-सिद्ध काम करनेका अभ्यास हो, इसका प्रबन्ध करना भी धर्मशिक्षाका अंग है, और वैसा प्रबन्ध करना कोई सहज काम नहीं है।

सबसे पहले माता-पिताके निकट धर्मकी शिक्षा मिलनी चाहिए। वह शिक्षा, साधारण धर्म और साम्प्रदायिक धर्म, दोनोंके सम्बन्धमें हो सकती है। और माता-पिताकी दी हुई धर्मशिक्षामें, धर्मनीतिके ज्ञानका लाभ और धर्मकार्य करनेका अभ्यास कराना, इन दोनों विषयोंपर तुल्य दृष्टि रक्खी जा सकती है। पिता और माताके निकट पुत्र-कन्याकी धर्मशिक्षाके सुभीतेके लिए हरएक परिवारमें प्रतिदिन कमसे कम हर हफ्तेमें एकदिन, धर्मकथाकी आलोचनाके लिए—धार्मिक बातोंकी चर्चाके लिए—कुछ समय बँधा रहना चाहिए। और, प्रतिदिन ही मौकेके माफिक परिवारके लड़की-लड़कोंको किसी न किसी धर्मकार्यके अनुष्ठानमें किसी तरह लगाना कर्तव्य है।

सरकारी स्कूलोंमें रहे या न रहे, प्रजाके द्वारा स्थापित हरएक पाठशाला या स्कूलमें धर्मशिक्षाकी व्यवस्था रहनी चाहिए। लेकिन वह शिक्षा साधारण धर्मकी हो। साम्प्रदायिक धर्मोंकी शिक्षा होना संभवपर नहीं है। कारण,

स्कूलोंमें अनेक धर्मसम्प्रदायके विद्यार्थी आकर जमा हो सकते हैं। सबके लिए अलग अलग सांप्रदायिक धर्मोकी शिक्षाका प्रबन्ध हो नहीं सकता।

इसके सिवा धार्मिक बातोंकी आलोचनाके लिए सभासमितियोंके अधिवेशन (बैठकें) होनेका प्रबन्ध भी रहना चाहिए। इस देशमें कथा-पुराण बाँचनेकी जो चाल थी, और इस समय भी कुछ कुछ है, वह साधारणधर्मकी शिक्षाके लिए विशेष उपयोगी है और उसका अधिकतर प्रचार होना वांछनीय है। कथा-पुराण वगैरह जिस भाषामें बाँचे जाते हैं उसे बालक-बूढ़े और औरतें सब सहजमें समझ जाते हैं। कथा बाँचनेवाले व्यासकी वक्तृताशक्ति और संगीतशक्तिके प्रयोगसे कथा जो है वह एक साथ ही ज्ञान और आनन्द देकर सहज ही सब श्रेणियोंके श्रोताओंका चित्त अपनी ओर खींचनेमें समर्थ होती है।

धर्म-संशोधन।

धर्मका संशोधन करना मनुष्यके प्रति मनुष्यका धर्मविषयक तीसरा कर्तव्य है।

धर्म एक सनातन पदार्थ है। किसी समयमें भी उसका परिवर्तन नहीं हो सकता। किन्तु जगत् निरन्तर परिवर्तनशील है, मनुष्यकी प्रकृति और ज्ञान भी बदलता रहता है। अतएव मनुष्य जिसे धर्म मानता है, मनुष्यकी प्रकृति और ज्ञानके परिवर्तनके साथ ही साथ वह भी परिवर्तित होता रहता है। इसी कारण धर्मकी ग्लानि और अधर्मके अभ्युत्थानकी बात गीतामें (१) कही गई है। और, इसी कारण मनु भगवानने कहा है—

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नॄणां युगह्रासानुरूपतः॥

—मनु १।८५।

अर्थात् उत्तरोत्तर ह्रास होनेके अनुसार मनुष्योंके धर्म सत्ययुगमें और, त्रेतामें और, द्वापरमें और, और कलियुगमें और ही होते हैं।

अनेक लोग कहते हैं कि यद्यपि साधारण मनुष्यका ज्ञान परिवर्तनशील है, क्रमशः विकासको प्राप्त होता है, और उस ज्ञानसे प्राप्त तत्त्वका भी परि-

(१) यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ (गीता अ० ४, श्लोक ७)

वर्तन अवश्य ही उसके साथ ही साथ होता है, किन्तु जगत्के धर्मशास्त्रप्रणेता लोग साधारण मनुष्यमात्र नहीं थे, और असाधारण ज्ञानसे जाने गये जो सब तत्त्व शास्त्रोंमें कहे गये हैं उनमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, वे सब समय ग्राह्य अथवा माननीय हैं, उनका संशोधन अनावश्यक और असंभव है । हिंदू लोग कहते हैं, वेद आदि धर्मशास्त्र अपौरुषेय और अभ्रान्त हैं, ईसाई लोग बाइबिलको वैसा ही बताते हैं, मुसलमानोंके मतसे कुरानशरीफ भी वैसी ही किताब है । मैं इस समय यहाँ पर इन सब बातोंका शास्त्रीय विचार नहीं करना चाहता । किन्तु युक्तिमूलक आलोचना की जाय, तो कहा जा सकता है कि पृथ्वीके धर्मशास्त्रप्रणेता लोग जो ईश्वरका अवतार या अभ्रान्त कहकर संमानित किये गये हैं, उसका मतलब इसी अर्थमें संगत है कि उनके असाधारण मनोनिवेशके फलसे, उनकी आत्मामें अनन्त चैतन्यका अलौकिक विकास होनेके कारण, वे सब आध्यात्मिक तत्त्वोंको सर्व साधारणकी अपेक्षा अधिकतर विशदभावसे जान सके थे, और औरोंको भी जता सके थे । उन सब तत्त्वोंमेंसे कुछ नित्य और अपरिवर्तनीय हैं, और कुछ ऐसे हैं कि वे जिन जिन देशोंमें जिन जिन समयोंमें आविर्भूत होते हैं, उन उन देशों और समयोंके लिए विशेष उपयोगी होते हैं, अन्य देशों और समयोंके लिए उपयोगी नहीं होते । इस द्वितीय श्रेणीके धर्मतत्त्वों पर लक्ष्य रखकर ही मनीषी लोगोंने देशधर्म और युगधर्मकी बातें कही हैं । इसके सिवा धर्मशास्त्रप्रणेता लोग अपने अपने धर्मका जिस भावसे प्रथम प्रचार करते हैं, उस उस धर्मको ग्रहण करनेवाले लोग अपने दोषसे कुछ समयके बाद समयके फेरसे उसी भावसे उसका आचरण नहीं कर सकते, और उसका फल यह होता है कि धर्मकी ग्लानि उपस्थित होती है । इन्हीं सब कारणोंसे धर्मका मूल अपरिवर्तनीय होने पर भी, धर्मके संशोधनका प्रयोजन उपस्थित होता है ।

धर्मका संशोधन आवश्यक होने पर भी याद रखना होगा कि वह बहुत ही दुरूह कार्य है, उसको हर एक आदमी नहीं कर सकता । बहुत ही सावधान होकर श्रद्धाके साथ यह काम करना चाहिए । धर्मका संशोधन करनेके लिए प्रचलित धर्मके दोषोंका कीर्तन करना पड़ता है, और उसके साथ ही उसके ऊपर लोगोंके मनमें कुछ अश्रद्धाका भाव पैदा करना पड़ता है । धर्मके

ऊपर अश्रद्धा उत्पन्न करा देना जितना सहज है, उस पर फिर श्रद्धा उत्पन्न करा देना उतना सहज नहीं है। अतएव असावधान या अदूरदर्शी आदमी अगर धर्मका संशोधन करना चाहता है तो उसके द्वारा लोगोंके धर्म-लोपकी आशंका रहती है। फिर धर्मपर जिन्हें अन्धविश्वास है, उनका वह विश्वास तर्कसे जानेवाला नहीं। और, उनके साथ प्रचलित धर्मके बारेमें अश्रद्धासूचक बातचीत करना, उनको मर्मस्थलमें कष्ट पहुँचनेवाली वेदना देना है। इसी लिए धर्मसंस्कारकको अपना काम उद्धतभावसे या अनास्थाके साथ नहीं करना चाहिए।

हिन्दूधर्मका संशोधन।

अन्य धर्मोंके संशोधनकी बात अगर मैं कहूँगा तो वह अनुचित होगा। इस लिए यहाँ पर केवल हिन्दूधर्मके संशोधनके सम्बन्धमें ही मैं दो-एक बातें कहूँगा। क्योंकि इसका मुझे अधिकार है। हिन्दूधर्म अत्यन्त प्राचीन धर्म है। समयानुसार इसमें बहुत कुछ परिवर्तन हुआ है। और, यह भी नहीं कहा जा सकता कि इस समय इसके संशोधनका प्रयोजन नहीं है। लेकिन अधिकांश संस्कारक (रिफार्मर) जिन संस्कारोंको बहुत ही आवश्यक समझते हैं, वे सभी उतने प्रयोजनीय और निश्चित रूपसे हितकर नहीं कहे जा सकते। जिन संशोधनोंका आन्दोलन हो रहा है, या हुआ है, उनकी अच्छी तरह पूर्णरूपसे आलोचना इस छोटेसे ग्रन्थमें हो नहीं सकती। उनमेंसे (१) मूर्तिपूजानिवारण, (२) पूजामें पशु-बलिदानका निवारण, (३) बाल्यविवाह-निवारण, (४) विधवाविवाह चलाना, (५) जातिभेद दूर करना, (६) कायस्थोंको यज्ञोपवीत संस्कारका अधिकार, (७) विलायतसे लौटे लोगोंको समाजमें मिलाना, इन कई विषयोंके बारेमें यहाँ पर दो-एक बातें लिखी जायँगी।

१ मूर्ति-पूजा-निवारण।

मूर्तिपूजाके सम्बन्धमें पहले ही कहा जा चुका है कि अगर कोई मूर्तिको ही ईश्वर समझ बैठे, तो वह उसका बिल्कुल ही भ्रम है। किन्तु यदि कोई निराकार ईश्वरमें मन लगाना कठिन या असंभव जानकर, उनको साकार मूर्तिमें आविर्भूत मानकर, उनकी उपासना करता है, तो उसका वह कार्य निन्दनीय नहीं कहा जा सकता। हिन्दुओंकी पूजा-प्रणालीमें ही इसके अनेकानेक

प्रमाण मौजूद हैं कि हिन्दुओंकी मूर्तिपूजा सच्चे ईश्वरकी आराधना है, और शिक्षित हिन्दूमात्र उसे इसी दृष्टिसे देखते और समझते हैं। हिन्दू जब मूर्तिकी पूजा करता है, तो उस मूर्तिको अनादि अनन्त विश्वव्यापि ईश्वरकी मूर्ति समझता है। असंख्य हिन्दू जिसका नित्य पाठ करते हैं उस महिम्नः-स्तोत्रका एक श्लोक यह है—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति,
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

अर्थात्, वेदत्रयी, सांख्यशास्त्र, योगशास्त्र, पाशुपतमत, वैष्णवमत इत्यादिमेंसे यह श्रेष्ठ राह है, वह श्रेष्ठ राह है, इस तरह कह कर उनके अनुयायी लोग भिन्न भिन्न राहसे जाते हैं। रुचियोंकी विचित्रताके अनुसार टेढ़ी-सीधी राहोंपर चलनेवाले उन सब मनुष्योंका गम्य स्थान, हे महेश्वर, उसी तरह एक तुम्हीं हो, जिस तरह सब नदियाँ एक समुद्रहीमें जाकर मिलती हैं।

सब हिन्दुओंके पूज्य ग्रन्थ भगवद्गीता उपनिषद्में कथित यह भगवद्वाक्य भी इसी बातको प्रमाणित करता है—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

(गीता ९।२३)

अर्थात्, हे कौन्तेय, जो लोग, अन्य देवताओंके भक्त हैं, और श्रद्धापूर्वक उनकी पूजा करते हैं, वे भी, विधिपूर्वक न होनेपर भी, उस तरह मेरी ही पूजा करते हैं।

हिन्दुओंकी साकार-उपासना यथार्थमें निराकार सर्वव्यापी ईश्वरकी ही उपासना है, और इस बातको स्पष्ट प्रमाणित करनेवाला, व्यासका एक सुंदर भावपूर्ण श्लोक नीचे लिखा जाता है—

रूपं रूपविवर्जितस्य भवतो ध्यानेन यद्वर्णितम्,
स्तुत्याऽनिर्वचनीयताऽखिलगुरोर्दूरीकृता यन्मया।

व्यापकत्वञ्च निराकृतं भगवतो यत्तीर्थयात्रादिना,
क्षन्तव्यं जगदीश तद्विकलतादोषत्रयं मत्कृतम् ॥

अर्थात्, हे जगदीश, आपका कोई रूप नहीं है, फिर भी मैंने ध्यानमें आपके रूपका वर्णन किया है, हे संपूर्ण जीवोंके गुरु, आप वचनसे परे हैं, फिर भी मैंने स्तुतिमें आपकी महिमा गाकर आपकी अनिर्वचनीयता मिटाई है, हे भगवन्, आप सर्वव्यापी हैं, फिर भी मैंने तीर्थयात्रा आदि करके उसका निराकरण किया है। मुझ मूढ़ मतिने ये तीन दोष करके आपमें विकलताका आरोप किया है, सो आप मेरे इस अपराध को क्षमा कीजिए।

अतएव हिन्दूधर्म पौत्तलिकता (बुतपरस्ती) या बहु-ईश्वरवादके दोषसे दूषित नहीं है। उसे पौत्तलिक कहना, या बहुत ईश्वर माननेवाला कहना कदापि उचित नहीं है।

२ पूजामें पशुके बलिदानका निवारण।

देवताके उद्देशसे पशुके बलिदानकी चाल इस जातिमें दो कारणोंसे प्रचलित हुई होगी।

एक तो देवताकी प्रसन्नताके लिए अपनी उत्कृष्ट चीज, ममता छोड़कर, देनेकी इच्छा मनुष्यकी आदिम अवस्थाके लिए स्वभावसिद्ध बात है। ईश्वर मनुष्यसे महान् हैं, किन्तु (साकार अवस्थामें) उनकी प्रकृति हमारी प्रकृतिके समान है (१)। अतएव हम अगर अपनी उत्कृष्ट वस्तु उनको अर्पण करें तो वे उससे अवश्य ही सन्तुष्ट होंगे—इसी भावसे भक्तिका प्रथम विकास हुआ होगा। इसी कारण भिन्न भिन्न देशोंके धर्मशास्त्रोंमें नरबलि, अपने पुत्रकी बलि, और पशुबलिके अनेक वृत्तान्त पाये जाते हैं। जैसे—शुनःशेफका उपाख्यान (२), दाता कर्णकी कथा, और इब्राहीमका उपाख्यान (३)। ईश्वर कुछ नहीं चाहते, उनके नियमका पालन ही परमभक्ति है, और उनकी प्रीतिके लिए बलिदान आवश्यक नहीं है—मनुष्यके मनमें यह भाव आध्यात्मिक उन्नतिके साथ धीरे धीरे उदय होता है।

---

(१) ऋग्वेद १ मं०, २४ सू०; ऐतरेय ब्राह्मण, सप्तम पञ्जिका; रामायण बालकाण्ड, अ० ६१–६२ देखो।

(२) Genesis XXII देखो। (३) शब्दकल्पद्रुममें 'बलिः' शब्द देखो।

दूसरे, प्रवृत्तिपरतन्त्र मनुष्यकी मांसभोजनकी प्रबल प्रवृत्तिको कुछ संयत और निवृत्तिमुखी करनेके लिए, पूजामें देवताके उद्देशसे पशुबध विधिसिद्ध है, और अन्यत्र निषिद्ध है—इस तरह की व्यवस्था धर्मशास्त्रप्रणेता लोगोंके द्वारा स्थापित होना भी असंभव नहीं है।

किन्तु चाहे जिस कारणसे पशुबलिदानकी चाल चलाई गई हो, उसे रोकनेकी बड़ी जरूरत है। ईश्वरकी प्रीतिके लिए जीवहिंसा प्रयोजनीय है, यह बात युक्तिके साथ मेल नहीं खाती। सात्विक पूजामें पशुबलिदानका प्रयोजन न होनेके प्रमाण भी हिन्दू शास्त्रोंमें यथेष्ट हैं (१)।

३ बाल्यविवाह-निवारण।

हिन्दू शास्त्रोंमें पुरुषके बाल्यविवाहकी कोई विधि ही नहीं है। बल्कि प्रकारान्तरसे उसका निषेध ही देखनेको मिलता है (२)। लेकिन स्त्रीके लिए प्रथम रजोदर्शनके पहले ही, अथवा बारह वर्ष बीतनेके पहले ही, विवाहकी व्यवस्था (३) रहनेके कारण बाल्यविवाहको हिन्दू धर्मके द्वारा अनुमोदित कहना होगा। किन्तु उसके साथ ही शास्त्रमें लिखा है—

> काममामरणातिष्ठेद्गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
> न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥
>
> —मनु ९-८९।

अर्थात्, रजस्वला होनेपर भी कन्याको, उसकी मृत्यु तक, क्वाँरी ही भले घरमें बिठा रक्खे, किन्तु गुणहीन वरके साथ कभी उसका ब्याह न करे।

शास्त्रके इस वचन पर, और हिन्दूसमाजकी इस समय प्रचलित प्रथा पर दृष्टि डालनेसे समझ पड़ता है कि बारह वर्षकी अपेक्षा अधिक अवस्थामें और प्रथम रजोदर्शनके बाद भी कन्याका ब्याह होना एकदम हिन्दूधर्मके विरुद्ध लोग नहीं समझते। किन्तु प्रथम रजोदर्शनके बादका विवाह प्रशस्त नहीं, निन्दनीय है। अतएव बाल्यविवाहका निवारण करनेके लिए हिन्दूधर्मके संशोधनका कुछ प्रयोजन नहीं जान पड़ता। बाल्यविवाह हिन्दूसमाजसे एक तरह उठ गया है। थोड़ी अवस्थामें, अर्थात् कन्याकी तेरहसे लेकर चौदह वर्षतक की अवस्थामें, और पुत्रकी सोलहसे लेकर अठारह वर्षतककी अव-

---

(१) मनुसंहिता ३।१-४ देखो। (२) मनुसंहिता ९।८९—९४ देखो। (३) मनुसंहिता ९।८९-९४ देखो।

स्थामें ब्याह होना जो प्रचलित है, वह सामाजिक मामला है, धर्मके अन्तर्गत विषय नहीं है, और जैसे उसके प्रतिकूल अनेक बातें हैं, वैसे ही अनुकूल पक्षमें भी दो एक बातें हैं। उन सब बातोंकी कुछ आलोचना इसी भागके तीसरे अध्यायमें की जा चुकी है। यहाँ पर उसकी पुनरुक्ति करनेकी आवश्यकता नहीं है।

४ विधवाविवाहको प्रचलित करना।

विधवाका विवाह हिन्दूधर्मके द्वारा अनुमोदित नहीं है। ब्रह्मचर्य और चिरवैधव्यपालन ही हिन्दूधर्मके अनुसार विधवाका कर्तव्य है। विधवाविवाह हिन्दूधर्ममें एकदम निषिद्ध है कि नहीं, इस बातकी मीमांसा बहुत सहज नहीं है, और इस समय उसका विचार निष्प्रयोजन भी है। कारण, इस समय विधवाका विवाह कानूनसे जायज है (१), और जो लोग विधवा-विवाहमें शामिल हैं, वे यद्यपि सर्ववादिसंमत रूपसे समाजमें संमिलित नहीं हैं, किन्तु हिन्दूसमाज उनको अहिन्दू या भिन्नधर्मावलम्बी नहीं कहता। हिन्दूसमाज यह बात कहता है कि जो विधवा चिरवैधव्यका पालन करनेमें असमर्थ है, वह ब्याह कर ले, उसका ब्याह कानूनसे जायज है, और उसमें किसीकी कोई आपत्ति नहीं चल सकती। लेकिन उसका वह कार्य उच्च आदर्शका नहीं है। जो विधवा चिरवैधव्यव्रतका पालन कर सकती है, उसका कार्य उच्च आदर्शका है। हिन्दूसमाज पहली श्रेणीकी विधवाको मानवी, और दूसरी श्रेणीकी विधवाको देवीके नामसे पुकारना चाहता है। यह बात असंगत नहीं कही जा सकती। जो विधवा इस जन्मके सुखकी वासना छोड़ कर परलोकके मंगलकी कामनासे मृत पतिकी स्मृतिकी पूजा करती हुई अपने जीवनको परिवारका, परोसियोंका और जनसाधारणका हित करनेमें लगा सकती है, उसका जीवन उच्च आदर्शका है, और उसकी तुलनामें वह विधवा, जो इस लोकके सुखकी कामनासे दूसरे पतिको ग्रहण करती है, उसका जीवन उतने उच्च आदर्शका नहीं है, यह बात किस कारणसे अस्वीकार की जा सकती है, सो बहुत कुछ सोचनेसे भी समझमें नहीं आता।

किसी विधवाके अभिभावक उसका ब्याह कर देनेको अगर अच्छा समझें तो वे अनायास ही उसका ब्याह कर सकते हैं, और कानूनके माफिक वह

(१) इस सम्बन्धमें सन् १८५६ ई० का १५ वाँ कानून देखना चाहिए।

विवाह जायज है । किन्तु हिन्दूसमाज विधवाके विवाहकी अपेक्षा चिरवैधव्य-पालनको ही उच्च आदर्शका कार्य मानता है । इस अवस्थामें विधवाविवाह-को चलानेकी चेष्टा, उस मतको बदलकर उसके विपरीत मत स्थापित करने-की चेष्टाके सिवा और कुछ नहीं है । किन्तु वह क्या समाजके लिए हितकर है ? जीवनका आदर्श जितना उच्च रहे, समाजके लिए क्या वह उतना ही भलाई का कारण नहीं है ? अगर कोई कहे कि समाजका यह मत उन लोगोंके लिए, जो विधवाविवाहसे सम्बन्ध रखते हैं, स्पष्टरूपसे चाहे न हो, प्रकारान्तरसे अनिष्टकर है, तो उसका भी उत्तर है । समाजके द्वारा विधवाविवाहसे सम्बन्ध रखनेवालोंका जो अनिष्ट होता है, वह बहुत कुछ उन्हींके कार्यका फल है । वे अगर विधवाविवाह चिरवैधव्य पालनकी अपेक्षा अच्छा काम है, और विधवाविवाह समाज और देशके मंगलके लिए प्रचलित होना चाहिए, इत्यादि बातें कहकर, चिरवैधव्यपालनके ऊपर हिन्दूसमाजकी जो श्रद्धा है उसे नष्ट करनेकी चेष्टा न करें, तो अनेक लोग उनका विरोध करना छोड़ देंगे।

५ जाति-भेदका निराकरण ।

जातिभेद वर्तमान हिन्दूधर्मका एक विशेष विधान है । प्राचीन वैदिक युगमें जातिभेद था कि नहीं, और ऋग्वेदका (१)पुरुषसूक्त (जिसमें जातिभेद-का प्रमाण है) प्रक्षिप्त है कि नहीं, इन सब प्राचीन तत्त्वोंकी आलोचना होना, ' इस समय जातिभेद मिटा देना उचित है कि नहीं ? ' इस प्रश्न-के सम्बन्धमें विशेष प्रयोजनीय नहीं जान पड़ता । अनेक लोगोंका मत है कि उसे उठा देना उचित है । कारण, वह अनेक प्रकारके अनिष्टोंकी जड़ है।

जातिभेदकी प्रथा हिन्दुओंमें एकता स्थापित करनेमें बाधा डालनेवाली है । और, वह किसी किसी जगह आपसमें विद्वेषभाव भी उत्पन्न करती है । लेकिन यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसमें केवल दोष ही दोष हैं, गुण एक भी नहीं है । हिन्दुओंके बीच जो ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रका जन्मगत जातिभेद है उसने पाश्चात्य सभ्यताके धनी और दरिद्रके अर्थगत जातिभेद-को हिन्दूसमाजके भीतर संपूर्ण रूपसे नहीं घुसने दिया है । अर्थगत जाति-भेद जितना मर्मवेदनाका कारण होता है, उतना जन्मगत जातिभेद नहीं होता । पाश्चात्य समाजमें धनी और निर्धनका जितना पार्थक्य है, हिन्दू

(१) ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त ९०, ऋचा १२ ।

समाजमें उतना नहीं है। हिन्दुओंमें एक जातिके सभी मनुष्य सामाजिक मामलोंमें समान हैं, उनमें धनी और निर्धनका अन्तर नहीं देखा जाता। और इसी कारण, धनकी मर्यादा उतनी अधिक न होनेसे, हिन्दूसमाजमें धनकी लालसा कुछ शान्त है। किन्तु दुःखका विषय यह है कि उस भावका अब और अधिक दिन तक टिकना संभव नहीं है।

हिन्दुओंका जातिभेद अनिष्टकर कारण होने पर भी, उसे एकदम उठा देना भी, असंभव है। हिन्दूको रोटी-बेटीके सम्बन्धमें जातिभेद अवश्य ही मानना पड़ेगा। इसका कारण इसी भागके चौथे अध्यायमें कहा जा चुका है। यहाँ पर उसे दुहराना निष्प्रयोजन है। हाँ, रोटी और बेटी इन दोनों विषयोंको छोड़ कर और सब मामलोंमें भिन्न भिन्न जातियोंको आपसमें सद्भाव अवश्य स्थापित करना चाहिए। एक जातिको अन्य जातिसे घृणा या अनादरका व्यवहार भूल कर भी न करना चाहिए।

६ कायस्थोंको यज्ञोपवीत संस्कारका अधिकार।

एक तरफ जैसे कुछ समाजसंस्कारक और धर्मसंस्कारक लोग जातिभेदको एकदम उठा देनेकी चेष्टा कर रहे हैं, वैसे ही दूसरी तरफ और कुछ उन्हीं श्रेणियोंके संस्कारक कायस्थोंको अन्य शूद्र जातियोंसे अलग करनेकी, और उन्हें क्षत्रियोचित यज्ञोपवीत संस्कारका अधिकारी बनानेकी, अर्थात् उनको जनेऊ पहनानेकी, चेष्टामें लगे हुए देख पड़ते हैं।

कायस्थ जातिके क्षत्रियवंशसंभूत होनेका कुछ पौराणिक (१) प्रमाण है, और उनकी आकृति-प्रकृति तथा ब्राह्मणोंके साथ घनिष्ठ सम्बन्धसे इस बातका अनुमान किया जा सकता है कि वे अनार्य शूद्र नहीं हैं। किन्तु बहुत दिनोंसे शूद्रोंके ऐसे आचरण करनेके कारण अदालतके विचारमें (२) वे शूद्र ही निश्चित हो चुके हैं। इस समय कायस्थ लोग जनेऊ पहन कर, अपनेको क्षत्रिय कहकर, अगर क्षत्रियोंके लड़की लड़कोंके साथ अपने लड़के-लड़कियोंका ब्याह करें तो वह विवाह अदालतके विचारमें जायज होगा, या

---

(१) पद्मपुराण देखो।

(२) Indian Law Reports, Vol. X, Calcutta Series, P. 688 देखो।

असवर्णविवाह माना जाकर नाजायज होगा? और कोई कायस्थ अगर अपने भानजेको (अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके लिए निषिद्ध पात्रको) गोद ले, तो वह दत्तक कानूनकी रूसे जायज होगा या नाजायज?—इन प्रश्नोंका उत्तर देना सहज नहीं है। जनेऊके लिए उद्योग करनेवाले कायस्थ महाशयोंको इन प्रश्नोंपर लक्ष्य रखना चाहिए, और विचार करना चाहिए।

७ विलायतसे लौटे हुए लोगोंको समाजमें लेना।

इंग्लैंडके साथ भारतका जैसा घनिष्ट सम्बन्ध है, और वर्तमान समयमें लोगोंके जैसे अनेक प्रकारके प्रयोजन हैं, उनपर दृष्टि रखनेसे अनायास ही स्पष्ट समझ पड़ता है कि इस समय हिन्दुओंके विलायत और अन्यान्य दूर देशोंमें जानेकी आवश्यकता है। अतएव विलायत या वैसे ही किसी और दूरदेशसे लौट हुए हिन्दूको समाजमें न लेनेका फल यह होगा कि हिन्दूसमाज दिन दिन क्षीण होता चला जायगा। इस बातको सभी समझते हैं, और इसे समझनेके कारण ही अनेक लोग विलायतसे लौटे हुए आदमियोंको बिना किसी बाधाके समाजमें लेनेके लिए तैयार हैं, और आवश्यक होने पर वैसा करते भी हैं। कोई कोई समाजकी मर्यादा बनाये रखनेके लिए पहले उनसे प्रायश्चित्त करा डालते हैं और फिर उनको समाजमें मिला लेते हैं। किन्तु अभी ऐसे लोगोंकी संख्या अधिक है जो इस कामको हिन्दूधर्मविरुद्ध कह कर विलायतसे लौटे हुए लोगोंको किसी तरह समाजमें लेनेके लिए राजी नहीं होते। वास्तवमें अभक्ष्य-भक्षण करनेवाला आदमी हिन्दूधर्मके अनुसार पतित हो जाता है। अतएव अगर विलायतसे लौटे हुए लोगोंको सर्ववादिसम्मत-रूपसे हिन्दूसमाजमें लेना है, तो यह आवश्यक है कि वे लोग जब तक विदेशमें रहें तबतक कोई ऐसी चीज न खायें-पियें जिसे खाना-पीना हिन्दूसमाज या हिन्दूशास्त्रोंमें निषिद्ध माना गया है। अगर यह बात सहज और संगत हो, तो जो सब विलायतयात्री हिन्दू हिन्दू रहना चाहते हैं और यह इच्छा रखते हैं कि उन्हें हिन्दूसमाज अपनेमें मिला ले, उन्हें इसी नियमसे विदेशमें खान-पानका प्रबन्ध करके रहना चाहिए। ऐसा होनेसे सब झगड़ा मिट जायगा। अतएव पहले यही बात विवेचनीय है कि पूर्वोक्त नियमसे विदेशमें रहना सहज और संगत है कि नहीं।

लगभग बीस पचीस वर्ष पहले एक बार इस मामलेका आन्दोलन हुआ था, और उसमें हिन्दूसमाजके और विलायतसे लौटी हुई मण्डलीके कई गण्य मान्य उत्साही सज्जन शामिल थे। उस समय दो-एक प्रतिष्ठित अँगरेजों और विलायतसे लौटे बंगालियोंसे पूछने पर मालूम हुआ था कि विलायतमें, इतने खर्चमें, जितना कि चंदा करके जमा किया जा सकता है, एक छोटा-मोटा हिन्दूआश्रम स्थापित किया जा सकता है, और वहाँ जानेवाले लोग उसमें हिन्दुओंकी रहन-सहन और आचरणके साथ, और जी चाहे तो एकदम निरामिषभोजी होकर, अनायास रह सकते हैं। हिन्दू-जातिके विद्वान् पण्डितोंसे पूछने पर मालूम हुआ था कि हिन्दूके लिए उचित आचरण करके कोई विलायतमें रहे तो लौटने पर उसे हिन्दूसमाजमें मिला लेनेमें कोई विशेष बाधा नहीं है। किन्तु इस प्रस्तावके उद्योगी लोगोंमें मत-भेद हो जानेके कारण इस सम्बन्धमें कुछ काम न हो सका। लेकिन इस समय भी बीचबीचमें यह प्रसंग उठता है, और किसी समय विलायतमें हिन्दू-आश्रम स्थापित होनेकी आशाको दुराशा मानकर एकदम छोड़ देनेको जी नहीं चाहता। जो लोग बैरिस्टर होनेके लिए विलायतयात्रा करते हैं, उनके पक्षमें यह आपत्ति हो सकती है कि वहाँ उनकी शिक्षाके लिए स्थापित जो 'इन्' नामक विद्यामन्दिर है, उसमें, वहाँके नियमानुसार, सब छात्रोंको एकत्र होकर नियमितसंख्यक भोजों (दावतों) में शामिल होना पड़ता है; अतएव वे हिन्दू-आश्रममें नहीं रह सकेंगे। किन्तु यह आपत्ति अखण्डनीय नहीं जान पड़ती। हिन्दूसमाजकी ओरसे उपयुक्त रूपसे आवेदन होने पर 'इन्' के सञ्चालक लोग हिन्दू छात्रोंके सम्बन्धमें अपने प्रचलित नियमको कुछ बदलनेके लिए राजी न होंगे, ऐसी आशंका करनेका कोई कारण नहीं देख पड़ता।

बहुत लोग इस बातको असंगत समझते हैं कि विलायतमें जाकर भी हिन्दू विद्यार्थी अँगरेजोंके साथ संपूर्णरूपसे न हिल मिलकर उनसे अलग हिन्दू-आश्रममें रहें। वे कहते हैं, यह हिन्दूपनकी अनुचित जिद है। किन्तु हिन्दूपनके पक्षसे भी यह कहा जा सकता है कि हिन्दूका इँग्लैंडमें जाकर भी, निषिद्ध मांसको खाना उसके स्वास्थ्यके लिए अहितकर ही है, हितकर नहीं। और, जहाँ-तहाँ जिस-जिसके हाथसे अन्न-भोजन करना भी वैसा ही है—उससे

भी स्वास्थ्य-हानि होती है । फिर यह युक्ति भी उतनी प्रबल नहीं जान पड़ती कि एक-साथ बैठकर भोजन किये बिना हेलमेल नहीं बढ़ता । सदालापके द्वारा मनका मिलना ही उत्कृष्ट मिलन है । दावतमें एक साथ बैठकर भोजन करनेसे होनेवाला मिलन उस मिलनेकी अपेक्षा बहुत निकृष्ट श्रेणीका है।

इसके सिवा इँग्लैंडमें हिन्दू-आश्रमकी स्थापना और वहाँ हिन्दुओंके आचार-विचार बनाये रखकर हिन्दूका रहना, ये दोनों बातें ऐसी हैं कि इनसे हिन्दू जातिका गौरव ही होगा, लाघव नहीं ।

विलायत-यात्रीके लिए हिन्दूके आचारसे चलना कुछ कष्टसाध्य भले ही हो, असाध्य नहीं है ।

धर्म-संस्कारकोंको यह याद रखना आवश्यक है कि धर्मका परिवर्तन और धर्मका संशोधन ये दोनों जुदी जुदी बातें हैं । अगर हिन्दूधर्मके बदले और धर्म स्थापित करना कर्तव्य हो, तो वह जुदी बात है । किन्तु हिन्दूधर्मको बनाये रखकर केवल उसका संशोधन करना अभीष्ट हो, तो उसके किसी उत्कृष्ट अंश (जैसे सात्विक और संयत आहारके नियम) में किसी तरहका परिवर्तन करनेकी जरूरत नहीं है ।

सातवाँ अध्याय ।

कर्मका उद्देश ।

कर्मके सम्बन्धमें बहुतसी बातें कही गई हैं; अब कर्मके उद्देश्यके सम्बन्धमें दो चार बातें कहकर यह पुस्तक समाप्त की जायगी ।

हमें अपने अभावों और अपनी अपूर्णताओंके कारण अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं । उन अभावों और अपूर्णताओंकी पूर्तिके द्वारा दुःखको दूर करने और सुखको पानेके लिए हम निरन्तर कर्ममें लगे रहते हैं । किन्तु यदि यही बात है, तो हम सुखकर कर्मको न करके, कर्तव्यकर्म क्या है—यह जाननेकी और उसी कर्मको करनेकी चेष्टा क्यों करते हैं ? क्या सुखलाभ ही कर्मका चरम उद्देश्य नहीं है ? इसके उत्तरमें संक्षेपमें यह कहा जा सकता है कि कर्मका चरम उद्देश्य सुखलाभ अवश्य है, किन्तु वह सुख क्षणस्थायी या साधारण सुख नहीं है, वह चिरस्थायी परम सुख है, और कर्तव्यकर्म करनेसे ही वह सुख मिलता है । जो अपूर्णता हमारे दुःखोंका कारण है वह अपूर्णता ही यह नहीं देखने देती कि दूरस्थ किन्तु चिरस्थायी परम सुख क्या है, और वही हमें निकटस्थ क्षणस्थायी साधारण सुखकी प्राप्तिके लिए सचेष्ट रखती है । पूर्णज्ञानकी प्राप्ति हो जाने पर हम चिरस्थायी परम सुखको ही सुख समझेंगे, केवल कर्तव्यकर्म ही करेंगे, जो श्रेय है केवल वही हमें प्रेय जान पड़ेगा । किन्तु वह ज्ञान पैदा होनेपर और पूर्णता मिल जानेपर फिर दुःख नहीं रह जायगा, और कर्म करनेकी अधिक चेष्टा भी नहीं रहेगी । जब ज्ञानकी इतनी क्षमता है, तब अर्जुनका यह प्रश्न सभीके मनमें उठेगा कि—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥

—गीता ३।१

अर्थात्, हे जनार्दन, हे केशव, अगर आपकी रायमें कर्मसे ज्ञान ही श्रेष्ठ है, तो फिर आप मुझे इस घोर कर्म (युद्ध) में क्यों नियुक्त करते हैं ?

किन्तु इसका उत्तर भी गीतामें वहीं पर भगवान्के इस वाक्यमें मिल जाता है कि—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥
—गीता ३।४

अर्थात्, हे अर्जुन, कर्म न करनेसे मनुष्यको नैष्कर्म्यकी स्थिति (मुक्ति) नहीं मिलती (कर्मोंको न करना कर्मत्याग नहीं है), और न केवल संन्यास ले लेनेसे ही सिद्धि मिल जाती है ।

मतलब यह कि नैष्कर्म्य-लाभके लिए कर्म करनेका प्रयोजन है ।

कर्मसे निष्कृति (छुटकारा) मिलना ही कर्मका चरम उद्देश्य है, यह बात पहले सुननेमें यद्यपि असंगतसी जान पड़ती है, लेकिन कुछ सोचने और ध्यान देकर देखनेसे मालूम हो जायगा कि यही यथार्थ तत्त्वकी बात है । यह सच है कि कर्म करते करते कर्म करनेकी इच्छा और शक्ति बढ़ती है, किन्तु वह चिकीर्षा (करनेकी इच्छा) और कर्मकुशलता कर्मानुष्ठानका निकट-लक्ष्य और प्रथम उद्देश्य है, उसका दूर-लक्ष्य या चरम उद्देश्य नहीं है । हमारे अनिवार्य अभावपूरण और ज्ञानपिपासाकी तृप्तिके लिए कुछ काम अत्यन्त प्रयोजनीय हैं । उनके सम्पन्न होनेसे कुछ अभावोंकी पूर्ति और ज्ञानलाभ होनेके कारण धीरे धीरे काम करनेकी व्यग्रता घट जाती है, और जीव निवृत्ति-मार्गका पथिक होता है । कर्म करनेमें होनेवाले अभ्यासके द्वारा जो जितनी जल्दी अपने आवश्यक कर्मोंको समाप्त कर सकता है वह उतनी जल्दी नैष्कर्म्य या मुक्तिको पानेकी चिन्ता करनेके लिए समय पाता है । किन्तु मनुष्य-जीवनके कर्तव्य कर्मोंको न करके, मानव-हृदयकी कामनाको तृप्त किये बिना, साधारण मनुष्य (बुद्धचैतन्य आदि महापुरुषोंकी बात दूसरी है) निवृत्तिमार्गमें कभी नहीं चल सकता । मैंने मानव-जीवनका कोई भी काम नहीं किया, इस मर्मभेदी चिन्ता और अतृप्त वासनासे परिपूर्ण हृदय मुक्तिमार्ग-चिन्तनमें सम्पूर्णरूपसे बाधा डालनेवाला होता है । इसी कारणसे हिन्दूशास्त्रमें गृहस्थाश्रम-ग्रहण और धर्मकर्मानुष्ठानकी विधि है ।

जीवनके प्रारम्भमें जैसे कर्मोंकी ओर प्रवृत्ति अनिवार्य है, वैसे ही जीवनके अंतिम भागमें कर्मोंकी ओरसे निवृत्ति भी अवश्यंभावी है। लेकिन यथासम्भव कर्तव्य कर्मोंको सम्पन्न और हृदयकी वासनाओंको परितृप्त करके, मुक्तिचिन्ताके लिए समय रहते-रहते, जो निवृत्तिमार्गगामी हो सकता है, वही यथार्थ सुखी है, और उसीके कर्म कर्मके यथार्थ उद्देश्य (कर्मोंसे निवृत्ति मिलने) को पूरा करते हैं।

सकाम और निष्काम कर्मी।

कर्मके उद्देश्यकी आलोचनामें देखा गया कि वह उद्देश्य पहले तो कर्मफलकी कामना है और अन्तको परिणाममें उस कामनाकी निवृत्ति। अतएव उसके अनुसार कर्मीकी सकाम और निष्काम ये दो श्रेणियाँ हो सकती हैं। सकाम कर्मीके कर्मका उद्देश्य कर्मफलका लाभ है, और उसकी कर्मसे निवृत्ति यद्यपि परिणाममें अवश्य ही होगी—तथापि साक्षात् सम्बन्धमें, उसके कर्म करनेसे नहीं होती, उसकी कर्म करनेकी शक्ति घटनेके साथ साथ दिखाई पड़ती है। केवल निष्काम कर्मीके कर्म करनेका उद्देश्य कर्मसे निवृत्ति है। इससे बहुत लोग यह सोच सकते हैं कि तब तो सकाम कर्मी ही श्रेष्ठ है, क्योंकि उसमें ' कर्मसे निवृत्ति ' नहीं है, अर्थात् वे कर्म बराबर करते रहते हैं, और उन्हींके द्वारा पृथ्वीका अधिक उपकार हो सकता है। मगर कुछ ध्यान देकर देखनेसे समझमें आ जायगा कि यह खयाल ठीक नहीं है।

निष्कामकर्मकी श्रेष्ठता।

सच है कि सकाम कर्मीके कामोंसे पृथ्वीका हित हो सकता है, किन्तु मूलमें उनका प्रेरक स्वार्थ है, और कर्मीके स्वार्थके लिए उन कर्मोंसे जहाँतक औरोंका हित होना आवश्यक है, केवल वहीं तक उनसे पृथ्वीका हित होगा। सकाम कर्म करनेवाला अगर देखे कि चुपचाप अलग एकान्तमें पृथ्वीका कोई विशेष हित करनेसे उसमें यश पानेकी संभावना थोड़ी है; किन्तु प्रकाश्यरूपसे अपेक्षाकृत अल्प-हितकर कार्य करनेसे उसमें बहुत कुछ यश प्राप्त होगा, तो वह प्रथमोक्त कामको छोड़कर पिछला काम ही करेगा। अनुष्ठित कार्यको पूरा करनेमें निष्काम कर्मीकी अपेक्षा सकामकर्मी अधिकतर दृढ़व्रत हो सकता है, किन्तु कार्यसाधनका उपाय निकालनेमें निष्कामकर्मी जहाँतक हिताहितकी विवेचना करेगा, सकाम कर्मीका वहाँतक विवेचना करना असंभव

ह। कार्यसाधनके द्वारा जो फल होगा उसे पानेके लिए वह स्वभावसे ही इतना व्यग्र रहता है कि कार्यसाधनके उपायोंके दोष-गुणोंपर उसकी विशेष दृष्टि नहीं रहती। निष्काम कर्मी केवल कर्तव्यके ज्ञानसे कर्ममें प्रवृत्त होता है, अतएव उसकी असत् उपायोंको काममें लानेकी प्रवृत्ति कभी नहीं हो सकती। अनेक जगह ऐसा होनेकी संभावना है कि सकाम कर्मीके मनमें असत् उपायोंके द्वारा सत्कर्मको सिद्ध करनेकी प्रवृत्ति हो, किन्तु निष्काम-कर्मीके पक्षमें ऐसी घटना कभी नहीं हो सकती। इसके सिवा सकाम कर्मीके कर्मोंके साथ साथ अकर्मका होना भी संभव है। किन्तु निष्काम कर्मी समय समय पर निष्कर्मा हो सकता है, पर अकर्म नहीं कर सकता। अतएव सकाम कर्मीके कर्म देखनेमें दृढ़तायुक्त और उद्योगपूर्ण होने पर भी, यह बात नहीं स्वीकार की जा सकती कि वे परिणाममें पृथ्वीके लिए निष्काम कर्मीके अनुद्धत और आडम्बरशून्य कर्मोंसे अधिक हितकर हैं। सकाम कर्मीके आडम्बरपूर्ण कामोंकी उपमा आँधी और मेघगर्जनसे युक्त वर्षाके साथ दी जा सकती है, और निष्काम कर्मीके धूमधामसे खाली काम मृदु मंद पवन और धीरे धीरे गिरनेवाले धारापातके साथ तुलनीय हैं। एकके द्वारा पृथ्वीका हित और अहित दोनों बातें होती हैं, पर दूसरेके द्वारा हितके सिवा अहित होनेकी संभावना नहीं।

इसके सिवा निष्काम कर्मीका दृष्टान्त संसारमें केवल शुभकर ही नहीं है, अति आवश्यक भी है। मनुष्य स्वभावसे ही इतना स्वार्थपर है कि उसके सामने बीच बीचमें निष्काम कर्मीके निःस्वार्थ काम करनेका उज्ज्वल पथ-प्रदर्शक दृष्टान्त न रहे, तो सकाम कर्मियोंके स्वार्थ-संघर्षणसे संसार विषम संकटस्थल हो उठे।

सकाम कर्म और निष्काम कर्मके बीच एक बहुत बड़ा अन्तर और भी है। सकाम कर्मी जो है, वह फलकी कामनासे कर्ममें प्रवृत्त होकर, उन शक्तियोंको, जो उस फलकी प्राप्तिमें बाधा डालनेवाली हैं, शत्रु समझता है और स्वार्थके द्वारा अच्छी तरह उत्तेजित तीव्रताके साथ उनका विरोध करने लग जाता है। यह सच है कि जड़जगत्की स्पष्ट प्रतीयमान अप्रतिहत शक्तिके साथ वैसा आचरण नहीं चल सकता, और कौशलके द्वारा वैसी शक्तियोंकी गति

फिराकर उन्हें अपना कार्य सिद्ध करनेके उपयोगी बना लेना होता है। किन्तु कर्मफललाभकी प्रचण्ड उत्तेजनामें चैतन्य जगत्की सारी छुपीहुई शक्तियोंकी उपेक्षा करके सकाम कर्मी उनके साथ संमुख-संग्राममें प्रवृत्त होता है, और अनेक जगह इससे वांछित फल न मिलकर कुफल ही फलता है। इस तरह सकाम कर्मी लोग संकल्पित कार्यके साधनमें व्यग्र होकर, अन्यके सुखःदुख या हिताहित पर दृष्टिपात न करके, उसके द्वारा हो सकनेवाली दूसरेसे शत्रुताका खयाल न करते हुए, कार्यमें अग्रसर होते हैं, और अपना इष्ट सिद्ध हो या न हो, अन्य लोगोंका बहुत कुछ अनिष्ट कर डालते हैं। सकाम कर्म इस तरह अनेक जगह कर्मीको मोहसे अंधा बना देता है, और उसे जगत्की छुपीहुई शक्तिके साथ वृथा-संग्राममें लगा देता है। निष्काम कर्मी भी कर्तव्य-साधनमें सचेष्ट अवश्य होते हैं, किन्तु वे जड़जगत् या चैतन्यजगत्की किसी शक्तिकी उपेक्षा नहीं करते; बल्कि जगत्की सभी शक्तियोंकी सहायता लेकर कर्तव्य-साधनमें अग्रसर होते हैं। अतएव यह बात कही जा सकती है कि सकाम कर्मका उद्देश्य अनेक जगह जगत्की अप्रत्यक्ष शक्तिसे संग्राम करके उसके द्वारा कार्य-साधन करना है, और निष्काम कर्मका उद्देश्य उसी शक्तिकी सहायतासे कर्तव्य-पालन करना है।

कर्मसे छुटकारा पानेका अर्थ।

ऊपर कहा गया है कि कर्मका चरम उद्देश्य कर्मसे छुटकारा पाना है। किन्तु इसमें आपत्ति हो सकती है कि वैसा होना कैसे संभव है? गतिमात्र जितनी हैं, वे कर्म हैं। जगत् दम भरके लिए भी स्थिर नहीं है। वह निरन्तर गतिशील, अर्थात् कर्मशील है। अतएव ब्रह्मकी पूर्ण निखिलता अपरिवर्तनशील और निष्क्रिय होने पर भी, उसका व्यक्त अंश—यह दिखाई देता हुआ जगत्—कर्मशील है। अतएव कर्मकी निवृत्ति कैसे होगी? इसके उत्तरमें इतना ही कहा जा सकता है कि ब्रह्मसे बिछड़ा हुआ जीव "मैंने यह कार्य किया, मैं यह कार्य करता हूँ" इस अहं-ज्ञानसे, ब्रह्मके साथ मिलनके द्वारा, छुटकारा (मुक्ति) प्राप्त करेगा। और, उसके बाद ब्रह्मकी व्यक्तशक्ति कर्ममें लगी रहने पर भी, ब्रह्मलीन जीव फिर अपनेको कर्ममें नियुक्त नहीं जानेगा।

कर्मकी गति सुपथमुखी और ध्रुव है।

कर्मके चरम उद्देश्य मुक्तिलाभकी साधनाके लिए पहलेहीसे संयत और साधु भावसे कर्म करना आवश्यक है। जगत्की अनन्त शक्तियोंके साथ अपनी क्षुद्र शक्तिका विरोध खड़ा करके, उनके ऊपर अपनी प्रधानता स्थापित करनेकी वृथा चेष्टा न करके, उनसे सख्य-संस्थापनपूर्वक उन्हींकी सहायतासे कर्तव्य-पालनकी चेष्टा करना ही कर्मोंके लिए एकमात्र अच्छा उपाय है। किन्तु बहुत ही कम लोग उस अच्छे उपायको काममें लाते देखे जाते हैं। तो फिर क्या यह सृष्टि विडम्बनामूलक है, और मनुष्यका कर्म करना परमार्थलाभका विरोधी है? यह बात भी नहीं कही जा सकती। क्योंकि ऐसा कहना मानों विश्वनियन्ताके नियम पर अश्रद्धा दिखाना है। असल बात यह है कि संसारमें कर्म और कर्मोंकी गति क्रमशः बहुत धीरे धीरे सुपथकी ओर ही है। किन्तु धीरे धीरे होने पर भी वह ध्रुव अर्थात् निश्चितरूपसे सुपथमुखी है।